UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182318

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 P96V Accession No. H1273

Author त्रियाराज .

Title वेकि क्रिसन रुक्मणी री. 1953.

This book should be returned on or before the date last marked below.

वेलि क्रिसन रुकमणी री

राठौड़राज प्रिथीराज री कही

सम्पादक

आनन्दप्रकाश दीक्षित,

एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत), साहित्य-रत्न

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, सेण्ट एण्ड्रूज कालेज, गोरखपुर

विश्वविद्यालय प्रकाशन

गोरखपुर

प्रकाशक

पुरुषोत्तमदास मोदी, एम० ए०

विश्वविद्यालय प्रकाशन

नखास चौक, गोरखपुर

प्रथम संस्करण, एक हजार

मई १९५३

मूल्य पाँच रुपया

मुद्रक

पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,

भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

समर्पण

प्रिये,

तुम जीवन में वासन्ती बयार हो। तुम्हारा साहचर्य कर्मक्षेत्र में
उतरने की प्रेरणा देता है। तुम्हारे उल्लास से इंगित
पाकर मेरी सुप्त चेतना को जागरण का वरदान
प्राप्त होता है। अतएव भाव-वृन्त पर विकसित
यह पुष्प तुम्हारी भेंट है।

हमारे अन्य प्रकाशन

भारत दुर्दशा——संपादक, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१।)
चंद्रावली नाटिका——संपादक, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१।)
रीतिकालीन हिन्दी-कविता और सेनापति——प्रो० रामचंद्र तिवारी	२)
उत्तरा-समीक्षा——विष्णुदेव द्विवेदी	१।)
खजुराहो की शिल्प-कला——श्रीविद्यानिवास मिश्र	२)
हिन्दीगद्य की भूमिका——प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी	३।)
मुद्रिका (नाटक)——प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी	१।)
हिन्दी एकांकी——सम्पादक, प्रो० जगदीश गुप्त	३)
आधुनिक हिन्दी एकांकी——सम्पादक, प्रो० रामचरण महेन्द्र	२।)
उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा——प्रो० जगदीश गुप्त	५)
कामायनी के चार सर्ग——टीका तथा समीक्षा, प्रो० विष्णुदेव द्विवेदी	२)
प्रसाद साहित्य की भूमिका——प्रो० वी० बी० योहन तथा श्रीपुरुषोत्तमदास मोदी, एम० ए०	४)
प्रसाद साहित्य की प्रेरणा——प्रो० विष्णुदेव द्विवेदी	३)
अजातशत्रु समीक्षा——श्रीपुरुषोत्तमदास मोदी, एम० ए०	१।)
समाज मनोविज्ञान——डा० महादेव प्रसाद	७।)
राजनीतिक विचारधाराओं की प्रवृत्तियाँ——प्रो० कृष्णानंद	५)
मध्यकालीन काव्य साधना, खंड (१) प्रो० रामचन्द्र तिवारी	३)
मध्यकालीन काव्य साधना, खंड (२) प्रो० रामचंद्र तिवारी	३)
कला का अनुवाद (कहानी-संग्रह)——पं० माखनलाल चतुर्वेदी	३)

विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर

अनुक्रम

दो शब्द—डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' ७

आत्मकथन ९

१. **भूमिका—** १३–१७४

(१)

(१) पृथ्वीराज का जीवन तथा उनकी साहित्य-सेवा। १३
(२) वेलिकार की पूर्वकालीन तथा समसामयिक स्थिति। २३
(३) वेलि पर पूर्ववर्ती काव्य का प्रभाव तथा उसका स्वरूपविधान। २९
(४) राजस्थानी साहित्य और वेलि। ३६
(५) वेलि का नामकरण तथा वेलि-ग्रंथों की परम्परा। ४२
(६) वेलि का रचनाकाल। ४७

(२)

(१) वेलि की कथा का आधार :—
भागवत, विष्णुपुराण तथा हरिवंश। ५१
(२) वेलि की कथा। ५६
(३) वेलि का काव्य-स्वरूप। ५९
(४) वेलि का बहिरन्तर :—

१–शृंगार-रस। ६६
२–नखशिख-निरूपण। ८०
३–अन्य रस। ८४
४–रस-विरोध। ८५
५–अलंकार। ८८
६–शब्द प्रयोग। ९२
७–वयणसगाई। ९६
८–वेलियो गीत। ९७

(५) वेलि में प्रकृति-चित्रण। ९८
(६) वेलिकार की बहुज्ञता। ११०
(७) वेलि में भक्ति का स्वरूप। १२१

(३)

वेलि की तुलना :—१—भागवत तथा नन्ददास का रुक्मिणी-मंगल और वेलि। १२६
२—नरहरि कृत रुक्मिणी-मंगल। १४४
३—रघुराजसिंह देव कृत रुक्मिणी-परिणय। १५०
४—मराठी रुक्मिणी-हरण काव्य। १६३

२. **मूल-पाठ।** १–६२

३. **सरलार्थ।** ६३–१४०

दो शब्द

हिन्दी का क्षेत्र राजस्थान से लेकर बिहार तक और हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तक रहा है। इस भूमि की आवश्यकताओं, आशाओं, मान्यताओं, विचारणाओं एवं आदर्शों की प्रमुख वाहिका भी हिन्दी ही रही है। अन्य प्रादेशिक बोलियाँ साहित्यिक सुरुचि तथा निष्ठा हिन्दी से ही ग्रहण करती रही हैं। जब से हिन्दी ने विश्वविद्यालयों में उच्च कक्षाओं की पाठ-विधि में स्थान पाया है, तभी से उसके डिंगल, पिंगल, बिहारी आदि रूप अध्येताओं के सम्मुख आते रहे हैं। प्रस्तुत ग्रंथ—वेलि क्रिसन रुकमणी री—एम० ए० कक्षा के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में बहुत दिनों से स्थान पाता रहा है, परन्तु डिंगल में लिखे होने के कारण विद्यार्थियों को इसके समझने में प्रायः कठिनता का अनुभव होता रहा है। मेरी इच्छा थी कि इस ग्रंथ का एक सरल, सुबोध टिप्पणियों सहित संस्करण प्रस्तुत किया जाय, जिससे वेलि के अध्ययन में अध्येताओं को सुगमता हो और वे कवि के हृद्गत भावों का स्वारस्य प्राप्त कर सकें। हर्ष का विषय है कि प्रो० आनन्द प्रकाश जी दीक्षित मेरी इच्छा को सफल बनाने के लिये उद्यत हो गये। वे हिन्दी काव्य में रस-प्रक्रिया पर भी एक महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध तैयार कर रहे हैं और मेरा विश्वास है कि उनकी कृतियाँ मातृभाषा का भाण्डार भरने में अनुपम देन सिद्ध होंगी।

वेलि के सम्बन्ध में अभी तक जो खोज हुई है और उसके काव्यत्व पर जो प्रकाश पड़ा है, उसका उपयोग तो दीक्षित जी ने किया ही है, साथ ही पाठकों को इस ग्रंथ में उनकी नवीन खोज के भी दर्शन होंगे। वेलि की कथा का स्रोत, उसके काव्यरूप की पृष्ठभूमि, उसका विशेष दृष्टिकोण, अन्य भाषाओं

में लिखित रुक्मिणी-हरण-काव्यों से उसकी तुलना आदि कई विषय एकदम नवीन हैं। साथ ही वेलि का पाठ, उसकी टीका-टिप्पणियाँ तथा सारगर्भ भूमिका सबने मिलकर इस ग्रंथ की उपयोगिता का उत्कर्ष-वर्धन किया है। प्रस्तुत रूप में वेलि न केवल विद्यार्थियों के लिये प्रत्युत उन सभी सरस्वती-समाराधकों के लिये अतीव उपादेय बन गई है जो डिंगल साहित्य में अभि-रुचि रखते हैं। मैं प्रो० आनन्द प्रकाश जी दीक्षित को वेलि का ऐसा सुन्दर संस्करण निकालने के लिये बधाई देता हूँ।

डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम', एम.ए., पी-एच. डी.
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
डी. ए. वी. कालेज, कानपुर।

मकर संक्रान्ति २००९

आत्म-कथन

पृथ्वीराज के समसामयिक चारण कवियों के लिये वेलि पाँचवाँ वेद है, अमृत-वेलि है। वेलि के सम्पादक टैसीटरी के शब्दों में पृथ्वीराज अपनी ओज-स्विनी कविता के लिये डिंगल के कवि होरेस (Horace) हैं। टॉड जैसे इतिहासकार को उनकी कविता में दस सहस्र घोड़ों का बल स्वीकार करने में गर्व का अनुभव होता है। श्रीयुत सूर्यकरण पारीक उन्हें हिन्दी का भवभूति मानते हैं और श्रीयुत मोतीलाल मेनारिया को उनकी उपमाएँ होमर (Homer) की उपमाओं के समान लगती हैं, तथापि हिन्दी के पुराने इतिहासकार मिश्र-बन्धुओं के लिये वे साधारण कोटि के कवि हैं, शिवसिंहसरोज के लेखक के लिये वे केवल संस्कृत के विद्वान् हैं। इस प्रकार की विरोधी आलोचनाओं में निहित सत्यासत्य की जिज्ञासा ने विद्यार्थी-काल के पश्चात् भी मुझे वेलि के अध्ययन, मनन और चिन्तन में प्रवृत्त रखा है। इस चेष्टा से अध्ययन करते करते वेलि-काव्य की चुम्बक-शक्ति ने मुझे अधिकाधिक आकर्षित किया है। सहज ही मेरी प्रवृत्ति अन्य भाषाओं के रुक्मिणी-सम्बन्धी ग्रंथों के अध्ययन की ओर भी हुई और मैंने पाया कि वेलि हिन्दी की ही नहीं भारत की गिनी चुनी अमूल्य काव्य-रचनाओं में से एक है। इस विश्वास की वृद्धि के साथ साथ मेरा यह खेद भी बढ़ता गया कि ऐसे ग्रंथ तथा ग्रंथकार के विषय में हिन्दी के पाठक और आलोचक अभी बहुत कुछ अन्धकार में हैं और जो कुछ जान पाये हैं वह अत्यन्त अल्प है। डा० टैसीटरी तथा श्री रामसिंह जी एवं सूर्यकरण जी पारीक के द्वारा सम्पादित वेलि के संस्करणों में उसके सम्बन्ध में ज्ञातव्य बहुत सी अच्छी सामग्री प्रस्तुत होने पर भी मुझे उनमें तुलनात्मक दृष्टि की न्यूनता, वेलि के काव्य-सौष्ठव पर विस्तृत विचार की कमी तथा सर्व-सामान्य के लिये उन संस्करणों की अनुपलब्धि खटकी। अतएव मैंने वेलि के अन्यान्य अंगों पर विस्तृत विचार प्रस्तुत करते हुए मूल पाठ के साथ सरलार्थ तथा टिप्पणी आदि से सुसज्जित संस्करण प्रस्तुत करने का विचार किया। इधर

आचार्य मुंशीराम जी शर्मा, 'सोम' एम० ए०, पी-एच० डी० की ओर से प्रेरक पत्र मिला—'स्रस्तधनु अर्जुन की भाँति शिथिलतनु होकर नहीं बैठना है।' फलस्वरूप अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित करके मैं गत कई मास से बिखरी हुई सामग्री के संचय और संयोजन में लगा। वेलि का यह संस्करण उसी यत्न का परिणाम है।

वेलि के प्रस्तुत संस्करण में मैंने अन्य संस्करणों से सहायता लेने के साथ साथ उनसे कहीं अधिक सामग्री पाठकों को भेंट करने की चेष्टा की है। वेलि के नामकरण और वेलि-ग्रंथों की परम्परा तथा मराठी के रुक्मिणी-हरण काव्यों की चर्चा हिन्दी के लिये मैंने पहली बार प्रस्तुत की है। वेलि की पृष्ठभूमि में भागवत, हरिवंश तथा विष्णुपुराण की तत्सम्बन्धी कथा का वर्णन भी मेरी ओर से ही किया गया है। अभी तक केवल, संकेत से, भागवत का नाम लिया जाता रहा है। अन्य पुराणों का अध्ययन मैंने पहली बार प्रस्तुत किया है। वेलि के रचनाकाल पर भी मैंने मेनारिया जी के पश्चात् पहली बार विचार अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। अन्य सम्पादकों ने इन प्रश्नों को उठाया ही नहीं। नन्ददास तथा नरहरि के 'रुक्मिणी-मंगल' एवं रघुराजसिंह देव के 'रुक्मिणी-परिणय' से वेलि की तुलना भी मेरी ओर से ही हिन्दी के पाठकों के सम्मुख पहली बार प्रस्तुत की जा रही है। वेलि में हिन्दी तथा राजस्थानी के पूर्ववर्ती काव्यों की समस्त प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब देखने की चेष्टा भी बहुत कुछ नई है तथा शास्त्रीय ढंग से वेलिगत शृंगार-रस का सविस्तर वर्णन भी अन्य किसी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं हो सकेगा। अभिप्राय यह कि प्रस्तुत संस्करण पूर्ववर्ती संस्करणों से लाभान्वित होते हुए भी उनसे कहीं अधिक सामग्री प्रस्तुत करने की चेष्टा से ही प्रकाशित किया जा रहा है। मेरा विश्वास है कि सहृदय पाठकों को इस संस्करण से बहुत सी पठनीय सामग्री मिल जायगी और संभव है नवीन दिशा की ओर संकेत भी मिल सके। कुछ त्रुटियाँ अथवा कतिपय न्यूनताएँ सर्वथा संभव हैं, किन्तु विद्वानों द्वारा उनका निर्देश पाकर भविष्य में उनका मार्जन भी असंभव नहीं है। ग्रंथ को बृहदाकार न बना देने की चेष्टा तथा अन्य कारणों से भी अभी कुछ और बातों पर यहाँ विचार करना संभव न हो सका, किन्तु मुझे आशा है कि इस रूप में भी यह ग्रंथ उपयोगी सिद्ध हो सकेगा, और आवश्यकतानुसार भविष्य में इसका परिष्कार भी किया जा सकेगा। अभी तो विद्वानों के शुभाशीष की ही आकांक्षा है।

इस ग्रंथ के सम्पादन में मैंने हिन्दुस्तानी एकेडेमी के पाठ तथा अर्थों का साहाय्य लिया है। वही ग्रंथ अनेकानेक विश्वविद्यालयों द्वारा मूलपाठ के लिये स्वीकृत भी है, अतएव पाठ के लिये उसका उपयोग ही अनिवार्य समझा गया। अर्थों में संस्कृत तथा अन्य टीकाओं की भी सहायता ली गई है। इसके अतिरिक्त आलोचना करते समय विशेषतः जिन पुस्तकों से सहायता ली गई है उनमें टॉड का 'एनल्स आव राजस्थान' मोतीलाल जी मेनारिया के 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' तथा 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' और 'डिंगल में वीर-रस' डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास मेनारिया जी द्वारा सम्पादित' 'राजस्थानी में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज', प्रथम भाग, डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल का थीसिस 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि'; भक्तमाल, शिवसिंहसरोज, मिश्रबन्धुविनोद, विष्णुपुराण, भागवत, नरहरि तथा नन्ददास का 'रुक्मिणी-मंगल' रघुराजसिंहजी देव का 'रुक्मिणी-परिणय' हरिवंश पुराण, स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी-साहित्य का इतिहास, तथा मराठी के इतिहास एवं एकनाथ, सामराज आदि के काव्य-ग्रंथ यहाँ उल्लेखनीय हैं।

इस विषय में सहायता के लिये श्रीयुत डा० 'सोम', नागपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्रीयुत पं० विनयमोहनजी शर्मा, लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के रीडर श्रीयुत डा० भगीरथ मिश्र तथा प्रयाग विश्वविद्यालय के डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय जी का विशेष अनुगृहीत हूँ। मेरी पत्नी श्रीमती कमला दीक्षित, एम० ए०, ने प्रतिलिपि करने, विचार करने और सुझाव देने में जो सहायता की है, उसके प्रति कृतज्ञता कैसे प्रकट करूँ। इन सभी की सहायता के बिना यह ग्रंथ जिस रूप में है, ऐसा प्रस्तुत न किया जा सकता, इतना निश्चित है। मैं सबके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। साथ ही पुस्तक के प्रकाशक महोदय के प्रति भी धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने हिन्दी के विद्वानों तथा विद्यार्थियों के सम्मुख–सुलभ संस्करण प्रस्तुत करने में मेरी सहायता की।

विद्वज्जन-कृपाभिलाषी—

आनन्द प्रकाश दीक्षित

हिन्दी-विभाग,

सेण्ट एण्ड्रूज कालेज, गोरखपुर, उ०प्र०।

वेलि की संस्तुति

(१) समकालीन चारण कवि आढ़ा जी दुरसा कृत प्रशंसा :—

रुकमणि गुण लखण रूप गुण रचावण। वेलि तासु कुण करै बखाण।
पाँचमौ वेद भाख्यौ पीथळ। पुणियौ उगणीसवों पुराण॥

(२) किसी अन्य राजस्थानी कवि कृत प्रशंसा :—

वेद बीज जल विमल, सकति जिण रोपी सद्धर।
पत्र दोहा गुण पुहप, वास लोभी लखमीवर।
पसरी दीप प्रदीप, अधिक गहरी आडम्बर।
जिके शुद्ध मन जपै, तेउ फल पामें अम्मर।
विस्तार कीध जुगजुग विमल, धन्य कृष्ण कहणार धन।
अमृत वेलि पीथल अचल, तैं रोपी कल्याण तन।

(३) केवल भगत अथाह कलावत, तैं जु क्रिसन-त्री गुण तवियौ।
चिहुँ पाँचमो वेद चालवियौ, नव दूणम गति नीगमियौ।
मैं कहियो हर भगतप्रिथीमल, अगम अगोचर अति अचड़।
व्यास तणा भाखिया समोवड़, ब्रह्म तणा भाखिया वड़॥

(४) डाक्टर एल० पी० टैसीटरी कृत प्रशंसा :—

"राठौड़ पृथ्वीराज, बीकानेर, द्वारा रचित 'वेलि-क्रिसन रुकमणी री' राजस्थानी साहित्य रूपी रत्न-गर्भा खान के अत्यन्त देदीप्यमान रत्नों में एक श्रेष्ठ रत्न है। अकबर बादशाह के चमत्कारपूर्ण जमाने में निर्मित हुई राजस्थानी कविता-क्षेत्र की इस सर्वोत्कृष्ट रचना को उस समय से अब तक के साहित्य के समालोचकों और निर्णायकों ने सर्वसम्मति से काव्य में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया है।—डिंगल साहित्य की यह सर्वांगसम्पूर्ण कृति है। काव्य-कला की दक्षता का एक विचक्षण नमूना है; जिसमें, आगरे के ताजमहल की तरह, भाव की एकाग्र सहजता के साथ अनेकानेक काव्य-गुण-विस्तार का सुखद सम्मिश्रण हुआ है और जिस रस और भाव का सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य और काव्य के बाह्य आकार की निष्कलंक शुद्धता को जाज्वल्यमान स्वरूप में प्रदर्शित करता है।"—पारीक जी द्वारा अनुवादित।

भूमिका

पृथ्वीराज का जीवन तथा उनकी साहित्य-सेवा

हिन्दू-वैभव के सान्ध्य-काल में जब विदेशी सत्ता देश को पदमर्दित और देशी राजाओं को भू-लुण्ठित करके अपनी विजय-पताका फहराकर नौरोज़ के जश्न मनाने और सौन्दर्य-तृष्णा की शान्ति के लिये मीनाबाज़ार सजाने में लगी हुई थी और उनके गर्वोन्नत मस्तक को झुका देने की शक्ति रखकर भी अपनी फूट, गृह-कलह, अविश्वास तथा मिथ्यादम्भ के कारण राजपूती तलवार या तो जंग खाने लगी थी अथवा शाही सेना के सैनिक की संगिनी बनकर अपने ही भाइयों का शिर उतार लेने के लिये जबतब लपलपा उठती थी, ऐसे समय अपने देश, अपनी जाति तथा अपने मान, अपनी आन और अपनी शान पर मर मिटने वाले, विदेशी-सत्ता के साथ रहकर भी निर्भीक भाव से उसका तिरस्कार करने वाले, देश के गौरव से गौरवान्वित, राजपूती रक्त की ओजस्विता से ओजयुत, राठौड़ वंशावतंस, शील, विनम्रता, वीरता और धीरता की मूर्ति पृथ्वीराज का जन्म, पालन और वर्द्धन हुआ था। वह समय था मुगल-सत्ता के मध्याह्न का, जिसके प्रचण्ड ताप में हिन्दू-शक्ति हिम की भाँति गलकर बही जा रही थी। फिर भी कभी कभी विद्रोह का, हिन्दू आत्मगौरव तथा सम्मान का स्वर अकबर जैसे प्रतापी मुगल सम्राट् को चकित और भ्रमित कर दिया करता था। अपने गौरव और स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने अथवा प्राप्त की रक्षा करने का प्रयत्न करते हुए शाही तलवार को भी कुण्ठित कर देने का साहस, बल और पराक्रम लेकर बीकानेर और चित्तौर की दो अग्निवाहक शक्तियाँ देश में चेतना फूँकने का अदम्य प्रयत्न कर रही थीं। यह शक्तियाँ थीं महाराणा प्रताप तथा हमारे चरित्र-नायक के कनिष्ठ भ्राता रामसिंह। ये लोग अकबरी सत्ता के विरुद्ध युद्ध की सिंगी अकबर से दूर रहकर फूँकते; किन्तु अकबर के समीप रहकर, उससे सम्मान और जागीर पाकर भी प्रताप के ताप और अकबर के उत्ताप का खुले शब्दों में बखान करने की शक्ति का प्रदर्शन करता था पीथल। पृथ्वीराज अपने काल में पीथल के नाम से ही विख्यात थे।

पीथल का जन्म बीकानेर के राजवंश में संवत् १६०६ में मार्गशीर्ष कृष्णा १ को हुआ था। आपके पिता का नाम था, रावकल्याणमल। आपसे बड़े भाई रायसिंह ही राज्याधिकारी हुए और छोटा भाई रामसिंह अकबरी शान के प्रति विद्रोह का झंडा लेकर आजन्म घूमता रहा और उसीके लिये उसने वीरगति भी पाई। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने अपनी थीसिस 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' में ४१ पृ० पर पृथ्वीराज को महाराजा जयसिंह का छोटा भाई बताया है। कहा नहीं जा सकता यह उल्लेख उन्हें कहाँ से मिला।

पृथ्वीराज अपनी निर्भीकता, स्वाभिमान-रक्षा, विद्वत्ता, वीरता तथा धर्मनिष्ठता के लिये अपने समय से ही सम्मानित रहे। आपको अकबर अपने साथ ही रखता था। अकबर के द्वारा दिये गये इस सामीप्य को बड़ा महत्वपूर्ण समझते हुए कुछ विद्वानों ने लिखा है कि ये अकबर के बड़े कृपापात्र थे। मेनारिया जी का कहना है कि "पृथ्वीराज मुगल सम्राट् अकबर के बड़े कृपा-पात्र थे और प्रायः शाही दरबार में रहा करते थे। 'मुहणोत नैणसी की ख्यात' से पता लगता है कि बादशाह ने इन्हें गागरौन का किला दिया था जो बहुत समय तक इनकी जागीर में रहा।"—रा० भाषा और सा०, पृ० १२२। किन्तु उन्होंने यह लिखते हुए इस बात को बिल्कुल भुला दिया ज्ञात होता है कि अकबर के राज्य का वर्णन करने वाला 'आईन अकबरी' ग्रंथ, जो अकबर के ही दरबारी द्वारा लिखा गया है तथा जिसका लेखक पृथ्वीराज का समकालीन था, पृथ्वीराज का उल्लेख बड़े मामूली ढंग से एक दो बार ही हुआ है। यदि ये अकबर के 'बड़े' अर्थात् विशेष कृपापात्र रहे होते तो इनका वर्णन इस उपेक्षा से न किया जा सकता। दूसरे, सांया चारण के 'रुक्मिणी-हरण' की तुलना में 'वेलि' को हीन बताना भी यदि सच हो तो उससे भी अकबर की, इनके प्रति, उपेक्षा की ही पुष्टि होती है। इतिहासकार टॉड ने पृथ्वीराज को महाराणा प्रताप का पत्र दिखाने के समय उसके पीछे छिपे हुए अकबर के तिरस्कार पूर्ण व्यव-हार को मापते हुए लिखा है कि :—"महाराणा प्रताप के पत्र से आत्मसमर्पण का संकेत पाकर सम्राट् ने सामूहिक उत्सवों की आज्ञा दी तथा अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक यह पत्र पृथ्वीराज को, जो विवश भाव से अकबर के विजय-रथ का अनुगमन करने के लिये बाध्य हो गये थे दिखाया।" मेनारिया जी ने इस कथा पर

भी ध्यान नहीं दिया, जो पृथ्वीराज की पत्नी तथा अकबरशाह के बीच मीना-बाजार के दिन घटित हुई थी, और जिसका उल्लेख टॉड ने अपने ग्रंथ में बड़े उत्साह से किया है। ऐसी घटना घटित होने पर भी पृथ्वीराज पर अकबर की कुदृष्टि न होकर अनुकूल दृष्टि ही बनी रही होगी, यह संभव नहीं प्रतीत होता। अतएव यदि पृथ्वीराज को गागरौन का किला दिया गया अथवा उनको अपने समीप रखा गया तो निश्चय ही केवल कूटनीति के रूप में, कृपालुता के अथवा प्रीति के कारण नहीं। पृथ्वीराज की निर्भीकता तथा आत्मसम्मान की भावना से कूटनीतिज्ञ अकबर सदैव सशंक और भयभीत बना रहा होगा, जिसके कारण उसने इन्हें अपने पास ही रखना उचित समझा। यदि वह इन्हें अपने से दूर रखता तो संभव था कि महाराणा के समान ही यह भी विद्रोह को तीव्र करने में सहायता प्रदान करते। इसी कारण उसने इन्हें सं० १६३८ में अपने विद्रोही भाई मिरजा हकीम के विरुद्ध काबुल तथा १६५३ में अहमदनगर के युद्ध में सेना का भार देकर भेजा। यह भी हो सकता है कि पृथ्वीराज को दृढ़ और विश्वसनीय जानकर अकबर ने विद्रोह की भावना से आशंकित रहकर भी इन्हें इन युद्धों में केवल इसलिये भेज दिया हो कि ये वहाँ मारे जाँय। अकबर के ये बड़े कृपापात्र रहे हों, यह इसलिये भी असंभव दिखाई देता है कि इनके कनिष्ठ भ्राता रामसिंह अकबर के विरोध में विद्रोह की आग सुलगाते फिरते थे और पृथ्वीराज उसकी प्रशंसा करते थे। अतएव अकबर कितना भी उदार रहा हो, अपने शत्रु के प्रशंसक तथा उसके भाई से वह मन ही मन कुछ खीझा हुआ अवश्य रहता रहा होगा।

पृथ्वीराज अपनी वीरता, साहस, नीतिकुशलता, स्वदेशाभिमान तथा भक्ति के लिये समकालीन समाज में विख्यात थे और साथ ही इनकी विद्वत्ता की भी धाक थी। आपकी विद्वत्ता की चर्चा का सप्रमाण उल्लेख हमने इसी पुस्तक में अन्यत्र किया है।

पृथ्वीराज की निर्भीकता का प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि उन्होंने अकबर के समीप रहकर भी हिन्दुत्व की रक्षा के लिये राणा को उत्साहित किया और, अपनी प्रतिष्ठा को भूलकर आत्मसमर्पण करते हुए, राणा को एक पत्र लिखकर ही वीरोत्साह की सजगता से भर दिया। उनके इस पत्र की

प्रशंसा करते हुए टॉड ने कहा है कि उसमें 'दश सहस्र घोड़ों का वल था'। टॉड को यह स्वीकार करने में कोई लज्जा नहीं कि पृथ्वीराज की 'उस बलवती कविता का केवल अनुभव ही किया जा सकता है, अनुवाद करने में उसकी प्राणवत्ता नष्ट हो जायगी।'

पृथ्वीराज को, सौभाग्य से, अपने ही समान वीर, साहसी निर्भय, तथा आत्मसम्मानी पत्नी भी मिली थी। मीनाबाजार से उसके अपहरण और अकबर का उसके साहस के सामने आतंकित हो जाना केवल इतिहास के पन्ने पर लिखी हुई कथा नहीं रह गई है। बल्कि अकबर या पृथ्वीराज के विषय में कुछ भी जानने वाला प्रत्येक पाठक उस कथा को अपने कण्ठ में बसाये हुए है। टॉड ने उस कथा को भी बड़े उत्साह पूर्वक लिखा है। लगता है जैसे टॉड स्वयं उस वीरपत्नी की वीरता पर मुग्ध और चकित हो गये है।

भक्ति के विषय में भी पृथ्वीराज को उसी समय इतनी प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी कि 'भक्तमाल' के लेखक नाभादास जी ने उनको भी श्रेष्ठ भक्तों में स्थान दिया है। 'भक्तमाल' का यह उद्धरण हमने उनकी वेलि में भक्ति की चर्चा करते हुए दिया है। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज की भक्ति के सम्बन्ध में कई किम्वदन्तियों का उल्लेख किया जाता है। कहा जाता है कि ये अपने इष्ट-देव की मानसी पूजा किया करते थे और अकबर को इनकी सिद्धि पर विश्वास भी था। कहते हैं एक बार आगरे में ही इन्होंने यह बता दिया था कि उसी समय बीकानेर में इनके इष्टदेव की सवारी नगर-कीर्तन के लिये निकल रही थी। इनकी भक्ति-विषयक एक और भी कहानी प्रचलित है। कहा जाता है कि 'वेलि' को पूरा करने के पश्चात् आप अपने इष्टदेव के दर्शन करने के लिये द्वारिका जी की ओर चले। मार्ग में जहाँ यह एक बार ठहरे थे वहीं एक धनाढ्य भी अपना डेरा लगाकर ठहरा और उसकी प्रार्थना पर आपने उसे रात्रि को 'वेलि' सुनाई। प्रातःकाल जब ये आगे चले तो 'वेलि' को भूल गये मार्ग में इन्हें स्मरण आया तो एक सवार को दौड़ाया कि वह उस व्यापारी से 'वेलि' ले आवे, जो रात्रि में उसी के यहाँ रह गई थी। सवार ने उस स्थल को जाकर देखा तो आश्चर्य-चकित रह गया। न वहाँ व्यापारी था और न उसके खेमे आदि का कोई चिह्न। हाँ, पृथ्वीराज के खेमे आदि का चिह्न ज्यों का

त्यों था। सवार की सूचना पर पृथ्वीराज ने स्वयं आकर उस स्थल को देखा और समझ गये कि यह अद्‌भुत व्यापार भगवान के अतिरिक्त किसी का नहीं है। इतने में ही 'वेलि' निकट के एक तुलसी के पौदे पर सुरक्षित रखी दिखाई दी। महाराज ने भगवान की इस कृपा के लिये कि वे स्वयं ही दर्शन देने पधारे, प्रभु को नमस्कार किया और अपने सौभाग्य को सराहा।

इसी प्रकार की एक आश्चर्यजनक कथा इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में भी कही जाती है। अकबर ने यह सोचकर कि इनके वश में कोई पीर है, इनसे इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि "पृथ्वीराज, बताओ तुम्हारी मृत्यु कब और कहाँ होगी ?" महाराज ने उत्तर दिया "मथुरा के विश्रान्त घाट पर। उस समय वहाँ दो सफेद कौए उपस्थित होंगे।" अकबर ने इनकी यह बात झूठी प्रमाणित करने के विचार से इन्हें अटक के पार किसी काम से भेज दिया। पाँच महीने बीत पाये थे कि अकबर के दरबार में एक व्यक्ति ने ऐसे चकवा-चकवी लाकर दिये जो मनुष्य की वाणी में बात कर सकते थे। अकबर ने प्रसन्न होकर कहा कि यद्यपि भील ने इन्हें शत्रुता से बेचने के लिये पकड़ा था, परन्तु ऐसे शत्रु पर तो करोड़ों मित्र भी न्योछावर हैं। नवाब खानखाना ने, जो उस समय वहाँ उपस्थित थे, इसी उक्ति को पद्यबद्ध करते हुए कहा :— 'सज्जन वारूँ कोड़धां, या दुर्जन की भेंट।' किन्तु इससे आगे वे छन्द पूरा न कर सके। फलतः पृथ्वीराज को बुलवाया गया। पृथ्वीराज पन्द्रहवें दिन मथुरा पहुँचे किन्तु मृत्यु की घड़ी जानकर वे आगे नहीं गये और बादशाह के लिये एक पत्र लिखकर दिया। कहते हैं, अकबर के पास जाने से पूर्व ही हरकारे ने देखा कि पृथ्वीराज ने बहुत दानपुण्य करके विश्रान्तघाट पर अपना शरीर छोड़ दिया और उसी समय वहाँ सफेद कौआ भी आया। पृथ्वीराज की मृत्यु की इस घटना ने अकबर तथा उसके अन्य साथियों को चकित कर दिया। अकबर के नाम जो पत्र पृथ्वीराज ने भेजा था उसमें पूर्ति करते हुए यह पंक्ति भी लिखी थी—रजनी का भेला किया, वेह का अक्षर मेंट।

इस घटना का चाहे कोई महत्व हो या न हो इतना अवश्य सूचित होता है कि पृथ्वीराज की मृत्यु मथुरा के विश्रान्तघाट पर हुई थी। इनकी मृत्यु की यह घटना सं० १६५७ की बताई जाती है। यह भी बताया जाता है कि

इनकी मृत्यु से दुखी होकर अकबर ने खेदपूर्वक कहा :—

पीथल सूँ मजलिस गई, तानसेन सूँ राग।
रीझ बोल हँसि खेलबो, गयो बीरबल साथ ॥

जिससे पता लगता है कि पृथ्वीराज का, मजलिस की रौनक और प्रतिष्ठा बनाये रखने में, बड़ा महत्वपूर्ण हाथ था।

पृथ्वीराज की मृत्यु के सम्बन्ध में एक अन्य घटना का पता 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' से भी लगता है। घटना का वर्णन इस प्रकार है:—

"पृथ्वीसिंघ ने ऐंसो नेम लियों जो ब्रज में वास करनो, ब्रज में देह छोड़नी या बात की खबर पृथ्वीसिंघ जी के शत्रुनकूँ पड़ी सो विननें दिल्ली पतीकुँ सिखायो याकुँ कहुँ दूर पठावें तो ठीक। तब दिल्लीपतीनें पृथ्वीसिंघ जी कूँ मुहिम पर पठाये तौ उहाँ बहुत मुलक जीते। तब उहाँ पृथ्वीसिंघ जी को काल आयो तब पृथ्वीसिंघ जी ने कालतें कही में ब्रज में देह छोड़ूंगो, तब काल हट गयो। तब पृथ्वीसिंघ जी साँडनी में बैठकर उहाँसे सौ दिन में मथुरा आये और बीच में नदी और पर्वत बहुत हते परन्तु कोई ठिकाने पृथ्वीसिंघकुँ प्रतिबन्ध न भयो। ब्रज में आय के श्रीनाथ जी के दर्शन करके यमुना पान कर के देह छोड़ दीनी।" इससे भी उनकी मृत्यु मथुरा में होने की पुष्टि होती है, भले ही अन्य घटना की न हो।

विद्वानों ने पृथ्वीराज के दो विवाहों का उल्लेख किया है। इनकी पहली पत्नी का नाम लालादे था, जो परम सुन्दरी और सहृदया थी। उसकी अकाल-मृत्यु हो जाने पर इन्होंने जैसलमेर के रावल हरराज की कन्या चांपादे से विवाह किया। रूप-गुण तथा रसज्ञता में यह स्वर्गीय लालादे से भी बढ़कर निकली और पृथ्वीराज धीरे धीरे लालादे के अभाव को भूल गये। अन्य गुणों के अतिरिक्त चांपादे की बड़ी भारी विशेषता थी, उसकी काव्य-रचना-कुशलता। दोनों का जीवन बड़े ही सुखमय रूप में व्यतीत हुआ। उनके मधुर जीवन की झाँकी देने के विचार से मेनारिया जी द्वारा निम्न घटना का वर्णन किया गया है :—

एक दिन पृथ्वीराज सामने दर्पण रखकर अपने बालों में कंघी कर रहे थे कि उन्हें दाढ़ी में एक सफेद बाल दीख पड़ा। उसे उन्होंने उखाड़ कर फेंक

दिया, पर पीठ पीछे खड़ी हुई चांपादे यह लीला देख रही थी। वह चुपके से दो कदम पीछे हट गई और मुंह फेर कर हँसने लगी। उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में देखकर पृथ्वीराज ने पीछे देखा और फिर लज्जा विमिश्रित स्वर से बोले—

पीथल धोला आविया, बहुली लग्गी खोड़।
कामण मत्तगयंद ज्यों, ऊभी मुक्ख मरोड़॥

पृथ्वीराज की ग्लानि मिटाने के अभिप्राय से चांपादे ने भी कविता का उत्तर कविता में यों दिया :—

हळ तौ धूना धोरियाँ, पंथज गग्धाँ पाव।
नराँ, तुराँ, अरु वन फलां, पक्काँ पक्काँ साव॥

चम्पादे की कविता तथा पृथ्वीराज के उत्तर का एक प्रसंग और भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि अकबर के विरुद्ध महाराणा के प्रति पक्षपात की बात सुनकर चम्पादे ने चिन्तित होकर इनके पास यह लिख भेजा :—

पति जिद की पतशाह सूं यहै सुणी में आज।
कंह पातल अकबर कहाँ, करियो बड़ो अकाज॥

इस पर पृथ्वीराज ने उत्तर दिया :—

जब ते सुने हैं बैन, तब ते न मोकौ चैन,
पाती पढ़ि नेक सो न बिलम्ब लगावेगो।
लैके जमदूत से समत्थ राजपूत आज,
आगरे में आठों याम ऊधम मचावेगो।
कहै पृथ्वीराज प्रिया नेकु उर धीर धरो,
चिरजीवी राना सो मलेच्छन भगावेगो।
मन को मरद्द मानी प्रबल प्रतापसिंह,
बब्बर ज्यों तड़प अकब्बर पै आवेगो।

स्पष्ट है कि पृथ्वीराज के हृदय में महाराणा के प्रति असीम श्रद्धा थी और वह अपनी विवशता के कारण ही अकबर के दरबार में टिके हुए थे। किन्तु वहाँ रहकर भी वे चैन से नहीं बैठते थे। हिन्दू-मर्यादा और गौरव की रक्षा के लिये वे सतत प्रयत्नशील रहते थे और अकबर को भी समय पड़ने पर मुँह तोड़ जवाब दिये बिना न रहते थे। साथ ही अपना अग्निस्वर महाराणा तथा उनके

समर्थकों को सुनाने में भी नहीं झिझकते थे, बल्कि निर्भय भाव से स्पष्ट घोषणा करते हुए अकबर के ही मुँह पर प्रताप की प्रशंसा करते थे। यदि अकबर के साथ रहकर भी इस प्रकार के स्वाभिमान की रक्षा का भाव किसी अन्य व्यक्ति में जागृत था तो वह थे दुरसा जी आढ़ा, जिनकी वाणी भी उतनी ही पैनी मार करके अकबर का गर्व चूर करती थी। पृथ्वीराज की ओज-बल पूर्ण कविताओं की समता यदि कोई कर सकता था तो दुरसा जी। दोनों देशभक्त अपनी कविता के द्वारा शत्रु के डेरे में रहकर भी देश में जीवन की आग बरसा रहे थे। उनमें राष्ट्रीय-कवि के प्राण बोलते थे। एक ओर उनके बिना मजलिस सूनी हो जाती थी, दूसरी ओर उनके बिना वीरकविता में प्राणों की दीप्ति का आभास मिलना कठिन जान पड़ता। एक ओर वे संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषाओं के पूर्ण पण्डित और प्रसिद्ध भक्त थे, दूसरी ओर उनकी रसिकता और संगीतप्रियता मे भी कमी न थी। युद्ध के मैदान में वे एक योग्य सेना-नायक थे, घर के क्षेत्र में एक अच्छे पति। उनका विद्यानुराग, शौर्य और उनका धर्म एक साथ ही उन्हें ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी का महत्व प्रदान करते थे। उनकी वीररस पूर्ण प्रबल कविताओं के कारण टैसीटरी को उन्हें 'डिंगल का होरेस' कहना उचित जान पड़ा और टॉड ने उनके ओजबल से चकित रहकर उनकी कविता में दश सहस्र घोड़ों का बल बताया। इन सब प्रशंसाओं का कारण इनकी 'वेलि' तो है ही, इनके अन्य काव्य भी हैं।

पृथ्वीराज की अन्य रचनाएँ

पृथ्वीराज के नाम से राजस्थान में डिंगल तथा पिंगल की अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इनकी 'वेलि' की तो अनेक प्रतिलिपियाँ जहाँ तहाँ के पुस्त-कालयों में सुरक्षित हैं। मेनारिया जी का कहना है कि 'राजस्थानी का यही एक ऐसा ग्रंथ है जिसकी टीकाएँ भी उपलब्ध होती हैं।' 'वेलि' की टीकाएँ न केवल राजस्थानी में मिलती हैं, बल्कि संस्कृत में भी टीका होने का गौरव इस ग्रंथ को प्राप्त है। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज के नाम पर 'प्रेमदीपिका' तथा 'श्यामलता' नामक दो अन्य प्रबन्ध भी बताये जाते हैं। 'दशरथ रावउत', 'वसुदेव रावउत' तथा 'गंगालहरी' भी इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इनमें से 'प्रेमदीपिका'

का उल्लेख मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' के प्रथम भाग में किया है। यह रचना कृष्ण तथा राधा के प्रेम को लेकर ब्रजभाषा में लिखी गई है। इसका वह पद इस प्रकार है :—

प्रेम इकंगी नेम प्रीति गोपिन को गायौ।
बचनन बिरह बिलाप सखी ताकी छबि छायौ॥
ग्यान योग बैराग मधुर उपदेसन भाख्यौ।
भक्तिभाव अभिलाख मुख्य बनितन मनु राख्यौ॥
बहुबिधि बियोग संयोग सुख सकल भाव समुझै भगत।
यह अद्भुत प्रेम प्रदीपिका कहि अनंत उद्दित जगत॥ १॥

इससे जान पड़ता है कि यह गोपियों के प्रेम तथा उनके संयोग वियोग के चित्रण के साथ साथ भक्तिभाव का ग्रंथ है। दूसरे ग्रंथ, 'श्यामलता', का उल्लेख डा० सरयू प्रसाद ने अपनी थीसिस में अन्य ग्रंथों के साथ किया है। किन्तु इस ग्रंथ के विषय में कोई परिचय आदि नहीं दिया। 'दशरथ रावउत,' श्री रामचन्द्र जी की स्तुति का ग्रन्थ है। यह दोहो में है, जिनकी कुल संख्या ५० है। 'बसुदेव रावउत,' भगवान कृष्ण की स्तुति में लिखी गई है। इसमें १६५ दोहें हैं। 'गंगालहरी' तो राजस्थान की एक प्रसिद्ध रचना ही है। यह भी दोहों में लिखी गई है। इन दोहों का पाठ आज भी राजस्थान में लोग किया करते हैं। 'गंगालहरी' के सम्बन्ध में पारीक जी का कथन है कि :—"अप्रकाशित पुस्तकाकार में 'गंगालहरी' के कुल दोहों में से ४८ भागीरथी उप-नाम से समायुक्त और लगभग ३० जाह्नवी और मन्दाकिनी के नाम से संयुक्त, उपलब्ध हुए हैं। इन ७८ दोहों के सम्बन्ध में हम सप्रमाण कह सकते हैं कि ये महाराज पृथ्वीराज की प्रामाणिक कृति है। ये दोहे सं० १६७९ में संकलित करके बुरहानपुर में लिखे गये थे और 'वेलि' की ढूंढाड़ी टीकावाली प्रति में सम्मलित कर दिये गये थे। कहते हैं, महाराज श्री सूरजसिंह जी बीकानेर-नरेश के स्तुति पाठ के निमित्त ये एकत्रित किये गये थे।" पृथ्वीराज के नाम से 'दसम भागवत रा दूहा' ग्रंथ भी उपलब्ध होता है, जिसमें १८४ दोहें हैं। इसका विषय भी कृष्ण-भक्ति ही है। यह शान्त-रस की बड़ी अनूठी रचना कही गई है। भाषा की प्रौढ़ता तथा परिमार्जन प्रशंसनीय है।

इन ग्रंथों के रहते तथा इनके प्रचार और प्रसार को देखते हुए डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन पूर्णतया युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता कि :— "इसी समय तुलसीदास लोक-शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाला राम का आदर्श जनता के सामने रख रहे थे। पृथ्वीराज प्रेम की मादकता का रसास्वादन कराने में तत्पर थे। यही कारण है कि प्रेम के सामने भक्ति के निर्वेदपूर्ण आदर्श रखने में वे असमर्थ रहे थे। उनकी वीरता और रसिकता उन्हें माला लेने के लिये बाध्य नहीं कर सकी।"—आ० हि० सा० का इतिहास, पृ० २५७। इस प्रकार की उक्ति का एकमात्र कारण है केवल 'वेलि' पर ही ध्यान रखना। पृथ्वीराज के जीवन की अन्य घटनाएँ और 'वेलि' का शील सभी कुछ उनकी भक्ति का ज्वलन्त प्रमाण है। यह कहा जा सकता है कि वेलिकार का 'वेलि' में कवि रूप प्रधान है। फिर भी वह शील को छोड़कर नहीं चला है। वह केवल प्रेम की मादकता का रसास्वादन कराने में ही तत्पर था यह हम स्वीकार करने में असमर्थ हैं। ऐसा कहना वेलिकार के समस्त जीवन को भुला देना है। हमारे विचार से वेलि भी उस परिस्थिति में एक प्राणदायिनी रचना है जिसने शील और लाज से आवरित लौकिक शृंगार की भूमि पर ही हमें भक्ति की तन्मयता तथा अपने व्यक्तित्व की रक्षा का बल प्रदान किया है। पृथ्वीराज को केवल शृंगारिक मादकता का कवि कहना उनका उसी प्रकार तिरस्कार करना है जैसा मिश्रबन्धुओं ने उन्हें 'साधारण कोटि का कवि' कहकर किया है। उनकी डिंगल की दोहे, सोरठे, छप्पय, गीत और साखरागीतों में बिखरी हुई कविता उनके सजग व्यक्तित्व और जाति के नेतृत्व करने की शक्ति का प्रबल प्रमाण है। पिंगल के छन्दों में बिखरी हुई सामग्री, रामकृष्ण तथा गंगा की स्तुति, वैराग्य, नीति आदि की रचनाएँ, जो आज प्रकीर्णक रूप में हैं, उनकी भक्ति और निर्लेपता के स्वर को ऊँचा करती हैं। चम्पादे जैसी कवि-पत्नी पाकर भी यदि पृथ्वीराज शृंगार की रचना में न फूट पड़ते तो और होता भी क्या। उन्होंने शृंगार की रचना की—यह कोई आपत्तिजनक बात नहीं हुई। क्योंकि उनकी रचना में बिहारी की सी अफीमी मादकता नहीं है, खुलकर खिला हुआ विलास नहीं है। उनके शृंगार में विशुद्ध प्रेम की स्थापना है, और है उसके सहारे भक्ति की चेष्टा। उनकी रुक्मिणी का विलास

विद्यापति की राधा का भोग नहीं है जिसका पठन-पाठन श्रोता और वक्ता दोनों को संकुचित कर देता हो। फिर उन पर प्रेम की मादकता का आस्वाद कराने का आरोप व्यर्थ ही है। श्रीयुत मेनारिया का विचार इस सम्बन्ध में पूर्णतया संगत प्रतीत होता है कि :—इनकी ये स्फुट रचनाएँ अपने युग की अनुभूति को प्रत्यक्ष करती हैं और इनमें अकबर के आतंक के नीचे कराहती हुई हिन्दू जनता की दर्द भरी पुकार साफ सुनाई पड़ती है। इनमें असाधारण बल, प्रचण्ड प्रवाह एवं अद्भुत तेज है और एक खास प्रकार का व्यंग्य भी है जो चोट करने के साथ साथ ही सावधान भी करता है।—रा० भाषा और सा०, पृ० १३०।

वेलिकार की पूर्वकालीन तथा समसामयिक स्थिति

वेलिकार का जन्म राजपूत राजवंश में तथा वर्द्धन राजनीति तथा धर्म की भूमि पर हुआ था। राजपूत कुल से उन्होंने ओज और बल की जीवनी-शक्ति प्राप्त की थी और राजनीति तथा धर्म ने उन्हें जीवन-मार्ग दिखाया था। बल-वीर्य के सहारे वे अपने सम्मान तथा राजपूती आन-बान की रक्षा में तत्पर थे और ओजस्वी वाणी से निर्भीकता पूर्वक स्वदेश-प्रियता की तान सुनाकर राणा प्रताप जैसे वीरों को उनकी शिथिलता और भुलावे के समय, साहस और शौर्य के साथ सम्मान रखते हुए मर मिटने की प्रेरणा दे रहे थे। धर्म की भूमि पर पैर रखकर प्रभु की कृपा तथा करुणा की अनुभूति से उनकी वाणी सरस और मधुमय हो गई थी। वेलि में उनके इन दोनों रूपों का मधुर मिश्रण दृष्टिगोचर होता है।

धार्मिक परिस्थिति

व्यक्तिगत विशेषताओं के अतिरिक्त वेलिकार को एक दीर्घकालीन परम्परा के रूप में धर्म तथा साहित्य से बहुत प्रेरणा मिली थी। उनके विचार की पृष्ठभूमि में भारतीय संस्कृति और चेतना का स्वर गूंजता सुनाई देता है। उनके पूर्व ही पदाक्रान्त हिन्दू जाति के बीच धर्म का सदुपदेश आशा और

साहस का संचार कर चुका था। दक्षिण से होती हुई धर्म की यह चेतना उत्तर को सिक्त कर चुकी थी और उसीका प्रभाव पृथ्वीराज के समय भी अपना रंग ला रहा था। धर्म की यह दक्षिणपवन उत्तरभारत को सरस और प्रफुल्ल बना रही थी तथा हिन्दू, विदेशियों के कठोर आघातों को बहुत कुछ भुलाकर, धर्म के आश्रय में भक्ति का प्रचार तथा प्रसार करने में लग चुके थे। यों देशप्रेम और स्वाभिमान का स्वर भी पूर्णतया सोया हुआ नहीं था और कर्मवीर महाराणा प्रताप जैसे प्रतापी राजा अपने देश और जाति के खोये गौरव को लौटाने की प्राणपण से चेष्टा करते हुए अकबर जैसे शक्तिशाली बादशाह को भी छका रहे थे। किन्तु ऐसे प्रयत्न देश के कुछ ही कोनों में हो रहे थे। अधिकांश जन भक्ति की लहर में बहकर अपने मन और मस्तिष्क को भगवान की अर्चना में लगाने का ही प्रयत्न कर रहे थे। यह भक्ति की लहर जो सबसे पहिले शंकराचार्य से उत्तर में आई थी रामानुजाचार्य के द्वारा सबसे अधिक प्रभावपूर्ण रूप में उपस्थित की गई। रामानुज का समय सं० १०७४ से ११९४ तक बताया जाता है। यह परब्रह्म विष्णु, चित् जीव तथा अचित् दृश्यमान वस्तुजगत् को अविनाशी मानकर चले। इनमें अन्तिम दो परब्रह्म पर आश्रित हैं—ब्रह्म से सामीप्य-लाभ करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये, तभी सफलता मिल सकती है। उनके इस सिद्धान्त का सीधा सा तात्पर्य था जनता में प्रयत्न तथा ईश्वर के प्रति विश्वास फूंकना। रामानुज की ही पद्धति को स्वीकार करते हुए पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग रामानन्द ने राम को विष्णु का अवतार मान कर उनकी भक्ति की कल्पना की। इन्होंने अवतारवाद को प्रतिष्ठा दी। कर्मकाण्ड को त्यागकर सीधे भक्ति का उपदेश दिया। इन्होंने राम का मर्यादारूप स्थापित करने की सफल चेष्टा की, जिसके परिणाम स्वरूप तुलसी जैसे महकवि ने अवतार राम का चरित्र भिन्न २ पुस्तकों, छन्दों में भिन्न २ प्रकार से गाया और भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

रामभक्ति की धारा से विलग होकर एक अन्य स्रोतस्विनी भी इसी समय समस्त देश को रससिक्त करती हुई बह रही थी। वह थी कृष्णभक्ति धारा। इसका उद्गम भी दक्षिण से ही हुआ था। बारहवीं शताब्दी में तेलगू प्रदेश

से निम्बार्काचार्य का स्वर उठा और उत्तर में वृन्दावन की कुंज-कुंज और गली-गली में गूंज उठा। सारा ब्रज प्रान्त उस वाणी के रस में डूब गया। यह आचार्य द्वैताद्वैत साधना में विश्वास करते थे अतएव उसी का प्रवर्तन इन्होंने किया। जयदेव जैसा पीयूषवर्षी अमरकवि इन्हींके शिष्यों में से एक था। ये ईश्वर से चरम मिलन में विश्वास रखते थे और इनका विचार था कि उसकी प्राप्ति केवल भक्ति से हो सकती है। इन्होंने कृष्ण तथा राधा के मधुर सम्बन्ध की कल्पना करते हुए उन्हें आराध्य माना। कृष्ण इस मत के अनुसार परब्रह्म हैं। चौदहवीं शती के लगभग उदीपी से द्वैतवादी मध्वाचार्य का स्वर सुनाई दिया। यह भागवत को अपने सिद्धान्तों का मूलाधार बनाकर कृष्ण को ब्रह्म मानकर उठे। इनका ब्रह्म स्वामी है और जीव सेवक मात्र। एक स्वतन्त्र दूसरा परतन्त्र। अतएव आराध्य को प्राप्त करने के लिये सेवा और भक्ति की आवश्यकता है। नवधा-भक्ति ही वह साधन है जिससे ब्रह्म को पाया जा सकता है। उसी के लगभग शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन करते हुए विष्णुस्वामी ने इसी धारा में योग दिया। मध्वाचार्य ने राधा को अपने धर्म में ग्रहण नहीं किया था, विष्णु स्वामी ने उन्हें भी लिया।

इन सिद्धान्तों से संकेत पाकर पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में कुछ अन्य सम्प्रदाय, यथा; श्री सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय तथा सनकादि सम्प्रदाय, भी उत्पन्न हुए। श्री सम्प्रदाय ने रामानन्दी पद्धति को स्वीकार किया तो ब्रह्म सम्प्रदाय ने मध्व का अनुकरण किया तथा रुद्र एवं सनकादि सम्प्रदाय क्रमशः विष्णु तथा निम्बार्क के मार्ग पर चले। ब्रह्म सम्प्रदाय में दीक्षित महाप्रभु चैतन्य ने सोलहवीं शती में बंगाल में भक्ति की वह मधुर पयस्विनी प्रवाहित की जिसमें सारा बंगाल भीग उठा। इनकी वाणी का प्रभाव उत्तर के अन्य क्षेत्रों में भी दिखाई दिया। इनका संकीर्तन तो आज तक भक्तों के बीच भक्ति-साधना का एक विशेष महत्वपूर्ण साधन स्वीकृत है। आप भागवत का आधार लेकर चले और अपने कार्यक्षेत्र का केन्द्र जगन्नाथपुरी में बनाकर रहते रहे। इसी समय विजयनगर से संस्कृत के दुर्दान्त पण्डित वल्लभाचार्य को महाप्रभु की उपाधि से सम्मानित किया गया और उनकी वाणी धीरे धीरे उत्तर को आप्लावित करने लगी। विष्णु स्वामी के

सिद्धान्तों का पालन करते हुए भी ये निम्बार्क से प्रभावित थे। कृष्ण इनके ब्रह्म हैं, राधा ब्रह्म की पत्नी तथा कृष्ण का क्रीड़ा-स्थल, बैकुण्ठ। इन्होंने शंकराचार्य के मायावाद को अमान्य ठहराकर भक्ति की श्रेष्ठता की स्थापना की। भक्ति इनके मत से ज्ञान से भी श्रेष्ठ थी। कृष्ण-ब्रह्म-की भक्ति केवल उनके अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है, जिसे इनके मतानुसार पारिभाषिक रूप में 'पुष्टि' कहा जाता है। यही कारण है कि इनके मत को 'पुष्टिमार्ग' संज्ञा हुई। इन्हीं वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने इस मत के प्रधान आठ भक्तकवियों को लेकर 'अष्टछाप' की स्थापना की। १६वीं शती में ही हित हरिवंश ने अपने 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' की स्थापना की और सीधे सीधे भक्ति के साथ शृंगार का मेल स्वीकार कर लिया। अकबर के समकालीन एक प्रतिष्ठित स्वामी हरिदास जी का नाम भी टट्टी सम्प्रदाय की स्थापना के सम्बन्ध में लिया जाता है। स्वामी हरिदास तो संगीत के भी मान्य आचार्य कहे जाते हैं। इनका सम्प्रदाय निम्बार्क सम्प्रदाय के ही अन्तर्गत है।

सारांश यह कि पृथ्वीराज से बहुत पूर्व से ही भागवतादि को मूल आधार मानकर राम तथा कृष्ण की सगुण-भक्ति का प्रचार दक्षिण से चलकर उत्तर की गली गली में फैल चुका था। उनके समय में ही अनेक महात्मा अपने सम्प्रदाय स्थापित करने में लगे हुए थे। इन सभी सम्प्रदायों में सबसे अधिक प्रचार हुआ कृष्णशाखा का। जहाँ रामभक्ति को लेकर केवल एक मत आरंभ हुआ वहाँ कृष्ण-भक्ति का प्रवाह दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ दिखाई देने लगा। सगुण भक्ति के इन मार्गों के अतिरिक्त उस समय विदेशियों के सम्पर्क में आकर दो और विशेष धाराएँ भी धर्म के क्षेत्र में प्रवाहित हो रही थीं, जिनमें एक निर्गुण तथा दूसरी सूफीधर्म से प्रभावित थी।

साहित्यिक परिस्थिति

पृथ्वीराज से पूर्व हिन्दी-साहित्य अनेक नालियों में होकर बह चुका था। कभी उसमें जैन और सिद्धों की रचनाएँ प्रस्तुत की गईं, कभी वीर-कविताओं की प्रधानता रही और कभी धर्म से भक्ति का वरदान पाकर साहित्य नए नए रूपों में खिल उठा। पृथ्वीराज के समय तक आते आते वह अनेकमुखी हो चुका

था। अतएव पृथ्वीराज को अपने पीछे एक दृढ़ भूमि मिली, जिसका अनुभव करके उन्होंने अपने काव्य को रूप दिया।

वीरकाल से पूर्व जैन कवियों की जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें दो बातें लक्षित की जा सकती हैं—(१) लौकिक प्रेम तथा उसका (२) अलौकिक प्रम में पर्यवसान। जैन आचार्य अपने काव्य का लक्ष्य अलौकिक की प्राप्ति ही रखते किन्तु उसका वर्णन वे लौकिक भूमि पर किया करते थे। लौकिक प्रेम की पराकाष्ठा दिखाकर ही वे उसके प्रति विराग उत्पन्न करने की चेष्टा करते थे, जिसके फलस्वरूप उनके काव्यों में शृंगार और शान्त की ही स्थापना रहती थी। शृंगार की उत्कटता के पश्चात् ही शान्त की स्थापना उनका ध्येय था। अतएव जैनकवियों की रचनाओं में भी अलौकिकता या आध्यात्मिकता का लक्ष्य रहते हुए भी शृंगार की प्रतिष्ठा मिली। बल्कि मेरुतुंग का तो मानो नारा ही था कि :—

एऊ जम्मु नग्गुहं गिउ भउसिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खां तुरिय न माणियां गोरी गली न लग्गु॥

अर्थात् यदि भटों के शीश पर खंग भंग नहीं हुआ तो एक जन्म व्यर्थ ही गया। यदि तेज घोड़े न दौड़ाए और यदि गोरी-नारी-भी गले न लगी तो भी जन्म व्यर्थ ही हुआ।

स्पष्ट है कि जैन कवियों के समय में भी वीरता प्रदर्शन अथवा नारी-सम्पर्क की ओर कवियों की दृष्टि गई थी। विक्रम सं० ११०० के अनन्तर किन्हीं णयणंदि मुनि की एक प्रेमकथा 'सुदंसण चरिउ' अथवा सुदर्शन चरित के नाम से प्राप्त भी होती है। इस ग्रन्थ में नखशिख, प्रकृतिचित्रण, नारी-सौन्दर्य आदि का वर्णन करते हुए पर्यवसान मोक्ष प्राप्ति में किया गया है। अभिप्राय यह कि हिन्दी की आदि धार्मिक रचनाओं में भी धर्म के साथ लौकिक शृंगार का चित्रण किया गया है। सिद्धों की रचनाओं में भी शृंगार की कमी नहीं है।

वीरगाथाकाल में आकर मेरुतुंग की भावना ने जोर पकड़ा। देश पर होने वाले विदेशी आक्रमणों के विरोध में जो हिन्दू राजा अपनी समस्त शक्ति के साथ खड़े हो रहे थे, उन्हें उत्साह दिलाने और देशसेवा के लिये प्रयत्नशील करने के लिये उनकी विरुदावली गाने की भी आवश्यकता थी। उस समय का

रस-दृष्टिकोण केवल वीर तथा शृंगार तक ही सीमित था। अन्य रस जहाँ तहाँ अंग रूप में आ जाते थे। भाषा भी वीरभावोपयुक्त डिंगल ही थी।

वीरगाथाओं के बाद भक्तिकालीन रचनाओं का जो रूप उपस्थित किया गया उनमें तुलसी ने राम के विष्णु रूप का मर्यादित चित्रण किया, सूर आदि ने कृष्ण की मधुरा-भक्ति को जन्म दिया और उनकी सख्य-भाव से उपासना की। इनकी रचनाओं में व्याकुल-विरह के अथवा मधुर संयोग-शृंगार के अनुपम चित्र अंकित किए गए। कृष्ण और राम के चित्रण का इतना जोर बढ़ा कि एक ही कवि ने दोनों रूपों का वर्णन भी किया और तुलसी ने इसी भावना से कृष्ण-गीतावली की रचना की। जयदेव की मधुर पदावली का जो स्वर विद्यापति की कविता में सुनाई दिया वही सूर और नन्ददास आदि की ब्रज-माधुरी में पगा छनता चला आ रहा था और उसका प्रभाव आगे चलकर यहाँ तक बढ़ा कि विदेशी मुसलमान भी हिन्दू की भाँति कृष्ण की उपासना में लीन रहकर रसखान बन गए। राजपूताने में भी कोकिल की मधुर तान लेकर मीरा ने गिरधर गोपाल के आगे नाचने में अपनी कुल कानि की भी परवा न की और वह राग अलापा जो आज तक भक्त के हृदय को सींचता चला आ रहा है। रहीम जैसे व्यक्ति भी इसी माधुरी में पगे बिना न रह सके।

प्रेमगाथाएँ हिन्दू चरितों को लेकर सूफी रंग में रंगी हुई वह रचनाएँ हैं जिनमें नायक, नायिका के स्वरूप का वर्णन सुन मोहित होकर उसे प्राप्त करने का, प्रयत्न करता है, और गुरु उसको साहाय्य देता हुआ अनेक विघ्नों से बचाता हुआ नायिका से मिला देता है। इन नायिकाओं का स्वरूप बड़ा ही विचित्र और अलौकिक है। यह प्रेमकथा मानों आत्मा-परमात्मा का ही रूपक है, केवल कथा नहीं। इसमें अनेकबार शैतान विघ्न उपस्थित करता है। और उन विघ्नों में अविचलित रहकर ही आत्मा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। इन रचनाओं में भी शृंगार की प्रधानता है और इनका नामकरण विशेषतः नायिका के नाम पर ही हुआ है। इसी प्रकार की प्रेमगाथा का आधार लेकर १६३९–४० के आसपास आलम ने कामकन्दला की रचना की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य की यह धारा पृथ्वीराज के समय भी प्रवाहित थी।

———

वलि पर पूर्ववर्ती काव्य का प्रभाव और उसका स्वरूप-विधान

पूर्ववर्णित स्थिति के अनुसार वेलिकार का जन्मकाल—सं० १६०६—ऐसा समय है जब हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाव्यकाल अपनी अन्तिम साँस ले रहा था और रीतिकाल अपने चरण चाँपता हुआ एक एक पग आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा था। न तो इस काल में भक्ति काल का प्रभाव ही एकदम नष्ट हो पाया था और न रीतिकाल ही अपने स्वरूप का बोध कर पाया था। भक्ति और रीतिकाल का यह सन्धिस्थल वेलिकार के जन्म और विकास का युग है। दूसरे शब्दों में काव्य-परम्परा के अनुसार एक ओर उनके पीछे समस्त वीर-गाथा साहित्य तथा भक्तिकाल की अमूल्य काव्य-निधि पड़ी हुई थी और दूसरी ओर रीतिकाव्य का नवीन आकर्षण था। इस साहित्यिक-चेतनाभूमि के अतिरिक्त वेलिकार के जीवन की व्यक्तिगत परिस्थितियों का चक्र भी कुछ ऐसा प्रभावशाली था कि पृथ्वीराज के व्यक्तित्व में एक ही साथ अनेक धाराओं का सम्मिलन स्वाभाविक रूप से हो गया। इस कथन से यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि पृथ्वीराज का व्यक्तित्व केवल परिस्थितियों से संचालित अथवा उनके आधीन था, बल्कि तात्पर्य केवल इतना ही है कि पृथ्वीराज के व्यक्तित्व-निर्माण में उक्त सभी परिस्थितियों का सहज, तथा मधुर सम्मिलन हुआ है। सहज ही, उनके इस व्यक्तित्व ने उनके काव्य को भी प्रभावित किया है। जहाँ एक ओर पृथ्वीराज में भक्तिकाल की भावधारा का प्रवाह समा गया था वहाँ दूसरी ओर वीर-प्रसवा जन्मभूमि और आत्मसम्मानी राजपूत वंश ने उन्हें जीवन में बल और शौर्य का वरदान भी दिया था। वीरभूमि में उत्पन्न, लोहे के धनी राठौड़राज पृथ्वीराज की शिराओं में प्रवाहित बीकानेर का तेजस्वी राजरक्त तथा शृंगारकेलि के लिये उन्मुक्त स्वच्छन्द वातावरण ने मिलकर उनकी वीरता तथा भावुक शृंगारिकता की जो गंगा-यमुना प्रवाहित की उसमें भागवत के भक्ति-प्रवाह ने मिलकर सरस्वती का कार्य किया। वीर, भावुक और भक्त तीनों व्यक्तित्वों के सम्मिलित प्रभाव से काव्य-क्षेत्र में एक साथ ही वीर, शृंगार तथा भक्ति की पावनी सुरसरि प्रवाहित हो उठी। पृथ्वीराज एक ही साथ भावुक भक्त तथा वीरता और शौर्य की मूर्ति थे।

यही दोनों विशेषताएँ उनके काव्य में सबल और सरल रूप में ढली हैं। उनकी उच्चकोटि की वैष्णव-भक्ति पर रीझ कर ही नाभादास जी ने अपने बृहत् ग्रंथ 'भक्तमाल' में अन्य भक्तों के साथ आपका नाम भी बड़े आदर से लिया है :—

सवैया, गीत, श्लोक, वेलि, दोहा, गुण, नवरस।
पिंगल काव्य प्रमाण, विविध बिधि गायो हरिजस॥
परिदुख बिदुष सश्लाध्य, बचन रसना जु उच्चारे।
अर्थ विचित्रन मोल सबै सागर उद्धारे॥
रुक्मिणी लता वर्णन अनूप, बागीस बदन कल्याण सुव।
नरदेव उभय भाषा निपुण, प्रथीराज कवि राज हुव॥

इनकी वीरता और रचना की ओजपूर्णता दोनों से प्रभावित होकर ही टॉड तथा टैसीटरी जैसे प्रसिद्ध विदेशी विद्वानों को भी मुक्तकण्ठ से इनकी और इनकी रचना की प्रशंसा करनी पड़ी। पृथ्वीराज की कविता वह संगमस्थल है जहाँ वीर तथा भक्ति की दो अजस्र धाराएँ आकर एक में समाहित हो गई हैं। पृथ्वीराज के व्यक्तित्व का निर्माण जिन परिस्थितियों में हुआ था उनमें कविता के इस स्वरूप का संघटन सहज था। वीरगाथाकाल के जिन चारण कवियों ने वीर रचनाओं द्वारा भारतीय नरेशों को पारस्परिक संघर्ष की ज्वाला में झोंक दिया, अथवा आश्रयदाताओं की जैसी मिथ्या विरुदावली गा गाकर उन्होंने साहित्य का कलेवर भर दिया, पृथ्वीराज वीरकाव्य के लेखक होकर भी उस श्रेणी के कवि नहीं थे। पृथ्वीराज स्वयं वीर योद्धा, और स्वतन्त्रता तथा स्वदेश के अनन्य पुजारी थे। ऐसी दशा में उनके काव्य में वीर गाथा काव्य की कतिपय विशेषताओं का मिलना आश्चर्यजनक नहीं। विद्वानों के मतानुसार डिंगल भाषा भी वीर रस के ही उपयुक्त है। उसमें वीर जितना खिलता है, जितनी ओजस्विता उसमें है वह वीर रस के स्फुरण के ही योग्य है। अतएव डिंगल भाषा का सहारा लेकर काव्य-रचना करने पर वीरगाथा की परम्परा-निर्वाह का लोभ भी सहज स्वाभाविक है।

वीरगाथा काव्यों की एक अपनी परम्परा है, अपनी शैली है। उन काव्यों की प्रधान विशेषता है, अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा। एक सर्वमान्य शैली जिसका प्रचलन समस्त वीर काव्यों में हुआ है वह थी किसी ऐसे शासक की

कल्पना जिसकी वीरता तथा शृंगारकेलि का वर्णन स्वच्छन्द भाव से किया जा सके। इस कार्य के लिये किसी ऐतिहासिक अथवा अनैतिहासिक सुन्दरी की कल्पना कर ली जाती थी। काव्य की यह नायिका किसी व्यक्ति के द्वारा नायक की प्रशंसा सुनकर उसपर मुग्ध हो जाती और उसके पास अपना प्रेम-सन्देश भेजती। नायिका का सन्देश पाकर नायक शीघ्र ही बड़े उत्साह से साज-सज्जा करके नायिका के पिता अथवा संरक्षक पर आक्रमण करता और नायिका का बलात् अपहरण करके उससे विवाह कर लेता था। नायक की वीरता का प्रदर्शन कराने के लिये ही इस आक्रमण की कल्पना काव्यों का मुख्य अंग हो गई थी। नायिका-अपहरण के अनन्तर उसकी कामकेलि और सुखोपभोग का वर्णन इन काव्यों की दूसरी विशेषता थी। बिना इस वर्णन के मानों काव्य का उद्देश्य ही पूरा नहीं हो पाता था। पृथ्वीराज-रासो का संयोगिता-स्वयम्बर प्रसंग बिल्कुल अनैतिहासिक है, फिर भी इसका वर्णन कवि ने पूरी लगन से किया है। उसी का परिणाम है कि आजतक उस घटना को सत्य मानकर इतिहास का ढाँचा तैयार किया जाता रहा है। इसी प्रकार की घटना पृथ्वीराज रासो के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' में भी वर्णित है।

'वेलि' में भी इस प्रकार की कथा का पूरा निर्वाह किया गया है। इस दृष्टि से 'वेलि' को वीरकाव्य-परम्परा में रखने का प्रयत्न किया जा सकता है। किन्तु, इस प्रकार का निर्णय देने से पूर्व यदि कथा के मूलाधार पर दृष्टिपात कर लिया जाय तो 'वेलि' को वीरकाव्य कहने की असंगति सिद्ध हो जायगी। 'वेलि' की कथा का यह स्वरूप कथाकार की ओर से जानबूझकर वीरगाथा की परम्परा के अनुसार नहीं रखा गया है बल्कि इस कथा के इस स्वरूप का जैसा जो कुछ वर्णन उसे मूलग्रंथ भागवत में उपलब्ध हुआ, उसीको उसने अपनी प्रतिभा से सजाया, सँवारा और सुधारा है। कवि को कथा का मूलरूप तो वीरगाथा-काव्यों से बहुत पूर्व के ग्रंथ से उपलब्ध हुआ है अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि वेलि वीरकाव्यों की पद्धति का अनुसरण करती है। यह दूसरी बात है कि उसकी घटना वीरकाव्यों की किसी घटना से मिलती जुलती है। घटना के इस साम्य पर दृष्टि रखते हुए, साथ ही यह जानते हुए कि लेखक को घटना भागवत से मिली है, यह अवश्य कहा जा

सकता है कि लेखक चयन की दृष्टि से वीरकाव्य से भले ही प्रभावित न हुआ हो किन्तु अपने कुलीन वीररक्त ने उसके दृष्टिकोण को अवश्य प्रभावित किया है। अपनी धमनियों में प्रवाहित होते हुए वीररक्त के ओज तथा स्वदेशाभिमान ने ही कवि को ऐसी घटना का चयन करने के लिये विवश किया जहाँ वह युद्ध का वर्णन कर सके। स्वयं राजकुल में उत्पन्न होकर तथा तत्कालीन परम प्रतापी मुगल सम्राट् अकबर के दरबार में रहकर उनके लिये जितना सहज शृंगार की ओर झुकना था उससे भी कहीं अधिक वीरत्व के प्रदर्शन की चेष्टा स्वाभाविक थी। परिणामस्वरूप लेखक ने कृष्ण-कथा के अन्य कथानकों का तिरस्कार करके यह प्रसंग अपनाया जिसमें वह शृंगार तथा वीर दोनों प्रसंगों का निर्वाह कर सकता। भागवतादि की कथा केवल विवाह-संस्कार तक चलती है किन्तु शृंगार लाने के लिये वेलिकार ने उसके आगे संभोग तथा षटऋतु का वर्णन भी किया है। युद्ध का जितना संक्षिप्त वर्णन भागवत में किया गया है उसका अत्यधिक विस्तार लेखक ने वेलि में किया है जिससे प्रतीत होता है कि वह अपनी भावनाओं और जातीय गुणों को काव्य की सीमित परिधि से संयमित नहीं कर सका है। फलस्वरूप वीररस गौण अवस्था से प्रधान बन गया है और शृंगार ग्रंथ—गूंथियै जेणि सिंगार ग्रंथ—में रसास्वाद में कुछ विघ्न भी उपस्थित हो गया है। स्पष्ट है कि लेखक ने वीरगाथा परम्परा का निर्वाह करने के लिये नहीं बल्कि अपने मनोभावों को दबाने में असमर्थ होकर ही वीररस को इतना महत्व दिया है। तात्पर्य यह कि वेलि किसी परम्परा के अनुसरण के लिये नहीं लिखी गई बल्कि वह भावुक हृदय के स्वाभाविक उद्गार के रूप में प्रस्तुत की गई है।

प्रेमगाथा-काव्यों से भी वेलि का बहुत कुछ साम्य है। उन काव्यों की भाँति ही यहाँ भी आत्मा और परमात्मा का रूपक सिद्ध हो सकता है। पृथ्वीराज ने कृष्ण को जगत्पति तथा अन्तरजामी आदि कहा तथा रुक्मिणी को लक्ष्मी का अवतार बताया एवं जन्म जन्मान्तर का उनका सम्बन्ध प्रकट किया है। रुक्मिणी, आत्मा के समान, अनेक ग्रंथों आदि से ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही कृष्ण रूपी परमात्मा को उपलब्ध करने के लिये मन में निश्चय कर लेती है। किन्तु, बिना गुरु—ब्राह्मण—का सहारा लिये

हुए रुक्मिणी का काम नहीं चलता और स्वयं उसका भाई शिशुपाल एवं जरासंध शैतान की भाँति बीच में आ जाते हैं। आत्मा की इतनी लगन से प्रभावित होकर पद्मावती—परमात्मा—समान ही कृष्ण व्याकुल होकर चल पड़ते हैं। बीच में शैतान के कारण ही मानों युद्ध का विघ्न उपस्थित होता है और आत्मा तथा परमात्मा के प्रयत्न द्वारा शैतान पर विजय प्राप्त करके दोनों मिल जाते हैं। जिस प्रकार पद्मावती के दर्शन से राजा रत्नसेन मूर्छित हो गये थे, उस प्रकार रुक्मिणी मूर्छित नहीं होती, किन्तु इसके विपरीत रुक्मिणी के ही सौन्दर्य से शत्रुसेना अवश्य विजड़ित सी रह जाती है।

'वेलि' का कथा-स्वरूप रामकथा के शील-निरूपण की सीमा में भी ठीक उतरता है, क्योंकि इस काव्य की रुक्मिणी का रूप ऐसा है जैसे, 'शील आवरित लाज सूं'। कवि मर्यादा की पूरी रक्षा करते हुए भी शृंगार की मधुमयी सरिता प्रवाहित करने में सफल है। कृष्ण को लेकर चलने वाले पुष्टि मार्ग की विशेषताओं का रूप भी 'वेलि' में निखरे रूप में प्रकट हुआ है। पुष्टिमार्ग की विशेषता थी कृष्ण को ब्रह्म मानकर उन्हें स्वामी तथा आराध्य मानना तथा अपने को सेवक के रूप में मानकर चलना। सेवक की विशेषता होनी चाहिये कि सब कुछ कृष्णार्पण कर दे। पूर्ण आत्म-समर्पण करते हुए गोपियों की भाँति निस्संकोच होकर प्रभु से प्रेम करना और कृष्ण के निवास स्थान को वैकुण्ठ मानना, यह भी पुष्टिमार्ग की एक मान्यता है। वेलिकार इस सिद्धान्त का पूर्ण अनुसरण करते चले हैं। उनके कृष्ण भगवान हैं, यह कई बार कहा जा चुका है। रुक्मिणी उन्हें अपना सर्वस्व ही नहीं मानती, उनसे जन्मान्तर का अमिट सम्बन्ध भी मानती है। उनके प्रति रुक्मिणी की अनन्य-भक्ति का प्रमाण उसका पत्र है। वह लाज छोड़कर पत्र लिखती है अतएव गोपियों की समानता में भी उसमें कोई कमी नहीं। रुक्मिणी तथा कवि दोनों अपनी अपनी ओर से कृष्ण के प्रति दास्यभाव की घोषणा करते हैं। उन्होंने अपने को २९१वें दोहले में प्रिथीदास ही कहा है। श्रीकृष्ण का निवासस्थान वैकुण्ठ ही है, इसका वर्णन तो द्वारिका में पहुँचकर आश्चर्यचकित ब्राह्मण ने अपने शब्दों में किया ही है। उसका कथन है कि :—

'सम्प्रति ए किना किना ए सुहिणौ, आयौ कि हूँ अमरावती।

स्पष्ट है कि वेलि इस मार्ग का भी पूर्ण अनुकरण करती है और उसकी भोली नायिका मानो अपने भोलेपन से ही यह सिद्ध करना चाहती है कि एकमात्र भक्ति ही वह माध्यम है जिसके द्वारा प्रभु से साक्षात्कार किया जा सकता है। रुक्मिणी प्रभु से सामीप्य स्थापित करती है, अद्वैत नहीं। यह भी पुष्टि की ही पुष्टि है।

वेलि की रचना से बहुत पूर्व अलंकार तथा नायिका भेद के कई ग्रंथ लिखे जा चुके थे। यथा, कृपा राम की हिततरंगिनी प्रकाश में आ चुकी थी। रहीम भी नायिका भेद और नखशिख की रचना कर रहे थे। अतएव रूप की दृष्टि से 'वेलि' रीति के प्रभाव की ओर भी संकेत करती प्रतीत होती है। उसके पद पद में अलंकार, यथा-स्थान नखशिख और रूप-सौन्दर्य चित्रण तथा ऋतु-वर्णन सभी रीतिकाल की प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

वस्तुतः वेलि भक्ति तथा रीति की वह प्रवाहिनी है जिसमें बीच बीच में कुछ अन्य धाराओं का भी मिलन हो गया है। भक्ति तथा रीतिकाल के सन्धि-स्थल पर खड़े होकर वेलिकार ने अपनी शक्तिभर दोनों कालों के प्रमुख लक्षणों का मधुर सम्मिलन करने की चेष्टा की है जिसके परिणामस्वरूप प्रतिभाशाली लेखक का इंगित पाकर 'वेलि' की पंक्ति पंक्ति खिल उठी है। भक्ति और शृंगार की ऐसी मधुर साधना अन्यत्र दुर्लभ है। रीतिकाल को बहुत से लेखकों ने शृंगार की प्रधानता के कारण ही शृंगारकाल के नाम से अभिहित किया ह। वस्तुतः शृंगार को साधना ही उस काल की प्रमुख साधना, थी। वेलिकार ने भी अपने काव्य में शृंगार की अनेक दशाओं का बड़ा ही सरस और हृदयरंजक वर्णन किया है। डिंगल भाषा की कठोरता में छिपी हुई सरसता का जो उत्स इस कवि ने प्रवाहित किया है, उसके लिये वह प्रशंसा का पात्र है। इस छोटे से कथानक को एक अच्छे खण्ड काव्य का रूप देते हुए कवि ने अपने इच्छानुकूल ऐसे मधुर शृंगारमय प्रसंगों की उद्भावना की है जो भक्ति की रचना में भी उसके अविच्छेद्य अंग के समान हैं, जो उसकी शोभा ही बढ़ाते हैं। प्रारम्भ में ही नायिका की वयःसन्धि तथा नखशिख का वर्णन, उसका पूर्वानुराग, मुग्धा नायिका की सहज-उत्सुकता, मिलन के लिये व्याकु-

लता, सहज स्वाभाविक संकोच तथा लज्जा तथा अन्यत्र रतिश्रान्ता की स्थिति आदि का चित्रण कवि ने जिस भावुकता एवं मर्मज्ञता के साथ किया है उससे उसके हृदय की गहरी अनुभूति तथा रसज्ञता का ही परिचय मिलता है।

सारांश यह कि यद्यपि वेलि में वीरकाव्य परम्परा के अनुसार भाषा, कथावस्तु तथा वीरकाव्योपयुक्त वीर रस आदि पर्याप्त लक्षणों का समावेश हुआ है, तथापि रचना-सौष्ठव, पदलालित्य तथा मधुरभाव की जैसी उज्वलता इस काव्य में व्याप्त है वह इसे वीरकाव्य होने से रोकती है। पृथ्वीराज को सबसे अधिक श्रेय तो इस बात का मिलना चाहिये कि उनके द्वारा डिंगल भाषा भी 'वेलि' की मधुर कथा के साँचे में ढल-पिघल कर माधुर्य की मधुमयी प्रवाहिनी में परिवर्तित हो गई है।

वेलिकार के पूर्व भी इस कथा को लेकर भिन्न भिन्न लेखकों ने अपना कौशल प्रदर्शित किया। पृथ्वीराज कवि के समकालीन तथा अकबरी दरबार के सम्मानित कवि नरहरि ने 'रुक्मिणी-हरण' काव्य की रचना की। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास का 'रुक्मिणी-मंगल' तो एक प्रसिद्ध रचना है ही। हिन्दुस्तानी एकेडेमी से प्रकाशित 'वेलि' की भूमिका से पता चलता है कि उसी समय किन्ही पद्मदत्त की रचना 'रुक्मिणी-मंगल' महा-काव्य के रूप में राजस्थानी भाषा में लिखी जा चुकी थी। इसके अतिरिक्त उसी भूमिका के पृ० ४९ पर उनका कथन है कि :—"कहते हैं कि साँइया जाति के झूला चारण ने 'रुक्मिणी-हरण' ग्रन्थ उसी समय बनाया था। यह और 'वेलि' दोनों ग्रंथ एक साथ बादशाह अकबर को निरीक्षणार्थ भेजे गये। बादशाह ने पहले वेलि को सुनकर हरण को सुना। अन्त में हरण की रचना को श्रेष्ठतर निर्णीत करके श्लेष और व्यंग्य में पृथ्वीराज से कहा 'पृथ्वीराज तुम्हारी वेलि को चारण बाबा की हरिणियाँ चर गईं।' इस प्रकार 'रुक्मिणी-हरण' की तारीफ की। परन्तु ये सब किम्वदन्तियाँ मात्र हैं।"—जो हो, हमें कहना इतना ही है कि वेलि की रचना के समय तक रुक्मिणी-काव्य की एक स्थिति बन चुकी थी और भक्त-कवियों से लेकर चारणों तक का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो चुका था। नन्ददासके साथ साथ अन्य कवि भी इस ओर झुके थे। नरहरि की रचना में तिथि का उल्लेख नहीं

किया गया है किन्तु संभव है नरहरि की यह रचना 'वेलि' से पूर्व की ही हो। यह रचना वेलि की तुलना में इतिवृत्त मात्र है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यदि वेलि की रचना पहिले हो चुकी होती तो नरहरि अवश्य ही उसकी तुलना में मनोरम काव्य की सृष्टि करने की चेष्टा करते। ज्ञात होता है कि नरहरि की ऐसी रचना देखकर पृथ्वीराज का मन तृप्त नहीं हुआ और उन्होंने 'वेलि' की सृष्टि की। अस्तु, 'वेलि' की पृष्ठभूमि में कई मंगल विद्यमान हैं और यह उस काल की एक रचना-पद्धति का अनुगमन ही है। किन्तु, यह अनुगमन प्रथा-पालन मात्र नहीं है, भक्त-कवि के हृदय से निकली हुई सरस भावधारा है।

आगे चलकर सं० १७५० में मथुरा के केसौराय नामक किसी लेखक के 'रुक्मिणी मंगल' तथा रीवाँ नरेश रघुराजसिंह जू देव के 'रुक्मिणी परिणय' (सं० १९०६) ग्रंथों के द्वारा इस प्रकार के काव्यों की परम्परा बनी रहने का श्रेय 'वेलि' को ही देना चाहिए। सं० १९२५ का नवल सिंह कायस्थ का 'रुक्मिणी-मंगल' भी उसी प्रवाह का द्योतक है। आगे चलकर पं० बैजनाथ का 'श्रीकृष्ण खण्ड और रुक्मिणी स्वयम्बर' विष्णुदत्त का 'रु० मंगल' सुजानसिंह का 'रुक्मिणी चरित्र' तथा 'हरिऔध जी' का 'रुक्मिणी परिणय' नाटक भी लिखा गया। किन्तु ये साधारण रचनाएँ हैं।

राजस्थानी साहित्य और वेलि

डिंगल साहित्य की अपनी एक परम्परा है। वह जातीय गौरव और सम्मान का जीवन्त प्रश्न लेकर चलने वाला साहित्य है। उसमें वीरभूमि राजस्थान का वीरदर्प बोलता और हँसता सुनाई देता है। वह हमारे पूर्वजों के संघर्ष और आत्मरक्षा के लिये बलिदान का गौरवपूर्ण इतिहास है। मेनारिया जी के शब्दों में, "देश प्रेम, जातीय गौरव, तथा आजादी के झंझावात बहुल सन्देशों से यह लबालब भरा हुआ है। इस साहित्य में पटरानियों के अट्टहास, नायक-नायिकाओं के गुप्तमिलन और राजमहलों के विलास-वैभव का वर्णन

नहीं है। इसमें है रणोन्मत्त राजपूत वीरों, मरणातुर राजपूत महिलाओं और रणांगण की रक्त-रंजित हाय-हत्या का भावमय चित्रण। यह साहित्य जीवन का साहित्य है और सदा जीवन को लेकर आगे बढ़ा है। यह ऐसे लोगों का साहित्य है और ऐसे लोगों द्वारा रचा गया है जिन्होंने तलवार की चोटें अपने मस्तक पर झेली हैं, जीवन-संग्राम में जूझकर प्राण दिये हैं:"—पृ० ४८ रा० भा० सा०।

डिंगल पद्य दो रूपों में उपलब्ध होता है। कहीं वह गीतों के रूप में है और कहीं प्रबन्धकाव्य के रूप में। प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत महाकाव्य तथा खण्डकाव्य दोनों ही की रचना हुई है। इन ग्रन्थों की अपनी अपनी परम्पराएँ हैं। कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जो नायक का शौर्य-वीर्य वर्णन करने के विचार से लिखे जाने के कारण नायक के नाम के साथ रासो आदि लगाकर प्रस्तुत किये गए हैं। कुछ ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें नायक के शौर्य का वर्णन अथवा उसके जीवन की अन्य घटनाओं का वर्णन करने पर भी छन्द के आधार पर ही उनका नामकरण किया गया है। चरित्र-नायकों के नाम पर पाये जाने वाले ग्रन्थों के अन्तर्गत ५ प्रकार के नाम बताए गये हैं, जैसे: रासो, प्रकास, विलास, रूपक तथा वचनिका। छन्दों का विचार करके जिनका नाम दिया गया है वह लगभग ७ प्रकार के ग्रन्थ हैं। किसी का नाम नीसाणी है, किसी का झूलणा, किसी को भलमाल कहा गया है और किसी को गीत, कवित्त अथवा दूहा की संज्ञा दी जाती है। इन्हीं छन्दों में एक छन्द वेलियोगीत भी है जिसके आधार पर किन्हीं किन्हीं ग्रंथों का नाम वेलि भी दिया गया बताया जाता है। पृथ्वीराज लिखित वेलि इसी छन्द परम्परा के अनुसार नाम दिये जाने वाले ग्रन्थों की परम्परा में बैठती है। यह ग्रन्थ मंगलाचरण तथा देवी देवताओं की स्तुति से आरम्भ तथा नायक की महान् विजय अथवा मृत्यु से समाप्त होते हैं। स्तुति के पश्चात् नायक की वंशावली की दीर्घ प्रशस्तियाँ रहती हैं। इन काव्यों का एकमात्र उद्देश्य नायक के बल-वीर्य का वर्णन है। इसीके लिये अनेक युद्धों का वर्णन किया जाता है और जहाँ तहाँ नायक का किसी कन्या को हरण करके उसके साथ भोग-विलास में लिप्त हो जाने का भी वर्णन रहता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त राजस्थानी-साहित्य में धर्म, नीति, तत्वज्ञान आदि विषयों पर भी कुछ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

वस्तुतः डिंगल कविता वीर कविता ही है, और उसका प्रधान भाव ओज तथा रस वीर है। वह रस चाहे फिर अपने अन्य दानवीर आदि भेदों में से एक को ही लेकर प्रकट हो या सब को। वीर रस के वर्णन में ही इन कवियों की वृत्ति रमी है। उसका वर्णन करने में उन्होंने अपूर्व कल्पना-कौशल तथा वर्णन-चातुर्य से काम लेते हुए अतिशयोक्ति को भी अपना लिया है। साथ ही साथ इन कवियों ने मनोभावों के वर्णन में भी पूर्ण सफलता प्राप्त की है। जहाँ इन काव्यों में नायक की वीरता का प्रदर्शन किया गया है, वहाँ नारी-जगत का सम्मान रखते हुए अनेक वीरनारियों के चरित्र भी इसी डिंगल में बड़े उत्साह से गाये गये हैं। वीररस डिंगल के साथ इतना जुड़ गया है कि डिंगल ही वीररसोपयुक्त भाषा स्वीकार कर ली गई, किन्तु शृंगार का मधुर मधुमय चित्रण भी वीर के साथ साथ इन काव्यों में उपलब्ध होता है और वह अपनी छवि से छविवान है। इसी प्रकार वीर की सहायता के लिये अन्य रसों का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है।

डिंगल के ऐसे वीरकाव्यों में जहाँ पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, खुमाण रासो, आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, वहाँ शारंगधर नामक जैन कवि का हम्मीर रासो, श्रीधर के रणमल छन्द, तथा नल्लसिंह के विजयपाल रासो का भी नाम लिया जाता है। जिनमें शारंगधर की रचना अभी तक प्राप्त नहीं है। यह रचनाएँ कवि पृथ्वीराज से पूर्व की हैं। डिंगल के कारण वेलि का रचनाकार इनसे प्रभावित हुआ ह तथा उसने, जैसा बताया गया है, अपने वीरवंश के स्वाभाविक गुण वीरता की भी रक्षा की है।

पृथ्वीराज का उदय जिस काल में हुआ वह समस्त देश के लिये धर्म और भक्ति का काल था। इस बात को हम हिन्दी में वेलि का स्थान निर्धारित करते हुए बता चुके हैं। राजस्थान भी इस धर्म-प्रचार से अछूता नहीं रहा। इस समय का साहित्यकार एक ओर तो संत-साहित्य अथवा सगुण-भक्ति से प्रभावित होकर भक्तिपूर्ण रचना करने में प्रयत्नशील था और दूसरी ओर उसका मन संतों तथा भक्तों की माधुर्य-भाव की साधना से प्रभावित होकर शृंगार की ओर झुक रहा था। एक ओर राजस्थान में 'ढोला मारू रा दूहा' जैसा शृंगार का रसमय ग्रंथ लिखा जा रहा था और दूसरी ओर दादू पंथ से

प्रभावित साहित्य की रचना हो रही थी। साथ ही कीर्ति वर्णन की परम्परा भी अपना निर्वाह करती चली आ रही थी।

इस प्रकार डिंगल की वीरता भक्ति तथा शृंगार की बाढ़ में बही जा रही थी। ढोला की रचना सं० १५३० की मानी जाती है। वह राजस्थान का अपूर्व प्रेमगाथात्मक काव्य समझा जाता है। आज भी इस कथा का प्रचार अपनी मोहक कविता के कारण राजस्थान के घर घर में है। 'ढोला' के महत्व के एक अन्य कारण की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए मेनारिया जी का कथन है कि यह काव्य डिंगल का आदि-काव्य है। 'पृथ्वीराज रासो' की रचना वे सं० १७०० से सं० १७३२ के बीच मानते है। उनका विचार है कि "इससे पूर्व का लिखा हुआ डिंगल भाषा का कोई काव्य-ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता।" रा० भा० सा० पृ० १०३। सं० १५९१ और सं० १५९८ के बीच किसी समय सूजाजी नामक चारण ने 'राव जैतसी रो छन्द' नामक काव्य की रचना करते हुए उसमे बाबर के पुत्र कामरान तथा बीकानेर नरेश राव जैतसी के युद्ध का विशुद्ध डिंगल में वर्णन किया। सत्रहवीं शती के आरंभ में ईसरदास नामक कवि ने 'हालाँ झालाँ रा कुण्डलिया' नाम का एक वीररस पूर्ण ग्रन्थ रचा जिसे वीररस की अत्युत्कृष्ट रचना माना जाता है। इसी शती में केशवदास चारण का वीररस का 'राव अमरसिंह जी रा दूहा' तथा वेदान्त का 'विवेक-वार्त्ता' ग्रंथ तथा १६२५ के पश्चात् कविजल्ह निर्मित एक प्रेम-कहानी 'बुद्धिरासो' के नाम से उपलब्ध होती है। साथ ही भक्ति में पगी हुई रचनाओं का तो इस काल में अत्यधिक प्रचार पाया जाता है। स्मरण रहे कि हिन्दी तथा राजस्थानी साहित्य की अमर कवयित्री परम भक्त मीरा ने अपना स्वर इसी काल में जगाया था। उनकी रचनाएँ आज तक देश के कोने कोने में बड़े प्रेम से गाई जाती हैं। मीरा के उपास्यदेव कृष्ण थे और उनकी भक्ति माधुर्य-भाव की थी। इनकी कविता में भक्ति और शृंगार की गंगा-यमुना प्रवाहित है। उस में इनके हृदय का निश्छल राग, तप और वाणी का माधुर्य सभी एक साथ उतर आया है। अपने सौन्दर्य में इनकी कविता निखरी हुई है। हृदय की पीर मीरा के काव्य में पंक्ति पंक्ति में बिखरी है जिससे इनकी रचना अत्यन्त मार्मिक बन सकी है। इनके अतिरिक्त नाभादास नामक प्रसिद्ध लेखक और

भक्त, जिन्होंने 'भक्तमाल' की रचना की, भी इसी काल की विभूति हैं। रामानुज-सम्प्रदाय के भक्तकवि कृष्णदास पयहारी ने सं० १५५९ से १५८४ के बीच 'जुगल मैन चरित्र,' 'ब्रह्मगीता' तथा 'प्रेमतत्व-निरूपण' नामक तीन ग्रंथों मे भक्ति की सरिता प्रवाहित की थी। नाभादास जी के गुरु अग्रदास जी ने भी रामभक्ति का अवलम्ब ग्रहण कर कई ग्रंथों की रचना इसी काल में की थी। 'हालाँ झालाँ रा कुण्डलियाँ' के लेखक ईसरदास तो उस काल के प्रसिद्ध भक्तकवि थे। इनके विषय में राजस्थान में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं तथा इनकी प्रशंसा में इनके समकालीन कवियों की पंक्तियाँ भी मिलती हैं। १२ ग्रन्थों में इनका 'हरिरस' नामक ग्रंथ भक्ति के विचार से अपूर्व कहा जाता है। इसमे तल्लीनता, अगाध प्रेम, दृढ़ विश्वास कूट-कूटकर भरा है। पृथ्वीराज के समकालीन कवि साँया झूला चारण (सं० १६३२ से सं० १७०३ तक) के नाम पर 'रुक्मिणी-हरण' नामक काव्य प्रसिद्ध है। इनका एक दूसरा ग्रंथ 'नागदमण' भी मिला है जो 'रुक्मिणी-हरण' से सजीव और पुष्ट बताया गया है। मेनारिया जी ने हरण के ६ छन्द उद्धृत किये हैं, जिससे इस ग्रंथ की सरलता तो ज्ञात होती है किन्तु कथा की नवीनता, मौलिक प्रसंगोद्भावन आदि पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इस ग्रंथ में ४३६ छन्द हैं। 'नागदमण' भी छोटा किन्तु 'हरण' से सुन्दर काव्य है। 'हरण' के ६ पद इस प्रकार हैं:—

प्रगट्या क्रिसन वसुदेव जादव पता, श्री हुई रुखमण राव भीमक सुता ॥ १ ॥
विमळ पिता मात कुळ छात जणावियौ, लार भरतार अवतार रुखमण लियो ॥२॥
भळमळा राजहंस राजकुँवरी भली, एह छै रुखमणी रूप जुग ऊपली ॥ ३ ॥
मात पित पूत परवार बैठा मतौ, सोझियौ वाद विवाह कारण सुतौ ॥ ४ ॥
भाखियौ भीम मुख जोग चवदै भवन, कुंवर वर मूझ एक सूझै क्रिसन ॥ ५ ॥
रुखमियो जाँणि घ्रत जाळणी राळियौ, भला भीकम तुम्हें वर भाळियौ ॥ ६ ॥

पृथ्वीराज के ही समकालीन तथा अकबर के दरबार से सम्बन्धित राजस्थानी कवि दुरसाजी आढ़ा का नाम भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। दुरसाजी वीर भी थे और कई युद्धों में स्वयं गये थे तथा वहाँ उनके घायल होने की भी बात कही जाती है। यह पृथ्वीराजके ही समान आत्मसम्मानी तथा देश-भक्त थे तथा मन ही मन अकबर से चिढ़े भी रहते थे। पथ्वीराज के ही समान

यह भी महाराणा प्रताप को हिन्दू-जाति का रक्षक मानते और उनका सम्मान करते थे। राजस्थान में ये अपनी ओजमयी रचनाओं के लिये सम्मानित हैं। इन्होंने 'विरुद बहत्तरी' में अकबर को अकबरियो, अधम तथा लालची नामों से पुकारा है । इन्होंने 'वेलि' को सुनकर उसे पाँचवा वेद कहा था। १६१० या १६१५ के बीच किसी समय जन्म लेने वाले माधोदास भी उस समय वर्तमान थे और इन्होंने 'रामरासो' तथा 'भागवत दसमस्कंध' की रचना की थी। इन्होंने 'वेलि' को सुना था और उसकी प्रशंसा भी की थी। इसी समय कुशललाभ तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य परशुराम प्रेमकथा तथा निर्गुण-सगुण भक्ति की राजस्थानी तथा पिंगल में रचना कर रहे थे। परशुराम ने तो लीलाओं को लेकर कई ग्रंथों की रचना की थी।

तात्पर्य यह कि पृथ्वीराज के पूर्व तथा उनके समय में राजस्थान में कविता दो मार्गों में होकर चल रही थी । एक तो वह वीर-कविता का रूप धारण कर लेती थी और दूसरे भक्ति-साहित्य के रूप में सामने आती। पृथ्वीराज से पूर्व ही राजस्थान तथा देश के अन्य भागों में 'वेलि' की पृष्ठभूमि के लिये काम करने वाली रचनाएँ बन चुकी थीं। किन्तु डिंगल साहित्य में शृंगार-रस की या तो एक-दो प्रेमकथा ही उपलब्ध थीं अथवा वह वीरकाव्यों में वीर का सहायक ही बन कर प्रयुक्त हुआ था। वेलिकार के समय में ही जो 'हरण' लिखा गया था वह भी भक्ति के दृष्टिकोण को लेकर। मीरा के माधुर्य-भाव ने अवश्य भक्ति और शृंगार के मिश्रण की नींव पक्की कर दी थी। यही कारण है कि वेलि में जहाँ शृंगार को प्रधानता दी गई है, वहाँ भक्ति का उद्देश्य भी सम्मुख रखा गया है।

वेलि की रचना में पूर्णतया राजस्थानी पद्धति का निर्वाह किया गया है। साथ ही प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों की पद्धति का भी निर्वाह हो गया है । वेलि देशीय व्यवहार, संस्कार, ऋतु-परिवर्तन, आदि में तो राजस्थान की परम्पराओं में बठनेवाला काव्य है ही साथ ही डिंगल के छन्द, भाषा आदि के विचार से भी वह राजस्थानी पद्धति में पूरा उतरता है। एक ओर उसमें समसामयिक जीवन का प्रभाव भक्ति के रूप में फूट निकला है, दूसरी ओर काव्य के सौन्दर्य की रक्षा भी हुई है। मुझे ऐसा लगता है कि वेलि समसाम-

यिक परिस्थिति में जीवन के लिये एक सुझाव लेकर आई थी। जब एक ओर निर्गुण और सगुण धाराओं का मतभेद खड़ा हो, सगुण में ही राम और कृष्ण को लेकर पृथक् रूप में अपने अपने आराध्य को महत्व देने के लिये जब अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए हों, तथा जब प्रेमगाथा के रूप में हिन्दुओं की ही कथा और उन्हीं के नाम लेकर विदेशी सूफीवाद का घोल जनता के गले के नीचे उतारा जा चुका हो, वीर भाव दब गया हो और महाराणा के प्रति श्रद्धानत रहते हुए भी जब अकबर की प्रशस्तियाँ लिखने के लिये कवि विवश हो गया हो, अकबर के दीनइलाही की कूटनीति ने जब बहुत से राजभक्तों को प्रभावित करके हिन्दू महिलाओं से अकबर का विवाह करा देने में गौरव का आभास करा दिया हो, तब उन्हीं शक्तिशाली अकबर के दरबार में रहकर स्वतन्त्रचेता पृथ्वीराज ने मानो शृंगार, भक्ति और वीररस का सम्मिलन करते हुये वेलि की रचना द्वारा हिन्दू जनता तथा हिन्दी-साहित्य के लिये एक चेतावनी दी। उनकी वेलि ने मानो प्रेमकथा कहकर सूफी प्रेमकथाओं के प्रति होने वाले आकर्षण को रोक दिया। कृष्ण तथा रुक्मिणी के जन्मान्तर से चले आते हुए सम्बन्ध की बात कहकर उन्होंने मानो हारी हुई जनता को ईश्वर का भरोसा दिलाया और अपनी शक्ति पहचानने की आँखें दीं। कृष्ण के रामावतार आदि की चर्चा कराकर न केवल हिन्दू विश्वासों के प्रति विश्वास ही जाग्रत किया बल्कि भगवान की शरणागतवत्सलता आदि की ओर भी संकेत किया। रुक्मी को दण्ड दिलाकर उन्होंने शैतान और मदमत्त प्रबल शत्रुओं को नष्ट कर देने की इच्छा उत्पन्न करने की चेष्टा की। रुक्मिणी की लगन ने आत्मसमर्पण की ओर ध्यान आकृष्ट कराया और सूफीकाव्य के स्वरूप को भी अपने में घेर लिया, साथ ही पुष्टिमार्ग तथा ऐसे ही अन्य धर्मवाद उसकी कथा के रूप में खिल उठे और काव्य का स्वरूप भी काव्यात्मक और मोहक ही बना रहा।

वेलि का नामकरण तथा वेलि परम्परा

प्रस्तुत काव्य को कवि ने वस्तुतः 'वेलि' नाम दिया है किन्तु अन्त के दोहलों में 'रुक्मिणी-मंगल' नाम की ओर भी उनका झुकाव दिखाई देता है। यथा, 'मन सुद्धि जपन्तां रुषमणी मंगल' इसका प्रमाण है। रुषमणी-मंगल नाम के रहते हुए भी 'वेलि' नाम देने की इच्छा के मूल में कई कारण दीख पड़ते हैं। एक कारण तो कवि ने

स्वयं ही स्पष्टरूप से स्वीकार करते हुए बताया है कि उन्हें इस कथा का बीज भागवत से मिला है, वही वेलि, वल्लरी अथवा बेल के रूप में फैल कर अब इस काव्य का रूप धारण कर चुका है। इस बेल के फैलने का एक लम्बा रूपक देते हुए कवि ने कहा :—

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ, महि थाणौ प्रिथुदास मुख।
मूळ ताल जड़ अरथ मण्डहे, सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख॥
पत्र अक्खर दळ द्वाळा जस परिमळ, नवरस तन्तु त्रिधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सु भगति मंजरी, मुगति फूल फळ भुगति मिसि॥

इस प्रकार के रूपक की एक परम्परा थी और जायसी तथा तुलसी दोनों ने इस साधन का उपयोग 'पद्मावत' तथा 'मानस' में किया है। दोनों ग्रंथ किसी न किसी धार्मिक उद्देश्य से लिखे गये हैं, यह उनके रूपकों से ही स्पष्ट है। मुक्ति का द्वार खोलने वाला पृथ्वीराज का यह काव्य भी उसी परम्परा का पालन करते हुए मानो यह प्रचार करना चाहता है कि लौकिक आवरण में यह ग्रंथ भी भक्ति का ही है अथवा धार्मिक उद्देश्य से युक्त है।

एक और बात जो इस 'वेलि' नाम से प्रकट होती है, वह है लेखक का कथा के कोमल तथा मधुर भाग की ओर इंगित। 'वेलि' नाम में ही एक ऐसी लचक और मधुरता है कि काव्य का विषय खुलता-सा प्रतीत होने लगता है। काव्य की नायिका का शरीर भी कनकवेलि-सा ही है :—'कनकवेलि बिंहु पान किरि।' इस नायिका का शरीर यदि कनकछरी-सा होता तो उसके लोच और मृदुलता का पता कैसे लगता। संभव है इसी बात को लक्ष्य कर कवि ने काव्य के नाम से ही उसके विषय का ज्ञान कराने के लिये उसका नाम वेलि रखना उचित समझा। यह वेलि रुक्मिणी के हृदय को कृष्ण के हृदय से जोड़ती है। दोनों के बीच प्रेम-लता, प्रेम-वेलि फैल जाती है जिसके स्निग्ध बंधन में दोनों बँधे रह जाते हैं।

पृथ्वीराज स्वतन्त्र विचार-प्रदर्शन के प्रेमी थे और उनके समय में तथा उनसे पूर्व 'मंगल' नामक काव्यों की रचना हो चुकी थी। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने उस परम्परा से कुछ भिन्नता प्रदर्शन की भावना से इस

रूपक के आधार पर अपने काव्य का नामकरण किया होगा। 'हरण' नाम में उन्हें वह आकर्षण नहीं मिला। वे रुक्मिणी के इस सम्बन्ध को जन्मान्तर का सम्बन्ध मानकर चलते थे। जन्मान्तर का सम्बन्ध 'हरण' कहा जाय यह उन्हें प्रिय न रहा होगा। संभव था कि वे इसे 'स्वयम्वर' कहते किन्तु उनकी कथा का अन्त स्वयम्वर में नहीं कुमारोदय में होता है। अतएव वह नाम देना भी उनके लिये संभव न हुआ। कालिदास के कुमारसम्भव के आधार पर भी उन्होंने, अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखने के विचार से, इस काव्य का नामकरण न किया। संभव है राजस्थान में प्रचलित तथा प्रस्तुत काव्य में प्रयुक्त 'वेलियो गीत' छन्द के आधार पर लेखक ने इस ग्रंथ का नामकरण किया हो। राजस्थान में ऐसे काव्यों की कमी नहीं है जो छन्दों के नाम के साथ पुकारे जाते हैं। यह ग्रंथ भी राजस्थानी भाषा का है अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि स्वदेश-प्रेमी कवि ने अपने देशीय गौरव की रक्षा करने के निमित्त तथा परम्परा पालन के विचार से भी इस काव्य का 'वेलि' नाम रखना ही उपयुक्त समझा।

वेलि ग्रंथों की परम्परा

'वेलि' नाम के ग्रंथों की एक परम्परा है। इस प्रकार के ग्रंथ तीन नामों से पाये जाते हैं। कभी इन ग्रंथों को वेलि कहा गया है, कभी वल्लरी और कभी वेलि का पर्याय लता उसके स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। नाम के वैभिन्य के साथ ही साथ इन काव्यों के विषयों में भी अन्तर दिखाई देता है। कुछ वेलियाँ ऐसी हैं जो किसी आश्रयदाता के चरित्र को प्रकाश में लाने के लिये ही उनके नाम के साथ वेल या वेलि जोड़कर लिखी गई हैं, जैसे—राजकुमार अनोपसिंह री वेल, राजा रायसिंघ जी री वेल, राणा उदैसिंघ जी री वेल' राठौड़ देईदास जैतावत री वेल, राजा सूरजसिंघ जी री वेल। कभी भगवान का गुणगान करने के लिये भक्त-कवियों ने वेलि, लता और वल्लरी नामों का प्रयोग किया है। कभी कभी वैराग्य के ग्रंथों का नाम भी वल्लरी दिया गया है। इसी प्रकार लता नाम से भी एकाध काव्य किसी राजा की कीर्ति वर्णन के विषय को भी लेकर चला है। विद्यापति की कीर्तिलता नामक

पुस्तक इसी प्रकार का प्रशस्ति-काव्य है। यह ग्रंथ अवहट्ठ अर्थात् अपभ्रंश का है। ब्रजभाषा में श्री हितहरिवंश के शिष्य श्रीयुत ध्रुवदास जी की अनुराग-लता, रहस लता, प्रेमलता, तथा आनन्दलता और नागरीदास जी की राजरस-लता, अयोध्या के महाराज श्री द्विजदेव मानसिंह जी की शृंगार-लतिका, सुखदेव मिश्र—सं० १७२० से १७६० के बीच—की शृंगार लता आदि भक्ति तथा शृंगार पूर्ण काव्य, चरखारी महाराज खुमानसिंह के दरबारी कवि श्री दत्त की लालित्य लता (जो सं० १८३० के लगभग का एक अलंकार ग्रन्थ है) १८ वीं शती में घनानन्द की 'इश्कलता' तथा आधुनिक काल के श्री ठाकुर जगमोहन सिंह के संग्रह प्रेमसंपत्तिलता तथा श्यामालता आदि अनेक ग्रंथ पाये जाते हैं। १९ वीं शती की जयपुर के महाराज प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' की प्रीतिलता भी ब्रजभाषा की ही रचना है। एकाध के अतिरिक्त इन सब रचनाओं के विषय कृष्ण की लीला से सम्बन्धित हैं। किसी में उनके प्रेम का गान है, किसी में रास का। मुख्यतः शृंगार ही इनका विषय है, और उस शृंगार का सम्बन्ध है कृष्ण से। इनमें से कुछ ग्रंथ नागरीदास जैसे भक्तों की भक्तिपूर्ण रचनाएँ हैं।

इसी प्रकार वल्लरी या वेलि नाम को लेकर लिखे जाने वाले ग्रंथ भी पाये जाते हैं और इनका सम्बन्ध भी प्रायः कृष्ण अथवा राधा की भक्ति या शृंगार वर्णन से ही है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध प्रेमी कवि घनानन्द के नाम से १८वीं शती के दो काव्य 'रस केलि वल्ली' तथा 'वियोग वेलि' नाम से उपलब्ध होते हैं। इसी शती के लिपि किये गये दो काव्य 'मनोरथ वल्लरी' नाम से श्रीयुत मोतीलाल जी मेनारिया को उपलब्ध हुए हैं, जिनका उल्लेख उन्होंने 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' नामक ग्रंथ के प्रथम भाग के १०० तथा १०१ पृ० पर किया है। इन दोनों के लेखक क्रमशः तुलसीदास तथा रामराय बताये गये हैं। इनमें से तुलसी दास की मनोरथ वल्लरी का लिपिकाल सं० १७९३ है और रामराय की मनोरथवल्लरी की प्रतिलिपि १७८९ की है। अनुमान किया जा सकता है कि यह रचनाएँ उससे काफी समय पहले की हैं और प्रसिद्ध होने पर उनकी प्रतिलिपियाँ भी की गईं। तुलसीदास की वल्लरी का रचनाकाल इस प्रकार है :—

वेद सप्त रिष चन्द्र पुनि, संवत् ताकौ मास ।
सावन बदि तिथि पंचमी, वल्लरी कीयौ प्रकास ।।

इसकी पद्य-संख्या १९१ है तथा विषय राधाभक्ति-वर्णन रखा गया है । राम-राय की वल्लरी का विषय कृष्ण-लीला है। दोनों की भाषा ब्रजभाषा है। पहली कृति केवल दोहों में है और दूसरी दोहे-चौपाई में। सं० १७५६ से १८५६ के बीच रहनेवाले भक्तवर नागरीदास के वैरागवल्लरी तथा कलि वैरागवल्लरी ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। यह ग्रंथ क्रमशः १७८२ तथा १७९५ के हैं, और ब्रजभाषा में लिखे गए हैं। इन्हीं नागरीदास के भाई बहादुरसिंह के यहाँ रहनेवाले हित वृन्दावनदास जी ने, जो बाद को ब्रजभाषा के श्रष्ठ भक्त-कवियों में गिने गये, वेलि नामक कई ग्रंथों की, कृष्ण-लीला सम्बन्धी विषय को लेकर, रचना की। कृष्ण गिरि पूजन वेलि, श्रीहितरूप चरित वेलि, आनन्द-वर्द्धन वेलि, राधाजन्म उत्सव वेलि, भक्त सुजस वेलि, करुणावेलि, हरिकला वेलि तथा वेलि नामक उनके ८ ग्रन्थों का पता लगता है। ब्रजभाषा का माधुर्य, पदावली की कोमलता, शुद्धता और सरलता सराहनीय है। उपरि-लिखित वेलियों में से श्रीहितरूप चरित वेलि इनके गुरु श्रीहितरूप जी के प्रति उनके चरित को लेकर लिखी गई जान पड़ती है, शेष का विषय भक्ति से सम्बन्धित है। इसी प्रकार प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' की दुखहरण वेलि भी प्राप्त होती है। यह समस्त वेलियाँ ब्रजभाषा में हैं। राजस्थानी भाषा की वेलियों के नाम पहले लिये जा चुके हैं जो प्रायः राजाओं की प्रशस्तियाँ हैं।

सारांश यह कि वेलि लिखने की एक परम्परा भक्त-कवियों के बीच रही है और पृथ्वीराज के पश्चात् की समस्त वेलि राधा कृष्ण की लीलाओं के भक्तिपूर्ण वर्णनों को लेकर चली हैं। एकाध वेलि ही ऐसी है जो किसी अन्य विषय को लेकर चली हो। इनकी भाषा ब्रजभाषा है और छन्द दोहे, चौपाई अथवा कवित्त सवैया हैं। हमारा विचार है कि इस परम्परा को देखते हुए, वेलि के नामकरण के मूल में वेलियो गीत की भावना है, यह धारणा बहुत ठीक नहीं जान पड़ती। वेलि नाम का सम्बन्ध भक्ति से अधिक है, फिर चाहे वह किसी भी छन्द अथवा किसी भी भाषा में क्यों न हो। दूसरे, वेलि नामक जितने ग्रंथ ब्रजभाषा में उपलब्ध हैं, उतने राजस्थानी में नहीं। साथ ही इनके लेखक

प्रायः राजस्थान के कवि हैं। यदि उनके सामने वेलियो गीत से ही वेलि के सम्बन्ध की बात होती तो वे भी उसी छन्द में रचना करते, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इन वेलियों में प्रायः एक ही विषय—भक्ति अथवा शृंगार—की स्थापना भी इस बात का प्रमाण है कि वेलि नाम का सम्बन्ध भक्ति की कोमल भावना अथवा शृंगार की माधुर्य भावना से अधिक है, किसी छन्द से उतना नहीं। जिन कृतियों का सम्बन्ध इस वेलियो गीत से है, वह केवल राजप्रशस्तियाँ मात्र हैं। अतएव वेलि का नामकरण वस्तुतः कृष्ण तथा रुक्मिणी के बीच कोमल प्रेम सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये ही हुआ प्रतीत होता है। कवि ने अपने हृदय में उत्पन्न भक्ति रूपी बेल पर ही मुख्यतः दृष्टि रखी है, यह और बात है कि यह वेलियो गीत को भी लेकर चला है। आगे चलकर भाषा का भेद-भाव न करते हुए राजस्थान के भक्त-कवियों ने कृष्ण की भक्ति तथा शृंगार के वर्णन के रूप में वेलि ग्रंथों द्वारा इसी वेलि की परम्परा को ही निबाहने की चेष्टा की है। अपने हृदय में उत्पन्न भक्ति-वेलि को निरन्तर पालते, रक्षा करते और बढ़ाते रहने का ही प्रयत्न किया है। अभिप्राय यह है कि, पृथ्वीराज का यह ग्रंथ एक परम्परा की स्थापना करता है, जिसे राजस्थान तथा व्रज-मण्डल के भक्त-कवियों ने आगे तक निबाहने का प्रयत्न किया है। पृथ्वीराज के द्वारा लगाई हुई इस वेलि को ये भक्त कवि नित्य सींचते रहे।

वेलि का रचनाकाल

वेलि के सम्पादकों ने अभीतक एकमत से इसका रचनाकाल सं० १६३७ ही स्वीकार कर लिया है। सं० १९७३ में प्रकाशित वेलि के सम्पादक श्रीयुत डा० टैसीटरी तथा सं० १९८८ में हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित संस्करण के सम्पादक-द्वय श्रीयुत ठा० रामसिंह तथा श्री सूर्यकरण जी पारीक ने अपने ग्रंथों में वेलि का रचनाकाल सं० १६३७ ही स्वीकार किया है। डा० टैसीटरी ने आठ तथा रामसिंह जी ने चार अन्य प्रतिलिपियों से सहायता ली थी। उन सब में उन्हें एक ही संवत् मिला, जिसका उल्लेख दोहला सं० ३०५ के रूप में वेलि के अन्त में किया जाता रहा है। डा० रामकुमार वर्मा ने भी इन्हीं के आधार पर वेलि का रचनाकाल १६३७ स्वीकार किया है। पारीक जी का तो निश्चय है कि—"अन्तिम दोहले ३०५ में कवि ने प्रथानुसार

ग्रंथ-समाप्ति का समय सं० १६३७ बता दिया है। इस सं० के विषय में किसी प्रकार के अपवाद अथवा विवाद को स्थान नहीं है।" जिस दोहले का आधार यहाँ लिया गया है वह इस प्रकार है :—

वरसि अचळ गुण अंग ससी संवति, तवियौ जस करि श्री भरतार।
करि श्रवणे दिन रात कंठ करि, पामै स्त्री फळ भगति अपार॥

इसमें अचल से ७, गुण से सत्वादि केवल ३, अंग से ६ वेदांग तथा शशि से १ चन्द्र की संख्या मानकर यह संवत् स्थिर किया गया है।

राजस्थान के प्रसिद्ध लेखक मेनारिया जी की अपनी शोध में 'वेलि' की कई हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर के सरस्वती भण्डार में देखने को मिलीं हैं, जिनके कारण इस सं० के विषय में एक सन्देह खड़ा हो गया है। इन तीनों प्रतियों में रचनाकाल सं० १६४४ दिया गया है। प्रथम प्रति का लिपिकाल सं० १७०१, चैत्र शुक्ला ४, शनिवार तथा पद्य-संख्या केवल ३०३ है। दूसरी प्रति सं० १७२७ की बहुत फटी हुई दशा में है। इसमें ३०१ पद्य हैं। तीसरी का लिपिकाल सं० १७९५, कार्तिक सुदी ७, सोमवार तथा पद्य-संख्या ३०१ है। इनमें से अन्तिम दो की २८६ पद्यों तक टीका है। संख्या १ तथा ३ प्रति की टीकाएँ एक सी हैं परन्तु दोनों के अन्तिम भाग में अन्तर है। इन तीनों प्रतियों में संवत् का उल्लेख क्रमशः इस प्रकार हुआ है :—

प्रति १ :—सोलह सै संवत चमालै वरसै, सोम तीज वैसाख सुदि।
रुक्मिणी कृष्ण रहस्य रमण रस, कथी वेलि पृथ्वीराज कमंधि॥

प्रति २ :—सोलह सै संवत् चमालै वरषै, सोम तीज बैसाख समंधि।
रुषमणि क्रित रहसि रमंता, कही वेली पृथ्वीदास कविंध॥

प्रति ३ :—सौलै सै संवत चौमाली सै वरसै, सोम तीज वैसाष सुदि।
रुकमणी धरा रहस्य ईसरमत, कही बेलि प्रिथीदास कमंध॥

इन प्रतियों में इस प्रकार स्पष्ट रूप में संवत् १६४४ स्वीकार किया गया है। इन दोनों संवतों में केवल सात वर्ष का अन्तर पड़ता है। इस सम्बन्ध में किसी भी एक पक्ष में निर्णय देने में कई कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं। सबसे पहली और प्रधान कठिनाई है इतिहास की ओर से की गई उपेक्षा। पृथ्वीराज की

अकबर के दरबार से सम्बन्धित थे, उनका उल्लेख नहीं किया। आईने अकबरी में उनकी उपेक्षा की गई है। यदि उनके इस ग्रंथ के सम्बन्ध में कुछ प्रशंसात्मक उक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, तो वह भी वेलि के रचनाकाल का उल्लेख नहीं करतीं। अतएव किसी बहिर्साक्ष्य के अभाव में इस संवत् का विचार बड़ा कठिन प्रतीत होता है। फिर भी इस विषय को कई प्रमाणों से सुलझाने का प्रयत्न किया जा सकता है। सबसे अधिक सहायता ज्योतिष की गणना की ली जा सकती है। यदि यह सं० तथा दिन आदि का उल्लेख ज्योतिष से ठीक उतरता हो तो इस दूसरी तिथि को स्वीकार किया जा सकताहै। दूसरा साधन, जो तिथि-निर्णय में हमारा कुछ सहायक हो सकता है, वह है रचनाकाल लिखने की प्रथा। तीसरे, यह भी विचार बहुत उपादेय सिद्ध हो सकता है कि हम इस प्रकार के मंगलों की रचना-तिथि और उनकी परम्परा में 'वेलि' का स्थान खोजकर रचनाकाल का अनुमान करें। इन साधनों के अतिरिक्त भक्त-माल आदि के उल्लेखों पर भी विचार किया जा सकता है।

ज्योतिष के विचार से गणना के अनुसार सं० १६४४ की वैशाख सुदी ३ को रविवार पड़ता है। मेनारिया जी का कहना है कि "इण्डियन एफेमेरिस के अनुसार उस तिथि पर रविवार ही होता है। किन्तु गणना में इस प्रकार का अन्तर सम्भावित है।" अतएव उनकी सम्मति है कि सं०१६३७ को रचना का आरंभ काल तथा १६४४ को उसका समाप्ति काल मानना चाहिये। (देखिये, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १२४)।

'वेलि' मंगलों की एक परम्परा विशेष से सम्बन्धित है। उनसे पूर्व ही नन्ददास, तुलसीदास तथा नरहरि के रुक्मिणी-मंगल प्रकाश में आ चुके थे। नरहरि १६३७ तक भी ७५ वर्ष की अवस्था पर पहुँच चुके थे। ऐसी अवस्था में उनका किसी प्रबन्ध की रचना करना संभव नहीं प्रतीत होता। साथ ही नरहरि का मंगल एक मामूली रचना है जो परिणत वय के व्यक्ति की नहीं अल्पवयस्क प्रयत्नशील कवि की ही रचना हो सकती है। अतएव उनका मंगल 'वेलि' से बहुत पूर्व का है। तुलसीदास वेलिकार के समकालीन थे और उस समय तुलसी का यश:-सूर्य परमोन्नति प्राप्त कर चुका था। तुलसीदास ने पार्वती-मंगल तथा जानकी-मंगल, दो दो मंगल-काव्यों, की रचना की है। पार्वती-

मंगल की रचना-तिथि सं० १६४३ है। इससे पूर्व अथवा इसीके साथ जानकी मंगल की भी रचना हुई, ऐसा इतिहासकार मानते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने जानकी-मंगल की रचना तिथि भी १६४३ ही मानी है। उनके इस मत को स्वीकार करते हुए यह कहा जा सकता है कि संभवतः पृथ्वीराज को तुलसी के इन्हीं मंगलों से अपनी रचना की प्रेरणा मिली होगी। विशेषतः पार्वती-मंगल को देखकर उनकी इच्छा हुई होगी कि कालिदास के कुमारसम्भव के समान ही यदि तुलसी भी मंगल की रचना करते तो अच्छा होता। परिणामस्वरूप उन्होंने गोविन्द की कथा के उस स्थल को ढूंढ़ निकाला, जहाँ उनके शृंगार का वर्णन भी किया जा सके और मर्यादा की रक्षा भी हो जाय। स्वतन्त्र विचारक होने के कारण ही उन्होंने रुक्मिणी-मंगल लिखने की चेष्टा की, क्योंकि उनसे पूर्व लिखे गये मंगल एकदम उच्चकोटि की रचना नहीं थे। अतएव यदि यह कल्पना ठीक मान ली जाय तो यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि 'वेलि' की रचना १६४४ में हुई है। तुलसी ने उनका अनुकरण किया हो यह संभव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि तुलसी तब तक जानकी मंगल की रचना कर चुके थे और एक मंगल के समान ही वे दूसरा मंगल लिखने की ओर भी अपने आप प्रवृत्त हुए होंगे। तात्पर्य यह कि 'वेलि' को तुलसी के पार्वती मंगल के पश्चात् की रचना स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इस तर्क को काल्पनिक कहकर टाला भी जा सकता है।

तिथि लिखने की प्रथा पर यदि ध्यान दिया जाय तो सं० १६४४ ही वेलि का रचनाकाल ठीक ठहरता है। पार्वती-मंगल की रचना करते हुए तुलसी ने उसके तिथिकाल आदि का इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख किया है।

जय संवत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु-छिनु॥

नरपति की प्रसिद्ध डिंगल रचना बीसलदेव रासो का तिथि-उल्लेख भी इसी प्रकार स्पष्ट रूप से दिन आदि बताकर यों किया गया है:—

बारह सै बहोतराहाँ मझारि, जेठ वदी नवमी बुधवारि॥

डिंगल ग्रंथों अथवा राजस्थान के कवियों द्वारा लिखे गये ग्रंथों में इसी प्रकार संवत् देने की प्रथा बाद में भी चलती रही है। जोगीदास नामक

चारण कवि ने अपने हरिपिंगल प्रबन्ध नामक छन्द शास्त्र के डिंगल ग्रंथ का रचना काल देते हुए इसी प्रथा का अनुसरण किया है। यथा,

संवत सतर इकवीस में, कातिक सुभ पख चंद।
हरिपिंगल हरिअंद जस, वणियौ खीरसमंद॥

इसी प्रकार बुधसिंह तथा हमीर नामक अठारहवीं शताब्दी के रीतिग्रन्थ लेखकों ने भी अपने अपने ग्रथों के संवत् तथा दिन आदि का स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है :—

१—सतरहसै चौरासिया, नवमी तिथि ससिवार।
शुक्ल पक्ष भादों प्रगट, रच्यौ ग्रंथ सुख सार॥
२—संवत सत्तर छिनुऔ पणां तस वरस पटंतर।
तिथि उत्तिम सातिम्म वार उत्तिम गुरुवासर॥

सारांश यह कि तिथि के उल्लेख की एक विशेष परम्परा है जो डिंगल ग्रंथों में वेलि से पूर्व से उसी प्रकार चली आ रही है और उसके बाद भी उसीका अनुसरण होता रहा है। हिन्दी की अन्य भाषाओं में भी इसका पालन करने की चेष्टा हुई है। इस विचार से वेलि जहाँ अन्य परम्पराओं का पालन करती है वहाँ इस परम्परा का तिरस्कार करेगी, यह संभव प्रतीत नहीं होता। अतः वेलि की रचना-तिथि १६४४ ही उचित जान पड़ती है।

पृथ्वीराज का उल्लेख भक्तमाल में हुआ है। उस ग्रंथ में उल्लेख होने का अर्थ है कि पृथ्वीराज पहले से पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके होंगे। किन्तु इसका रचनाकाल १६४२ से १६८० तक माना गया है। अतएव 'वेलि' की रचना को १६४२ से पूर्व ही मानने की कोई आवश्यकता विशेष प्रतीत नहीं होती।

वेलि की कथा का आधार

उपनिषद् भारतीय ज्ञान के केन्द्र तथा पुराण भारतीय-जीवन, इतिहास और कल्पना के संरक्षक हैं। उपनिषदों की वाणी से ढलता हुआ ज्ञान दर्शन के क्षेत्र में पदार्पण करता है और पुराणों में संकलित इतिहास भारतीय कवि के कण्ठ में बसकर कविता का रस-स्रोत उमड़ाता, कण्ठ से कण्ठ में तैरता, मधु बरसाता जनमन को रसप्लावित करता है। प्राचीन भारतीय-साहित्य के

अन्यतम प्रतिष्ठित काव्य-ग्रन्थों का मूलाधार यही पुराणों की भूमि है। यहीं से भारतीय प्राचीन काव्य को जीवन-रस प्राप्त हुआ है। यहीं से रस पाकर बड़े-बड़े आख्यान-काव्य पल्लवित हुए हैं। हिन्दी का प्राचीन-काव्य भी—विशेषतः भक्ति-काव्य— इसी पुराणों की धरा से अपने पोषण की सामग्री प्राप्त करता रहा है और समय असमय आने वाले अनेक झंझावात भी उसके उन्मूलन में असमर्थ रहे हैं। हिन्दी का सबसे अधिक समृद्ध और परिपुष्ट साहित्य भक्ति का साहित्य है। इस साहित्य का परिपोष इसी पुराण की भूमि पर होता आया है। इसी प्रकार 'वेलि' भी पुराणों से ही अपनी कथा की सामग्री लेकर फलित और पुष्पित हुई है।

'वेलि' की कथा का मूल आधार **भागवत** में वर्णित रुक्मिणी विवाह का प्रसंग है। लेखक ने इस विषय में स्वयं भागवत का ऋण स्वीकार किया है :—

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ, महि थाणौ प्रिथुदास मुख।
मूळ ताल जड़ अरथ मण्डहे, सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख॥
पत्र अक्खर दळ द्वाळा जस परिमळ, नव रस तन्तु त्रिधि अहो निसि।
मधुकर रसिक सु भगति मंजरी, मुगति फूल फळ भुगति मिसि॥

तुलसी के प्रसिद्ध मानस-रूपक के समान ही कवि ने यहाँ रूपक का सहारा लेकर कथा के बीज से लेकर उसके उद्भव विकास तथा पल्लवित एवं पुष्पित होने तक की बात इन दोहलों में कही है। इस वल्ली का बीज भागवत में पाया गया और उसका वपन पृथ्वीराज के हृदयस्थल में हुआ। उनके मुख-रूपी आलबाल से यह भक्ति की बेल फूटी। इस बेल के मूल दोहलों की लय तथा संगीत ही इसकी जड़ें हैं, उन्हीं के आधार पर यह स्थिर है। इसके भाव तथा अर्थ रूपी मण्डप पर ही यह काव्य-वल्ली विकसित हो रही है। 'वेलि' के अक्षर ही इसके पत्ते हैं तथा भगवान् का गुणगान इसकी मनहर सुगन्धि है। इसके अन्तर्गत आनेवाले नवरस इसके तन्तु-जाल हैं। इसके सहृदय पाठक वल्ली के रस-लोभी भ्रमर के समान हैं, भक्ति ही मंजरी है। इसके पाठ के द्वारा मिलन वाली मुक्ति इसका सुगन्धित पुष्प है, यह वेलि समस्त सुख तथा ऐश्वर्य की साधन-स्वरूपा ह। भक्त के हृदय में भक्ति रूपी सघन छाया करके यह उसे सुख-शान्ति प्रदान करने वाली है।

वेलिकार ने भागवत के जिस बीज का वर्णन किया है वह भागवत के ५२वें अध्याय से लेकर ५५वें तक आपको प्राप्त होगा। भागवत में दी गई इस कथा का संक्षेप में यहाँ उल्लेख किया जाता है :—

विदर्भनरेश भीष्मक के पाँच पुत्र तथा छठी एक पुत्री है। उनकी पुत्री ने किसी से कृष्ण के गुणों का श्रवण कर लिया है और उनपर मुग्ध होकर उन्हें अपना पति मान बैठी हैं। दूसरी ओर कृष्ण ने भी उसके गुण-श्रवण करने पर यह जानकर कि वह अपने ही सदृश शीलादि गुणयुक्त है, उसे वरण करने का मन ही मन निश्चय कर लिया। भीष्मक के पुत्र रुक्मी ने विवाह का समय आने पर रुक्मिणी का सम्बन्ध शिशुपाल से स्थिर कराने का हठ अपने पिता से किया। रुक्मिणी ने अपने मनोभाव प्रकट करते हुए एक ब्राह्मण को सन्देश देकर कृष्ण के पास द्वारिका भेजा। प्रतीहार द्वारा उसका प्रवेश कराए जाने पर श्रीकृष्ण ने उसका स्वर्णसिंहासन से उतरकर सम्मान किया तथा उसके भोजनादि के पश्चात् उसके पैर दबाते हुए उसके आगमन का कारण पूछा। ब्राह्मण ने रुक्मिणी की ओर से मौखिक सन्देश दिया और तीसरे ही दिन होनेवाले रुक्मिणी के विवाह की सूचना दी। अम्बिकापूजन की चर्चा के साथ रुक्मिणी ने सन्देश द्वारा स्वयं राक्षस विधि से हरण करने का प्रस्ताव किया था। भगवान् ने अपनी विकलता का वर्णन किया। उनकी बातों से यह भी यहीं प्रकट हो गया कि रुक्मी द्वारा किये गये अपने विरोध का भी उन्हें ज्ञान है। द्विज को साथ ले दारुक से रथ जुड़वाकर उन्होंने प्रस्थान किया और एक ही रात्रि में विदर्भ पहुँच गए। इधर राजा भीष्मक ने रुक्मी की हठ के कारण शिशुपाल को विवाह का प्रस्ताव भेज दिया जिसके पाते ही शिशुपाल वहाँ आ पहुँचा। नरेश स्वयं उसकी अभ्यर्थना करने के लिये उपस्थित हुए। शिशुपाल के पहुँचने से भी पूर्व नगर की साज-सज्जा कर दी गई थी। शिशुपाल की सहायता के लिये मगध-राज जरासंधादि भी वहाँ आए। उन्हें पूर्व से ही यह शंका थी कि कृष्ण रुक्मिणी का हरण करने के लिये आयेंगे। दूसरी ओर कृष्ण को भी अकेला गया हुआ जान कर, शत्रुओं के उद्यम को सुन कर कलह की शंका से शंकित सेना सहित बलराम भी कृष्ण की सहायता के लिए उनके पीछे पहुंच गये। कृष्ण के कुण्डिनपुर पहुँचने में विलम्ब होते देखकर रुक्मिणी अत्यन्त चिन्तातुर

हो गईं। उनके नेत्रों में अश्रु आ गए। किन्तु इसी समय उन्हें शुभ शकुन हुए तथा अपने द्वारा दूत बनाकर भेजे हुए ब्राह्मण के भी दर्शन हुए। विप्र को प्रसन्न-वदन देख रुक्मिणी ने उससे कृष्ण के सम्बन्ध में प्रश्न किया और उन्हें आया जानकर ब्राह्मण के बहाने उनके प्रति नमस्कार किया। नरेश ने बलराम आदि का भी ससैन्य सानुराग सम्मान किया तथा उनके दर्शनों के लिये पुरवासी अत्यन्त उत्सुक हो उठे। कृष्ण के आगमन की सूचना पाकर रुक्मिणी सखियों, गुप्तचरों, राजशूरों तथा सन्नद्ध सैनिकों से परिवृत्त हो पैदल ही भवानी के दर्शन के लिये गईं। साथ में अनेक वस्त्रालंकारों से सुसज्जित द्विजपत्नियाँ, गाते स्तुति करते गायक, वाद्यवादक तथा सूतमागध वन्दी आदि भी चले। वहाँ अनेक प्रकार से देवी का पूजन किया। रुक्मिणी मन ही मन मुकुन्द-चरणों का स्मरण करती जाती थीं। (इस स्थल पर भागवतकार ने रुक्मिणी को श्यामा नारी बताते हुए उनके नखशिख का वर्णन किया है।) उनके देवमाया सदृश रूप-सौन्दर्य को देखकर वीरों को भी मूर्च्छा आ गई। ऐसी स्थिति में कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया। शत्रुदल विवश सा देखता ही रह गया। हरण हुआ देखकर शत्रुदल ने युद्ध करने के विचार से कृष्ण को घेर लिया। रुक्मिणी कृष्ण को घिरा देखकर घबरा उठी किन्तु शत्रुदल पराजित होकर शिशुपाल के पास लौट गया। अपनी पराजय के कारण लज्जित होकर शिशुपाल के समस्त सहायक अपने अपने नगर को भाग गये। किन्तु रुक्मी ने कृष्ण को पराजित करने की प्रतिज्ञा करके कृष्ण पर पुनः आक्रमण किया। कृष्ण ने रुक्मी को पराजित करके उसका वध करना चाहा किन्तु रुक्मिणी ने अपने भाई की मृत्यु से भयभीत होकर कृष्ण के चरण पकड़ लिये। कृष्ण ने उसको प्राणदण्ड न देकर उसके केश उतार लिये। बलराम ने इस कार्य को अनुचित मानकर श्रीकृष्ण की भर्त्सना की। साथ ही उन्होंने रुक्मिणी को भी प्रबोध दिया। रुक्मी ने पराजित और अपमानित होकर कुण्डिनपुर में जाना उचित न समझ भोजकट नामक एक अन्य नगर बसाया और वहीं रहने लगा। कृष्ण ने रुक्मिणी के साथ विधिवत् विवाह किया। द्वारिका नगरी उत्सवमग्न हो उठी।

भागवत की इस कथा की कितनी रक्षा वेलिकार ने की है तथा कितना काव्य-कौशल एवं अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन उन्होंने कथा के संघटन करने में

किया है, इसका विचार करने से पूर्व यहाँ इस प्रसंग का जिन अन्य दो स्थलों पर वर्णन हुआ है उसका उल्लेख करना उचित होगा।

रुक्मिणी-विवाह का यह प्रसंग विष्णुपुराण तथा हरिवंशपुराण में भी क्रमशः ५वें अध्याय के २६ वें खण्ड तथा ५९ एवं ६०वें अध्यायों में भी आया है हरिवंशपुराण में कुल मिलाकर इस प्रकार के प्रसंग को लेकर १२६ श्लोकों का निर्माण हुआ है।

विष्णुपुराण में दी गई कथा भागवत की कथा से विस्तार में बहुत कम है और इसे इतिवृत्त मात्र कहा जाना अनुपयुक्त न होगा। इस प्रसंग में रुक्मिणी का देवदर्शन के लिये जाना, रुक्मिणी द्वारा कृष्ण के समीप ब्राह्मण द्वारा प्रस्ताव भेजना, युद्ध का विस्तृत वर्णन, राजाओं का पराजित होकर शिशुपाल के पास जाना आदि कथाओं का वर्णन नहीं किया गया है। जिससे नागरिकों की उत्सुकता, रुक्मिणी की आतुरता, युद्ध की भयंकरता आदि का वर्णन नहीं हो सका है और कथा अत्यन्त संक्षिप्त रह गई है। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि रुक्मी द्वारा इस पुराण में, कृष्ण से युद्ध करने जाने से पूर्व, यह प्रतिज्ञा कराई गई है कि वह यदि कृष्ण को पराजित न कर सका तो कुण्डिनपुर में प्रवेश नहीं करेगा। भागवत में इस प्रकार की किसी प्रतिज्ञा का उल्लेख नहीं है। इस ग्रंथ में रुक्मी को दिये गये दण्ड का भी उल्लेख नहीं किया गया है। भागवतकार ने रुक्मिणी के साथ कृष्ण के विधिवत् विवाह मात्र का उल्लेख किया है, किन्तु विष्णुपुराणकार ने उसे स्पष्ट शब्दों में राक्षस-विवाह बताया है :—निर्जित्य रुक्मिणं सम्यगुपयेमे स रुक्मिणीम्। राक्षसेन विवाहेन संप्राप्तां मधुसूदनः॥ इस विवाह के आगे मदनांश प्रद्युम्न के जन्म का भी उल्लेख वि० पु० के लेखक ने किया है।

हरिवंशपुराण में इस कथा का कुछ दूसरा ही रूप प्राप्त होता है। उसका ५९वाँ अध्याय रुक्मिणी-हरण के प्रसंग में ही लगाया गया है और ६०वें में रुक्मि की पराजय का वर्णन हुआ है। यहाँ भी गुण-श्रवण के कारण दोनों ओर प्रेम प्रदर्शित किया गया है, किन्तु कृष्ण तथा बलराम यहाँ केवल शिशुपाल का विवाह देखने की इच्छा से आये हैं और विवाह के पूर्व मन्दिर के समीप रुक्मिणी को देखकर उसके सौन्दर्य पर विमुग्ध कृष्ण, बलराम के परामर्श

से, मन्दिर के बाहर ही उसका हरण करते हैं। यह मन्दिर इस ग्रंथ में इन्द्राणी का बताया गया है। हरण के पश्चात् जरासंधादि से युद्ध का उल्लेख किया गया है। रुक्मी कृष्ण से युद्ध करके पराजित होता है और कृष्ण से अभय-दान की प्रार्थना करता है। यह अभय-प्रार्थना का प्रसंग भी इस ग्रंथ में नया ही है। पराभूत रुक्मी ने भोजकट नामक नगर की स्थापना की और वहीं रह गया। कृष्ण ने द्वारिका पहुँचकर रुक्मिणी से विधिवत् विवाह किया।

वेलि की कथा

'वेलि' का आरम्भ मंगलाचरण से होता है। मंगलाचरण के अनन्तर कवि ने अपनी असमर्थता का वर्णन करते हुए यह सूचना दी है कि यह शृंगार-ग्रंथ है और प्राचीन मान्य पद्धति के अनुसार शृंगार-ग्रंथ के रचनाकार को पहले स्त्री का ही वर्णन करना चाहिये। अतएव उसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए 'वेलि' में भी पहले रुक्मिणी—कथा की नायिका—का ही वर्णन किया गया है।

मंगलाचरण आदि की रूढ़ि का परिपालन करने के अनन्तर ही वेलि की कथा का आरम्भ होता है। नियमानुसार कवि ने पहिले रुक्मिणी के माता-पिता तथा भाइयों का वर्णन करने के अनन्तर उसके जन्म तथा रूप-सौन्दर्य का बड़ा ही रमणीय कल्पना-रंजित चित्रण किया है। रुक्मिणी की शनैः शनैः विकास प्राप्त करते हुए अंगों के छिपाने की इच्छा तथा उसके लज्जानुभव का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया गया है। रुक्मिणी न केवल रूपवती है बल्कि विविध-शास्त्रादि-ज्ञान से भी मंडित है। उसकी बढ़ती आयु को देखकर उसके पिता माता को उसके विवाह की चिन्ता होती है। उन्होंने किसी से कृष्ण के गुण, रूप-लावण्य, तेज आदि गुणों की प्रभूत प्रशंसा सुनकर उन्हीके साथ रुक्मिणी के विवाह करने का निश्चय किया। रुक्मिणी भी कृष्ण पर मुग्ध थीं। किन्तु रुक्मी ने निर्लज्ज भाव से अपने माता-पिता की निन्दा करते हुए उनकी इच्छा तथा आज्ञा की अवज्ञा करके चेदि-नरेश शिशुपाल को विवाह के लिए निमन्त्रित कर दिया। रुक्मि का सन्देश पाकर शिशुपाल कुन्दनपुर आ जाता है और भीमक—भीष्मक—राजा उसका स्वागत करते हैं। कुन्दनपुर नगर की उस समय भी शोभा दर्शनीय है। व्यथिता रुक्मिणी का पत्र लेकर ब्राह्मण

द्वारिका की ओर प्रस्थान करता है, किन्तु कुन्दनपुर से बाहर जाते जाते सन्ध्या हो जाने के कारण अन्य पथिकों के समान ही वह भी मार्ग में ही सो जाता है। प्रातःकाल जगने पर वह अपने को द्वारिका में देखकर भगवत्कृपा पर चकित हो उठता है। पूछते पूछते ब्राह्मण अन्तःपुर में पहुँच जाता है। कृष्ण उसे दूर से ही देखकर स्वागत के लिए दौड़ पड़ते हैं। अनेक प्रश्नों के अनन्तर विप्र उत्तर में उन्हें रुक्मिणी का पत्र देता है, किन्तु वह प्रेमोल्लास के कारण स्वयं न पढ़कर विप्र से ही पढ़वाते हैं। पत्र का सार ग्रहण कर तुरन्त ही रथ जुड़वा विप्र को साथ ले कृष्ण कुन्दनपुर के लिये प्रस्थान करते हैं। कृष्ण के आने में विलम्ब देखकर इधर रुक्मिणी अत्यन्त चिन्तित और उदास थी कि कृष्ण का आगमन सन्देश लेकर रुक्मिणी के पास विप्र जा पहुँचा। उसे दूर से आते देखकर उसकी चेष्टा से ही उसके हृद्गत भावों का पता लगा लेने की जो चिन्ता रुक्मिणी को हुई उसका मार्मिक तथा चित्रमय वर्णन इस स्थल पर कवि ने किया है। इसी बीच कृष्ण को कुन्दनपुर गया जानकर बलराम भी उनकी सहायता के लिये अपनी सेना लेकर पहुँच जाते है। जनता देखने के लिये उमड़ पड़ती है। रुक्मिणी सुअवसर जानकर सखियों द्वारा माता से अम्बिका-पूजन की आज्ञा लेकर अनेक सखियों तथा रक्षकों से घिरी हुई अम्बिकालय जाती है। कृष्ण भी उसके पीछे जाते हैं। अम्बिकापूजन के पश्चात् रुक्मिणी सेनाओं पर दृष्टिपात करती है जिसके कारण सब उस माया से अभिभूत होकर चकित थकित से खड़े रह जाते हैं। कृष्ण रुक्मिणी को रथ में बैठा लेते हैं। तभी जैसे सेनाओं को संज्ञा आती है और वे ललकार कर युद्ध के लिये सन्नद्ध होते हैं। घमासान युद्ध में जरासंधादि शिशुपाल के सहायकों के पराजित हो जाने के अनन्तर स्वयं रुक्मी युद्ध के लिये उपस्थित होता है और अन्त में वह भी कृष्ण के द्वारा पराजित होता है। कृष्ण ने उसकी हत्या न करके उसके केश उतार कर उसे विरूप कर दिया। यह देखकर बलराम ने कृष्ण की भर्त्सना की। कृष्ण ने प्रसन्न हो कर रुक्मी के सिर पर हाथ रखकर उसे फिर स्वस्थ कर दिया। तदनन्तर अपनी सेना लेकर कृष्ण तथा बलराम द्वारिका गये; जहाँ उनकी बड़ी प्रतीक्षा, द्वारिकानिवासियों द्वारा, की जा रही थी। स्वागत के पश्चात् देवकी तथा

वसुदेव ने ब्राह्मण से कृष्ण के विधिवत् विवाह के लिये मंगल तिथि पूछी। ब्राह्मण ने कहा कि जिससे एक बार विवाह हो चुका है कहीं उसीसे बार बार भी विवाह होता है ? फिर भी संस्कार करना ही है तो जिस समय हरण हुआ था उस समय पाणिग्रहण तो हो ही चुका है, अब केवल शेष संस्कार पूरे कर दिये जाँय। ऐसा ही किया गया। शेष संस्कार के पूरा हो जाने के अनन्तर कवि को शृंगार-वर्णन का उन्मुक्त अवसर प्राप्त होता है। यहाँ से प्रथम मिलन, रति-श्रान्ता की दशा, रतिक्रीड़ा के अन्त में प्रातःकालीन दृश्य और ऋतु आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस वर्णन के पश्चात् रुक्मिणी के गर्भधारण, 'वेलि' का माहात्म्य-वर्णन, नामकरण, दुर्जन तथा सज्जनों के प्रति विनम्र भाव, 'वेलि' का भक्तिमय सन्देश तथा निर्माणकाल आदि का वर्णन कुछ छन्दों में किया गया है।

उपरिलिखित कथा पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगा कि वेलिकार निश्चय ही भागवत का ऋणी है—और यह ऋण उसने स्पष्टतः स्वीकार भी किया है। किन्तु भागवत की कथा वेलि की कथा से समानता रखते हुए भी गठन में बहुत कुछ भिन्न है और वेलिकार ने अपनी कवित्व-शक्ति तथा रचना-कौशल का पूरा परिचय दिया है। अपनी प्रतिभा से उन्होंने इस प्रसंग में जिन मौलिक कल्पनाओं की योजना की है उससे पुरानी होते हुए भी कथा नवीन और अत्यन्त मनोरम रचना बन गई है। वेलि को ग्रन्थ का स्वरूप देने के लिये मंगलाचरण, ग्रन्थ का विषय, निर्माणकाल, वेलि-रूपक, दुर्जन तथा सज्जनों के प्रति विनम्र प्रार्थना, 'वेलि' का सन्देश आदि तो कुछ ऐसे विषय हैं जो कथा को काव्य का अलग रूप देने के लिये आवश्यक थे ही किन्तु इसके अतिरिक्त भी रुक्मिणी द्वारा पत्र भेजना, रुक्मिणी का नख-शिख-वर्णन, उसकी वयःसन्धि अथवा साज-सज्जा और रति एवं रत्यन्त-वर्णन अथवा ऋतुओं का वर्णन आदि विषय भी ऐसे हैं जो भागवत के वर्णन से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, जो नितान्त प्रसंगानुकूल तथा मौलिक हैं। यह न भूलना चाहिये कि यह ग्रंथ, स्वयं लेखक के ही शब्दों में, शृंगार ग्रंथ है। विषय के उपयुक्त मार्मिक तथा मनोहर स्थलों का चयन लेखक ने बड़ी चतुराई से किया है। युद्ध का वर्णन भी जिस विस्तृत रूप में यहाँ किया गया है वैसा भागवत में नहीं है। इसके अतिरिक्त,

रुक्मी के सिर पर हाथ रखने से उसके केश पुनः उग आने की कथा भी लेखक की ओर से नवीन योजना मात्र है। बीच बीच में नगर की शोभा तथा प्रातः काल अथवा संध्या आदि का वर्णन करके भी कवि ने वेलि में सरलता लाने का सफल प्रयत्न किया है और इस प्रकार वर्णन की मौलिकता भी प्रदर्शित कर दी ह। वेलिकार ने रुक्मी के द्वारा भोजकट नामक नगर बसा कर रहने की बात का कहीं उल्लेख भी नहीं किया है। वह संभवतः इसी कारण कि कवि काव्य को दुखान्त बनाना अथवा द्वेषपूर्ण पात्रों से युक्त करना नहीं चाहता था। यही कारण ह कि उसने विवाह के उपरान्त भी कथा को चलाये रखा है और गर्भ का वर्णन करके उसका सुखमय रूप में अन्त किया है। 'वेलि' के नामकरण के अनुसार भी काव्य की सफलता तभी मानी जा सकती थी जब अंकुरित वेलि, प्रवर्द्धित और पल्लवित होती हुई पुष्पित तथा फलित भी हो उठे। कृष्ण तथा रुक्मिणी के बीच लगी यह प्रेम की बेल भी तभी सफल कही जा सकती थी जब वह प्रत्यक्ष रुप में सफल हो जाती और इसके लिये रुक्मिणी को माता बनाना अपेक्षित ही था।

इस प्रकार यह संदेह नहीं रहता कि लेखक ने भागवत का केवल वहीं तक सहारा लिया है जहाँ तक कथा में कोई बाधा उपस्थित न हो। जहाँ जहाँ उसे स्वतन्त्रता मिली है उसने अवसर का पूरा उपयोग किया है और अपनी मौलिकता के प्रदर्शन में सफलता प्राप्त की है। काव्य-सौष्ठव के लिये वह अनेक प्रसंगोपयुक्त वर्णन बीच बीच में रखता चला है और विशेषता यह है कि शास्त्रीय दृष्टि की अवज्ञा न करते हुए अपने वर्णनों से काव्य को सजीवता प्रदान कर सका है। यहाँ उसकी मौलिकता का संकेत भर किया गया है। आगे के प्रसंगों में उसका विवेचन और रसास्वादन भी कराने का प्रयत्न किया जायगा।

वेलि का काव्य-स्वरूप

रूप की दृष्टि से प्राचीन संस्कृत विद्वानों ने श्रव्य-काव्य को गद्य, पद्य तथा मिश्र नामक तीन प्रकार का बताया था, जिनमें से पद्य-काव्य के भी महाकाव्य, मुक्तक-काव्य, युग्मक, कलापक तथा कुलक एवं खण्डकाव्य नामक भेद किये गये थे। वस्तुतः महाकाव्य, मुक्तक-काव्य तथा खण्डकाव्य, ये तीन ही भेद करने चाहियें क्योंकि अन्य का समावेश मुक्तक में हो जाता है। इन तीन

प्रकार के काव्यों में भी प्रधानता मिली महाकाव्य को। अतएव महाकाव्य के स्वरूप-संगठन का विचार भी शास्त्रों में विस्तार से किया गया। दण्डी तथा आचार्य विश्वनाथ ने अपने अपने ग्रंथों में महाकाव्य के स्वरूप का विशेष व्याख्यान किया है और अन्य स्वरूपों का निर्देश एकाध पंक्ति में करके छोड़ दिया है।

खण्डकाव्य का विचार करते हुए साहित्य-दर्पणकार ने एक ही पंक्ति से काम लिया है। उनका विचार है कि खण्डकाव्य महाकाव्य का एकदेशानुसारि अर्थात् एक अंश-स्वरूप है। अब यदि खण्डकाव्य महाकाव्य का एक खण्ड ही ह तो भी, अथवा यदि कुछ न्यून भी है तो भी, महाकाव्य का स्वरूप जाने बिना यह नहीं कहा जा सकता कि खण्डकाव्य क्या है, और बिना यह जाने कि खण्डकाव्य तथा महाकाव्य की सीमाएँ क्या हैं किसी भी काव्य को किसी प्रकार-भेद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।

दण्डी के काव्यादर्श में दिए गए महाकाव्य के स्वरूप के अनुसार महाकाव्य का सबसे पहला लक्षण है सर्गबद्ध होना। यह सर्ग अधिक लम्बे न हों। उसका दूसरा लक्षण है आशीर्वचन, देव-वन्दना अथवा वस्तु-निर्देश से उसका आरम्भ। उसका कथानक तीन प्रकार का हो सकता है, यथा, इतिहास सम्बन्धी, कथा रूप में श्रुत, अथवा सद्वृत्त वाला। इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों वर्गों की प्राप्ति का लक्ष्य होना चाहिये। नायक चतुर हो और साथ ही उदात्त भी। इसमें विभिन्न वर्णनों, जैसे, नगर ,समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, एवं सूर्योदय आदि के द्वारा प्रकृति-चित्रण किया गया हो। उत्सवों का भी वर्णन किया जाय और उनके समावेश का रूप यह हो कि उद्यान-विहार, जल-विहार, मधुपान आदि का वर्णन किया जाय। मन्त्रणा, दूत-प्रयाण, युद्ध तथा नायक के अभ्युदय की चर्चा द्वारा जीवन के समग्र रूप का चित्रण किया जाय। यह महाकाव्य आकार तथा वर्णनों में संक्षिप्त न हो। इसमें अलंकार के प्रयोग के साथ रस तथा भाव की निरन्तर स्थिति बनी रहे। उसमें किसी प्रकार का व्याघात न पहुँचने पावे। लोकरंजन ही महाकाव्य का लक्ष्य है। सर्गों में भिन्न वृत्तान्तों का समावेश हो तथा उसे नाटकीय संधियों तथा श्रव्य गुण से युक्त होना चाहिये। तभी काव्य कल्पान्तरस्थायी होता है।

विश्वनाथ के वर्णन में दण्डी से केवल इतना ही भेद है कि इन्होंने सर्ग की निश्चित न्यूनतम संख्या ८, प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द, जो केवल अन्त में बदलता है, नानाछन्दोपयुत सर्ग, सर्गान्त में भावी सूचना, नायक के विशेष गुण, शृंगार, वीर अथवा शान्त में से एक ही अंगी रस सज्जन प्रशंसा तथा असज्जन-निन्दा, नामकरण कविनामानुसार अथवा कथानक, नायक या अन्य पात्र के नाम पर एवं सर्ग का नाम भी वर्ण्य के अनुसार हो, इन नवीन बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। दोनों लक्षणों पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि वस्तुतः काव्य की मूल बातें तो इतनी ही हैं कि उसका कथानक किसी ऐतिहासिक घटना से सम्बन्ध रखता हो, अथवा सज्जनों का चरित्र हो, वह रसयुक्त हो और अन्य रसों का वर्णन होते हुए भी उसमें एक रस अंगी हो, शेष उसके सहायक हों। वह रस कथा में आरम्भ से अन्त तक बिंधा हो, व्याप्त हो। किसी भी महाकाव्य को ऐसा होने के लिये अपना नायक भी चतुर तथा उदात्त चरित्र वाला ही छाँटना चाहिये। उस काव्य का लक्ष्य चतुर्वर्ग होना चाहिये।

उक्त लक्षणों को ध्यान में रखते हुए यदि विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि 'वेलि' में महाकाव्य के अधिकांश गुण समन्वित हैं। रुक्मिणी-हरण तथा प्रद्युम्न-जन्म की कथा पुराण की भूमि पर उगी है। भागवत जैसे पुराण से गृहीत वस्तु महाकाव्य में ग्राह्य कथा के समस्त लक्षणों को पूरा करती है। पुराण की भूमि में पली हुई इस कथा के विषय में यह भी सहज रूप में स्वीकार करना उचित होगा कि कथा का लक्ष्य चतुर्वर्ग की प्राप्ति भी है। स्वयं कवि ने कथा के अन्त तक पहुँचते पहुँचते इस बात का उल्लेख कई दोहलों में किया है कि इस कथा से सब प्रकार के व्यक्तियों को सब प्रकार के फल प्राप्त हो सकते हैं। भक्तों के लिये यह ग्रंथ भक्ति का पुरस्कार देता है:—करि श्रवणे दिन रात कण्ठ करि। प्रामै श्री फल भगति अपार।। यह ग्रंथ पाठक के समस्त रोगों तथा आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक त्रयताप की अचूक दवा है, इसे कवि ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा ह:—

चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा, ससत्र उखध मंत्र तंत्र सुवि।
काया कजि उपचार करन्तौं, हुवै सु वेलि जपन्ति हुवि।।२८४।। तथा

आधिभूतक आधिदेव अध्यातम, पिंड प्रभवति कफ वात पित।
त्रिविध ताप तसु रोग त्रिविधमै, न भवति वेलि जपन्त नित ॥२८५॥

इसी प्रकार का माहात्म्य कई अन्य दोहलों में वर्णित है। उसका संग्रह करना यहाँ उद्देश्य नहीं। उन्हीं स्थलों से उद्धरण संचित किये जा सकते है।

कथा का सारा भार कथानायक पर निर्भर रहता है, इसी कारण नायक को धीरोदात्तादि गुणों से विभूषित माना गया है। वेलिकार का नायक तो स्वयं जगत्पिता और जगत्पति है, फिर उसमें गुणों की क्या कमी। उनके जगत्पति होने के प्रमाण 'वेलि' में अनेक स्थलों पर उपलब्ध हैं। रुक्मिणी स्वयं उन्हें जन्मान्तर से अपना साथी और बार बार अवतार धारण करके रक्षा करने वाला मानती है। कवि ने आरंभ में ही कहा है कि स्त्रीपति के गुणों का गान कौन कर सकता है।—'स्त्रीपति कुण सुमति तूझ जू गुण तवति।' ब्राह्मण भी उन्हें देखकर कृतार्थ हो गया है। धीरता और वीरता की उनमें कमी नहीं। वीरता-प्रदर्शन की चेष्टा के कारण ही तो 'वेलि' में वीर रस का इतना प्रसार किया गया है। क्षमाकी कृष्ण मूर्ति हैं, रुक्मी को रुक्मिणी के कहने पर क्षमा कर दिया और कृपा ऐसी कि उसके केश भी फिर उग आए। ऐसे नायक तथा रुक्मिणी के समान अनन्य पतिभक्ता नायिका से युक्त यह काव्य अत्यन्त आकर्षक रूप में सामने आया है। नगर, समुद्र, संध्या, प्रातः, चन्द्रोदय, जल-क्रीड़ा, आदि का वर्णन भी काव्य में यथास्थान किया गया है। द्वारिका तथा कुन्दनपुर दोनों नगरों का बड़ा ही रमणीय वर्णन किया गया है। कुन्दनपुर उत्सव के कारण सजा हुआ बड़ा ही आकर्षक दीख रहा है :—

ग्रिह ग्रिह प्रति भींति सुगारि हींगलू, ईट फिटकमै चुणी अचम्भ।
चन्दण पाट कपाट ई चन्दण, खुम्भी पनाँ प्रवाळी खम्भ ॥ ३९ ॥

मण्डप की शोभा देखिये :—

जोइ जळद पटळ दळ साँवळ ऊजळ, घुरै नीसाण सोइ घणघोर।
प्रोळि प्रोळि तोरण परठीजै, मण्डै किरि तण्डव गिरि मोर ॥ ४० ॥

इसी प्रकार द्वारिका अपनी निसर्गसिद्ध पवित्रता और जाप, यज्ञ आदि के कारण एकदम तीर्थ ही बन गया है।—"तीरथि तीरथि जंगम तीरथ, विमळ ब्राहमण जळ विमळ॥" द्वारिका-वर्णन के बहाने समुद्र-वर्णन भी दो पंक्तियों में कर

दिया गया है। द्वारिका के जन-समूह तथा समुद्र के जल का कोलाहल एक सा ही है :—"हेका कह हेका हीलोहल, सायर नयर सरीख सद।" इसी वर्णन में पनिहारियों से लेकर आम्र-मौर और कोकिलालाप तक का वर्णन भी आ गया है। इसीसे यदि विप्र को द्वारिका को देखकर उसके अमरावती होने का सन्देह हो गया—"आयौ कि हूँ अमरावती"—तो आश्चर्य ही क्या है। इसी द्वारिकावर्णन में ही प्रातःकाल का जनकार्य भी सामने आया है। चारों ओर वेदपाठादि का सुन्दर वर्णन कवि ने ४८ तथा ४९वें दोहलों म किया है। कृष्ण के रुक्मिणी सहित लौटकर जाने पर द्वारिका के उत्सव का वर्णन किया गया है। इस प्रकार नगरों का वर्णन ही नहीं हुआ है बल्कि उसके साथ साथ उत्सव अथवा प्रातः, संध्या आदि का भी वर्णन होता चला है। सन्ध्या का वर्णन पहिले तो ब्राह्मण के कुन्दनपुर से निकलते ही कराया गया है, जो साथ ही साथ व्यक्तियों के भावों का भी सुन्दर प्रदर्शन करता है। दूसरी बार विवाह के पश्चात् पुनः सन्ध्या का वर्णन किया गया है। वह अलंकरण, वाच्य तथा लक्ष्य दोनों अर्थों से सुशोभित अत्यन्त व्यंजक तथा प्रभावपूर्ण है। मिल-नोत्सुक प्रमियों के हृदय के लिये उद्दीपन के रूप में काम करने वाला संध्या काल जैसा कृष्ण को प्रतीत हुआ उसका रोचक वर्णन १६२ से १६४ दोहले तक दर्शनीय है। प्रभात का भी आगे चलकर उतना ही रमणीय वर्णन किया गया है। ऋतुओं के वर्णन पर तो विस्तार से ध्यान दिया गया है। हम प्रकृति-वर्णन का यहाँ केवल संकेत किये दे रहे हैं, उसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र करेंगे। रसों की दृष्टि से भी यह ग्रंथ अपूर्व है। शृंगार को अंगी रूप देकर उसके दोनों भेदों का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है, इसे हम अन्यत्र कहेंगे। वीरादि रसों का भी समावेश तथा उनका विस्तारौचित्य अन्यत्र वर्णित है। प्रद्युम्न-जन्म का वर्णन भी कुमारोदय की दृष्टि से किया गया है। मन्त्रणा का निर्वाह भी कवि ने कथा के आरंभ में रुक्मी तथा माता-पिता के परस्पर विचार द्वारा कर लिया है। दूत का काम तो ब्राह्मण के अतिरिक्त रुक्मिणी ने सखियों से भी लिया है। युद्ध का वर्णन भी रूपकों के सहारे बड़े विस्तार से किया गया है। वीर रस की विशेष प्रतिष्ठा करते समय कवि के सम्मुख निश्चित रूप से कृष्ण के अभ्युदय का विचार रहा है। घोर

युद्ध करके असंख्य शत्रुओं के विनाश के द्वारा नायक की प्रतिष्ठा की गई है। अलंकार, भाव तथा रंजन की कमी भी ग्रंथ में नहीं है। अलंकारों के विविध तथा सुखद प्रयोग तो अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। शृंगार, हृदय के आकर्षण करने में पूर्ण समर्थ है। श्रव्यत्व गुण भी 'वेलि' में पूरा पूरा है। शृंगार के अनुकूल वृत्तियों का निर्वाह डिंगल को भी मधुरता प्रदान कर रहा ह। इस प्रकार दण्डी द्वारा परिगणित महाकाव्य के लक्षणों में केवल सर्ग-विभाजन ही ऐसा है जो 'वेलि' में नहीं हुआ है। 'वेलि' की नायिका का वर्णन तो बाल्यावस्था से, जब से वह गुड़ियाँ खेलती है, लेकर पुत्रवती होने तक किया गया है और इस प्रकार उसके जीवन के अधिकांश अंशों को काव्य में समेट लिया गया है। नियमानुकूल, आरंभ में ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये तथा देवता की भक्ति में प्रार्थना भी की कई है, जिससे आशीर्नमस्क्रिया का काम भी पूरा हो जाता है। ग्रंथ को 'सिंगार रस' का बताकर वस्तु निर्देश भी आरम्भ में ही कर दिया गया है। सज्जनों, दुर्जनों का वर्णन ग्रंथ की समाप्ति के समय किया गया है। सुराज्य, कुराज्य का संकेत भी वसन्त-वर्णन के समय २४९ तथा २५१ दोहलों में किया गया है। कवि ने महाकाव्य के 'असंक्षिप्तम्' लक्षण को भी निबाहने का पूरा प्रयत्न किया है। कथा में अनेक प्रसंग लाये गये हैं और इस प्रकार उसे रोचक विशद एवं विस्तृत बनाने की चेष्टा की गई है।

इस प्रकार साहित्यदर्पण के भी समस्त लक्षणों का अन्तर्भाव प्रायः इस काव्य में हो गया है, किन्तु सा० द० के अनुसार भी यदि कोई त्रुटि रही है तो सर्गहीनता ही। सर्ग सम्बन्धी नियम का पालन कवि ने नहीं किया है। अतएव यह एक ही सर्ग का काव्य है। इसकी कथा का विस्तार भी केवल एक ही घटना तक है जिससे जीवन का समग्र रूप एकदम सामने नहीं आ पाता। जीवन की समग्रता का दर्शन न होने के कारण ही इसका दृष्टिकोण संकुचित हो गया है। शास्त्रों में जो सर्गविभाजन की बात कही गई है वह केवल इस विचार से कि जीवन अनेक घटनाओं का एक समूह ही है। अतएव जो काव्य सर्गरूप में निबद्ध होगा वह जीवन की विविधता को ही ध्यान में रखकर चलेगा। इसके अतिरिक्त सर्ग का विभाजन मात्र ही महाकाव्य का रूप नहीं

खड़ा कर सकेगा बल्कि जीवन की विविधता में भी एक प्रवाह और सहज विकास प्रदर्शित करने के लिए कथा-संघटन का भी ध्यान रखना होगा। तभी किसी काव्य को महाकाव्य कहा जा सकेगा। इस विचार से 'वेलि' में जीवन की समग्रता की न्यूनता सिद्ध होती है। महाकाव्य की उपयुक्त विस्तृत कथा इस काव्य की पृष्ठभूमि नहीं है। इसके साथ ही शृंगार के अंगी रहते हुए वीर के अत्यधिक वर्णन से जो रस-विरोध दूषण उपस्थित हो गया है वह भी काव्य को महाकाव्य होने से रोकता है। खण्डकाव्य के लिये तो यह और भी बड़ा दोष है कि संक्षिप्त कथा में ही व्याघात खड़ा हो गया। रस-सौष्ठव को आघात पहुँच जाना ही बड़ी बात है। इस दृष्टि से 'वेलि' महाकाव्य की सीमा-रेखा को छूती हुई चलती है फिर भी रस-विरोध तथा जीवन की असम्पूर्णता के कारण वह उसके अन्दर पर रखने से वंचित है।

डाक्टर रवीन्द्रनाथ की उक्ति है कि "वर्णनानुगुण से जो काव्य पाठकों को उत्तेजित कर सकता है, करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित, कौतूहली और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कर सकता है, वह महाकाव्य है और उसका रचयिता महाकवि। उनका यह भी कहना है कि महाकाव्य में एक महच्चरित्र होना चाहिये और उस महच्चरित्र का एक महत्कार्य होना चाहिये और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य और महदनुष्ठान होना चाहिये।"

यदि इस लक्षण को माना जाय तो 'वेलि' पहले लक्षण को तो पूरा करता है। अर्थात् उसमें उत्तेजित, करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित आदि करने की शक्ति तो है, किन्तु उनकी दूसरी शर्त कि उसमें किसी महदनुष्ठान को सम्पन्न होना चाहिये, इस काव्य में उतनी पूरी नहीं उतरती। निस्सन्देह कृष्ण महच्चरित्र ही नहीं अवतार ही हैं, रुक्मिणी भी वैसी ही है और वह पीड़ित तथा आर्त भी हैं, अतएव उनकी रक्षा करना एक महत्कार्य है। किन्तु यह महत्कार्य होते हुए भी इस महदनुष्ठान की सीमा केवल कृष्ण तथा रुक्मिणी तक ही है, उससे प्रजा अथवा अन्यजनों का कोई हित साधन नहीं होता। दुष्टों को दण्ड देने तथा आर्त की रक्षा करने का उद्देश्य तो इससे सिद्ध होता है किन्तु उसका व्यापक विस्तार नहीं है। अतएव इस परिभाषा के अनुसार भी यह महाकाव्य

की सीमारेखा को स्पर्श अवश्य करता है, उसमें समाता नहीं। वस्तुतः वह एक सफल खण्डकाव्य है।

वेलि में श्रृंगार-रस

'वेलि' का अंगी रस श्रृंगार है। लेखक ने ग्रंथ की भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है। उसका कहना है कि मैं प्रस्तुत ग्रंथ में स्त्री का वर्णन ही पहिले कर रहा हूँ, क्योंकि परम्परा से ऐसा होता आया है कि श्रृंगाररस के ग्रंथ की रचना करते समय पहिलें नायिका का ही वर्णन किया जाता है।

सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा, सुकवि अनेक ते एक सन्थ।
श्रीवरणण पहिलौ कीजै तिणि, गूँथियै जेणि सिंगार ग्रंथ॥

अतएव इस विषय में तो कोई विवाद हो ही नहीं सकता कि 'वेलि' में कौन रस प्रधान है। 'वेलि' को केवल हरण तक ही सीमित करके श्रृंगार-रस के वर्णन से बचाया भी जा सकता था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने ग्रंथ लिखते समय एक शास्त्रीय सिद्धान्त पर भी पूरा ध्यान रखा है और अवसर के अनुसार उसका सदुपयोग किया है। वह यह कि श्रृंगार रस के देवता हैं विष्णु, और इस कथा के नायक विष्णु के अवतार ही हैं। अनायास ही ऐसा वरदान सदृश सुयोग कवि को मिल गया है कि उसे जगत्पिता कृष्ण का श्रृंगार वर्णन करने में कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ी, बल्कि उल्टे उसके लिये अधिकार-पत्र ही मिल गया। श्रृंगार के देवता कथा के नायक ही नहीं कवि के भी देवता ही हैं। उन्हें उसने स्थान स्थान पर जगत्पिता आदि कहा है।

श्रृंगार के आलम्बन हैं नायक तथा नायिका। दोनों महान गुणों से विभूषित होने चाहियें। नायक कृष्ण स्वयं भगवान होने के कारण सर्वगुणोपेत हैं। अतएव उनके गुणों का बखान कवि क्या करे। गुणसागर नागर कृष्ण के गुणों के बखान की शक्ति कवि में नहीं और न आवश्यकता ही दीखती है। जो कुछ गुण हैं वह तो अन्यान्य ग्रंथों में लिखे हुए और सज्जनों के कण्ठ में बसे हुए हैं, जिन्हें रुक्मिणी तथा उनके पिता ने भी जान लिया था। रुक्मिणी——ग्रंथ की नायिका—— भी साक्षात् लक्ष्मी का अवतार ही है फिर भी उनका वर्णन किया गया है। वह केवल मातृ-जाति के प्रति कृतज्ञ भाव के कारण।

वह माता जो पुत्र का पिता से भी अधिक हित चाहती है और उसे दस मास उदर में रखकर पीड़ा भोगती तथा दश वर्ष तक उसके लालन-पालन में सेवा-रत रहती है, उसका वर्णन अवश्य करना था। पिता का प्रेम उसके प्रम के सामने उतना गहरा नहीं अतएव पिता का वर्णन एकबार न भी किया जाय तो अनुचित नहीं। यही कारण है कि रुक्मिणी-वर्णन पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है—

दस मास उदर धरि वळे वरस दस, जो इहाँ परिपालै जीवड़ी।
पूत हेत पेखताँ पिता प्रति, वळी विसेखै मात वड़ी॥

लक्ष्मीस्वरूपा होने के कारण रुक्मिणी कथा की नायिका होने के सर्वथा योग्य थीं। साथ ही उनमें वे अन्य गुण भी उपलब्ध हैं, जो एक नायिका के लिये आवश्यक हैं।

नायिका का लक्षण देते हुए विद्वानों ने बताया है कि जिस रमणी के अवलोकन मात्र से चित्त में शृंगार रस का संचार हो वही नायिका कहलाती हैं। साथ ही उसके आठ अंगों का भी विचार प्रस्तुत करते हुए बताया गया है कि वह यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव तथा भूषणयुक्त होनी चाहिये। ऐसी नायिका ही अष्टांगवती नायिका कही गई है। 'वेलि' की नायिका रुक्मिणी सर्वांग सम्पूर्ण, सर्वगुणोपेत नायिका है। यौवन के विचार से रुक्मिणी असीम सुन्दरी है, रूप-लावण्य की आगार है। वह बत्तीसों लक्षणों से युक्त है और अपने रूप-सौन्दर्य तथा शरीर-सुगन्धि के कारण पद्मिनी के समान अपने ही कुल-शील की सखियों के बीच सुशोभित होती है।—

१—लखण बत्रीस बाळ लीलामै, राजकुंअरि, ढूळड़ी रमन्ति॥ १३॥
२—संग सखी सीळ कुळ वेस समाणी, पेखि कळी पदमिणी परि॥ १४॥

प्रथम दर्शन में ही शृंगार रस का संचार करने की रुक्मिणी में अन्यतम शक्ति है :—

आकरषण वसीकरण उनमादक, परठि द्रविण सोखण सर पंच।
चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि ॥१०९॥

गुणों की रुक्मिणी में क्या कमी। वह सर्वविद्या-कला कुशल हैं।

व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि, वेद च्यारि खट अंग विचारि।
जाणि चतुरदस चौसठि जाणी, अनँत अनँत तसु मधि अधिकार॥ २८॥

स्त्री का एक बड़ा गुण है, उसकी लज्जा। लज्जा ही उसका शील है। प्रेम के मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति अपनी लज्जा को कैसे बनाए रखे, और कैसे कवि उसके शृंगार का वर्णन करते हुए भी उसे लज्जावती दिखा सके, यह एक बड़ी समस्या है। रीतिकाल में जो शृंगार और नायिका-भेद के नाम पर अश्लीलता का नंगा नाच हुआ है, उसके आधार पर यह विश्वास होना कठिन है कि शील और लज्जा को रखते हुए भी शृंगार का वर्णन मनोमुग्धकारी हो सकता है। किन्तु पृथ्वीराज की सफलता इस बात में है कि शृंगार का मधुरतम वर्णन करते हुए भी रुक्मिणी की मर्यादा और शील का तो पूरा निर्वाह किया ही गया है, प्रेम की अनन्यता भी प्रदर्शित कर दी गई है। रुक्मिणी अनन्य प्रेमवती हैं, यह तो कृष्ण को पत्र लिखने, उनकी उत्सुकता पूर्वक बाट जोहने, आदि से प्रतीत हो ही जाता है। किन्तु लेखक ने उनके उस पत्र को साधारण प्रेम-पत्र की कोटि से बचाने के लिये, कहीं भी उथला प्रेम प्रदर्शित न कराकर, उनके पूर्व-जन्मों के सम्बन्ध और अवतारों की ओर ही ध्यान आकृष्ट कराया है। वह प्रेम एक आत्मा का परमात्मा के प्रति विह्वल विरह-निवेदन के समान शुचि है। रति-वर्णन के समय भी कवि ने रुक्मिणी को सदैव सलज्ज ही दिखाया है। माता-पिता के सम्मुख भी रुक्मिणी के शील की रक्षा की गई है। वह अपने अंगों का उभार देखकर लज्जा-वश तथा अंगों को छिपाने के विचार से माता-पिता के सामने जाने से भी ऐसी लज्जित होती है कि उसकी लज्जाशीलता के सामने लज्जा को भी लज्जा आ जाती है। इसके अतिरिक्त, कृष्ण को आया सुनकर वह अम्बिकालय जाने की आज्ञा लेने स्वयं माता के समीप नहीं जाती, बल्कि सखी को भेजती है:—

१—आगळि पित मात रमन्ती अंगणि, काम विराम छिपाड़ण काज।
लाजवती अंगि एह लाज विधि, लाज करन्ती आवै लाज ॥१८॥

२—सीखावि सखी राखी आखै सुजि, राणी पूछै रुषमणी।
आज कहौ तो आप जाइ आवूं, अम्ब जात्र अम्बिका तणी ॥ ७९ ॥

कुल, वैभव तथा आभूषण का वर्णन करके व्यर्थ विस्तार देने की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि विदर्भराज की कन्या को कुलीनता, वैभव तथा आभूषण में सन्देह का स्थान नहीं है।

नायिकाओं के अनेक भेदों में से रुक्मिणी स्वकीया मुग्धा नवोढ़ा ज्ञातयौवना नायिका हैं। भले ही उनका हरण किया गया है, किन्तु जन्मान्तर से उनका और कृष्ण का साथ चला आया है, उन्होंने कृष्ण को छोड़ अन्य किसी भी पुरुष का ध्यान स्वप्न में भी नहीं किया है। पण्डितों ने हरण काल को ही उनके पाणिग्रहण का काल बताया है, इन सब कारणों से स्पष्ट है कि रुक्मिणी स्वकीया नायिका हैं। शरीर में नवयौवन के संचार और लज्जाशीलता के कारण वे मुग्धा हैं। अपने यौवन का उन्हें ज्ञान है, अतएव वह ज्ञातयौवना हैं, अज्ञात यौवना नहीं। रति के समय उन्हें अत्यन्त भय और लज्जा है, अतएव वह नवोढ़ा भी हैं। इस प्रकार शृंगार रस के ग्रंथ की नायिका होने के समस्त गुण उनमें विद्यमान हैं।

शृंगार के उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सखा, सखी, दूती, ऋतु, वन, उपवन, तड़ाग अथवा नदी-कूल, एकान्त-स्थल, पवन, चन्द्र, ज्योत्सना, चन्दन, भ्रमर, कोकिल, गायन आदि माने जाते हैं। वेलिकार ने यथासंभव इनका उपयोग करने का प्रयत्न किया है। बलराम कृष्ण के सखा का काम देते हैं। रति के समय सखियों की सहायता और उनकी कहकहाहट भी भरपूर रूप में संजोई गई है। दूत का कार्य दोनों ओर से ब्राह्मण ने किया है, और रहा सहा काम पत्र ने बना दिया है। शेष उद्दीपन; ऋतु, प्रातः, सन्ध्या आदि प्राकृतिक चित्र किसी न किसी रूप में काव्य में लाये गये हैं। उन उद्दीपनों का वर्णन हम प्राकृतिक चित्रण के अन्तर्गत अन्यत्र करेंगे।

विभाव के वर्णन के अनन्तर 'वेलि' में प्रयुक्त शृंगार का रूप भी देख लिया जाय। साथ ही उसके अन्तर्गत आने वाली विविध दशाओं तथा संचारी आदि की जो मनोरम योजना कवि ने की है उसका भी रसास्वादन कर लिया जाय।

शृंगार के दो भेद हैं:—संयोग तथा वियोग। दोनों का सापेक्ष सम्बन्ध है। वियोग की उत्कृष्टता दिखानी हो तो उसके पूर्व संयोग का उत्कट वर्णन अपेक्षित है। वियोग की तीव्रता का तभी अनुभव किया जा सकता है जब संयोग के सुख का अनुभव हो। जितना ही उत्कट संयोग रहा होगा उतना ही उत्कट वियोग भी अनुभव होगा। सुख के बाद आने वाला दुख अत्यन्त भयानक और कष्टकारक लगता है। इसी प्रकार संयोग सुख की उत्कृष्टता

दिखाने के लिये वियोग का वर्णन उसके पूर्व आवश्यक है। 'वेलि' संयोग-शृंगार का ग्रंथ है, अतएव उसकी उत्कृष्टता के लिये पहले वियोग-वर्णन ही उपयोगी था। यही कारण है कि लेखक ने वियोग का वर्णन पहले ही किया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि इसमें कवि को क्या श्रेय, वह तो कथा का रूप ही ऐसा था। इसका उत्तर यही है कि कथा के विषय में तो कोई सन्देह नहीं किन्तु वियोग की उत्कटता के चित्रण में तो कवि की ही चातुरी काम कर रही है। यह चातुरी जैसी है वह वियोग तथा संयोग के विवेचन से स्पष्ट हो सकेगी।

वियोग की पूर्वानुराग, मान तथा विप्रलम्भ दशाएँ बताई गई हैं जिनमें से 'वेलि' में केवल पूर्वानुराग का वर्णन किया गया है। अन्य प्रकार के वियोग का इस कथा में कोई महत्व ही नहीं था क्योंकि रुक्मिणी जी अत्यन्त लज्जालु हैं तथा विवाह के पश्चात् उनका वियोग कभी हुआ ही नहीं। विवाह के पश्चात् का उनका जीवन अत्यन्त सुखमय और संयोग का जीवन है। अस्तु,

पूर्वानुराग के विषय में विद्वानों का लक्षण है कि जब श्रवण अथवा दर्शन अथवा दोनों के कारण अनुराग बढ़ जाता है किन्तु अभीष्ट नायक अथवा नायिका की प्राप्ति नहीं होती, वही पुर्वानुराग वियोग है। पूर्वानुराग के दो कारण हो सकते हैं:—श्रवण तथा दर्शन। दर्शन के भी तीन भेद किये गये हैं। कभी प्रत्यक्ष दर्शन होता है, कभी स्वप्न में दर्शन होता है और कभी कभी चित्र-दर्शन से ही राग उत्पन्न हो जाता है। 'वेलि' में पूर्वानुराग का वर्णन तो किया गया है किन्तु वह दमयन्ती के समान श्रवण मात्र से उत्पन्न है। रुक्मिणी ने अनेक ग्रंथों का चिन्तन मनन करके कृष्ण को ही सब गुणों का अधिष्ठान पाया और उनकी ओर आकर्षित हो गईं। कृष्ण भी दूसरों के मुख से रुक्मिणी के विषय में प्रशंसा सुनकर ही मुग्ध हुए हैं। उनके हृदय में उत्पन्न उस प्रेम को ब्राह्मण ने पत्र देकर और भी प्रवर्द्धित कर दिया और उनके नेत्रों से बरबस अश्रु प्रवाहित होने लगे, रोमांच हो आया, कण्ठ गद्गद् हो गया। प्रत्यक्ष दर्शन तो दोनों को अम्बिकालय के समीप ही हो सका है, उससे पूर्व नहीं। यह पूर्वानुराग निरन्तर प्रवर्द्धित होता रहा अतएव शास्त्रानुसार इसे 'मंजिष्ठ राग' कहा जायगा। विद्वानों ने पूर्वानुराग के तीन रंग माने

हैं—(१) नीली, (२) कुसुम्भ, और (३) मंजिष्ठा। मंजिष्ठा राग ही वह राग है जो चढ़कर फिर उतरता नहीं बल्कि बराबर बढ़ता ही जाता है। रुक्मिणी तथा कृष्ण का राग बढ़ता ही रहा है अतएव उसे मंजिष्ठा राग ही माना जायगा।

वियोग की दश अवस्थाओं का वर्णन साहित्य ग्रंथों में किया जाता रहा है। यह दश दशाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं:—(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण, (४) गुणकथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता तथा (१०) मरण। 'वेलि' का पूर्वानुराग संयत है, उसका वियोग ही नहीं संयोग भी सीमित ही रखा गया है। अतएव लेखक से यह आशा करना कि वह साहित्य-शास्त्र का अक्षरशः पालन करता, व्यर्थ ही है। यों सभी दशाओं का चित्रण अनिवार्य भी नहीं है। तात्पर्य यह कि वेलि में पूर्वानुराग की कुछ ही दशाओं का चित्रण किया गया है। उसका कारण है रुक्मिणी के शील की रक्षा का प्रयत्न। वेलि की नायिका केवल उद्वेग की सीमा तक जा सकती थी। प्रलाप, उन्माद और मरण जैसी स्थिति का प्रदर्शन उसके शील का रक्षण न कर सकता। अतएव कवि ने रुक्मिणी की केवल पहली ४ दशाओं का ही चित्रण किया है। अभिलाषा का एक चित्र देखिये। रुक्मिणी के हृदय में कृष्ण का अनुराग उत्पन्न हो गया है। वह कृष्ण को प्राप्त करने का वरदान माँगने के लिए गौरी तथा शिव का पूजन करती है:—

साँभळि अनुराग थयो मनि स्यामा, वर प्रापति वंछती वर।
हरि गुण भणि ऊपनी जिका हर, हर तिणि वन्दे गवरि हर॥ २९॥

उसकी यह अभिलाषा अम्बिका-पूजन के समय भी वैसी ही बनी हुई है। अम्बिका-पूजन करके मानो रुक्मिणी ने मनोवांछित फल ही हस्तगत कर लिया है:—

देवाळै पैसि अम्बिका दरसे, घणै भाव हित प्रीति घणी।
हाथे पूजि कियौ हाथालगि, मन वंछित फळ रुषमणी॥१०८॥

इस अभिलाषा का कथन बहुत ही संयत भाव से हुआ है।

प्रिय को न आते देख, प्रतीक्षा करती हुई नायिका विकल, विह्वल और आतुर हो जाती है। मन की उस अधीरता के कारण प्रियदर्शनोत्सुक नायिका बेचारी प्रिय के न आने का कारण सोचती और किसी अनिष्ट की आशंका करती हुई चिन्तित हो उठती है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। अभिलाषा के

साथ ही साथ प्रिय की प्राप्ति का उपाय, तथा उसकी प्रतीक्षा की चिन्ता नायिका की समस्त अन्य चिन्ताओं को अन्तर्हित करके स्वयं प्रधान हो जाती है, इसका अत्यन्त व्यंजक चित्र पृथ्वीराज ने कई स्थलों पर चित्रित किया है। यथा, शिशुपाल को स-दल-बल आया देख और अगले ही दिन अपने विवाह की बात सोचकर कृष्ण को इसकी सूचना देने के पश्चात् रुक्मिणी कितनी चिन्तित है :—

रहिया हरि सही जाणियौ रुषमणि, कीध न इवड़ी ढील कई।
चिन्तातुर चित इम चिन्तवती, ॥ ७० ॥

प्रिय के वियोग में नायिका का मन बार बार उसके गुणों पर जा टिकता है। वह बार बार अपने और प्रियतम के मध्य हुए इस व्यवधान को जितना ही नष्ट करने का प्रयत्न करती है, उतना ही उसका ध्यान पति की ओर आकर्षित होने लगता है। पति के गुणों का स्मरण उसके वियोग को प्रदीप्त करने में अत्यधिक सहायक होता है। रुक्मिणी भी प्रिय का स्मरण करती है और धीरे धीरे उसके गुण-कथन पर उसका मन स्थिर हो जाता है। अपने पति के गुणों पर रीझ कर ही वह बड़े विश्वास के साथ ब्राह्मण द्वारा सन्देश भेजती है। उसका यह पत्र पति के गुण-कीर्तन से भरा हुआ है। रुक्मिणी पत्र लिखने के पश्चात् पुनः 'स्मृति' अवस्था में लौट जाती है। उपरि-लिखित उदाहरण से स्पष्ट है कि उसे कृष्ण की अविलम्ब रक्षा करने की प्रवृत्ति पर विश्वास है। इन स्थितियों के अतिरिक्त 'वेलि' के प्रसंग में अन्य विरह-दशाओं का चित्रण नहीं हुआ है।

वियोग की इन दशाओं का चित्रण होते हुए भी 'वेलि' में संयोग शृंगार की ही प्रधानता है। उसका यह वियोग वर्णन आगे आने वाले संयोग के लिये भूमिका मात्र है। शील के कारण भी विरह की अन्यान्य अन्तर्दशाओं का प्रदर्शन कवि के लिये संभव न था, साथ ही यदि विरह ही प्रधान होता तो उसकी उपस्थिति संयोग के पश्चात् होती और तब संयोग की भूमिका पर वियोग की तीव्रता का अनुभव कराना संभव हो पाता। संयोग की प्रधानता की अवस्था में उसकी विविध दशाओं के चित्रण में ही कवि का ध्यान अधिक लगा है। संयोग और उस से पूर्व नायिका के शृंगार का वर्णन ही काव्य का मुख्य वर्ण्य है। इस संयोग की मधुरता के आस्वाद के लिये कवि ने सखियों

का सहारा लिया है, रति और रतिश्रान्ता का वर्णन किया है। कृप्रति की सुखदता दुखदता का चित्र अंकित किया है, साथ ही अनेक संचारी तथा सात्विकादि का गुम्फन भी किया है। संयोग का सारा वर्णन अपनी अद्भुत माधुरी से भीना भीना सा है और फिर भी रुक्मिणी के शील की रक्षा पूर्ण मर्यादा के साथ हो सकी है। संयोग की मधुरता के प्रवर्द्धन के लिये कवि ने बड़ी चतुराई से कुछ प्रसंगों की अवतारणा की है। अवतारणा स्वाभाविक और रंजक है।

विवाह-संस्कार सम्पन्न हो जाने के अनन्तर तुरन्त ही रति-संस्कार की ओर कवि का ध्यान आकृष्ट हो गया है। इस रति-संस्कार की सहायिका हैं सखियाँ। चतुर सखियों ने पहिले ही से एकान्त में सेज सजा दी है, सन्ध्या काल भी हो गया है, प्रकृति में किसी का संयोग और किसी का वियोग हो रहा है जिसके परिणामस्वरूप रुक्मिणी भी रति की इच्छा कर रही हैं:— 'रति वंछिति रुपमणि रमणि।' सखियाँ इस अवसर को कहाँ चूकने वाली हैं, उन्होंने संयोग को तीव्रता प्रदान करने के विचार से ही मानो रुक्मिणी को कृष्ण से अलग एक दूसरे कमरे में ले जाकर बैठा दिया है। दोनों को अलग बैठाकर कवि को संयोग से पूर्व कृष्ण की आतुरता, उत्सुकता और विवशता के प्रदर्शन का सुअवसर प्राप्त हो गया है। एसे अवसर पर प्रिय की मिलनोत्सुक अवस्था का चित्र जिस सुन्दरता के साथ कवि ने उपस्थित किया है वह रसिकता से ओतप्रोत है। सन्ध्या होने पर रुक्मिणी की प्रतीक्षा करते हुए कृष्ण सेज और द्वार के बीच आतुर भाव से घूम रहे हैं और तनिक सी भी आहट होने पर प्रिया का आगमन जानकर उत्सुक भाव से उनकी आहट लेने के लिये किवाड़ों से कान लगा देते हैं। न बाहर निकल कर देख ही सकते हैं और न अन्दर चुपचाप ही बैठे रहा जाता है, तनिक सी आहट पाकर ही चौक उठते हैं:—

"अटत सेज द्वार बिच आहुटि, स्रुति दे हरि घरि समाश्रित।"

इस एक ही पंक्ति में समस्त मर्म-व्यंजक चित्रों की ओर कवि ने इंगित करके जिस लाघव से काम लिया है वह रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी की निम्न पंक्तियों में भी नहीं दिखाई पड़ता।—

देखतु कछु कौतिग इहै देखौ नैकु निहारि।
कब की इकटक डटि रही, टटिया अँगुरिन फारि।।

बिहारी की नायिका में व्याकुलता का असंयत प्रदर्शन मात्र है, 'वेलि' के कृष्ण की-सी विह्वलता और उनका सा शील उसे छू तक नहीं गया है। बिहारी की नायिका यदि इतनी आकुल थी कि टटिया को भी फाड़कर देखने लगी, तो हमें आश्चर्य इसी बात का है कि वह मुँह निकाल कर चिल्लाने ही क्यों न लगी। सेज और द्वार के बीच चक्कर लगाने तथा चुपचाप किवाड़ों से कान लगाकर देखने में जो चुप-चाप वियोग की मर्मपीड़ा सहन करने और व्याकुल तथा आतुर हो जाने का भाव ध्वनित हो रहा है वह बिहारी में नहीं है। 'वेलि' का चित्र मर्म तक पहुँच करने वाला है।

क्षणिक वियोग के पश्चात् ही रुक्मिणी—लज्जा और संकोच की मूर्ति रुक्मिणी—सखियों से घिरी हुई वहाँ आती हुई दिखाई दीं। कृष्ण ने देखा यौवन-मद झलकाती हुई गजगामिनी रुक्मिणी सखियों का सहारा लिये पग पग पर खड़ी होती हुई लज्जा और संकोच की लौह-शृंखला से जकड़ी हुई चली आ रही हैं। उस समय कृष्ण की कितने दिनों की साध पूरी हो गई, इस बात पर ध्यान रखते हुए उनके उछाह, हर्ष आदि की कल्पना तो कीजिये। आनन्दित कृष्ण को रोमांच हो आया है, वह अपने वश में नहीं रहे। दौड़कर उन्होंने स्वयं रुक्मिणी को अपनी गोद में उठाकर सेज पर बैठा दिया। इस विह्वलता के लिये क्या कहा जाय, इस आतुरता का कौन सा चित्र खींचा जाय। कैसे कहा जाय मन के उत्साह को, इसे पृथ्वीराज से पूछिये:—

देहली धसति हरि जेहड़ी दीठी, आणँद को ऊपनौ अमाप।
तिण आपही करायौ आदर, ऊभा करि रोमाँ सूँ आप।।१६८।।
वहि मिळी घड़ी जाइ घणा वांछता, घण दीहाँ अन्तरै घरि।
अंकमाळ आपे हरि आपणि, पधरावी त्री सेज परि।।१६९।।

यह है प्रेम की उत्कटता, जिसकी मधुरता में नायक अपने आपको पूर्णतया भूल गया है। प्रिया को प्रेमपुलकित होकर पान देने की बात तो और कवियों ने कही है—

सहित सनेह सकोच सुख स्वेद कम्प मुसुकानि।
प्रान पानि करि आपनैं पान धरे मों पानि।।

किन्तु अपने आपको इतना भूल जाने की बात पृथ्वीराज की अपनी ही है, अन्यतम है।

नायिका का रूप-माधुर्य कैसा होता है जिसको देखकर भी नेत्र तृप्त नहीं होते। उस नवनीत से लावण्य में भी एक ऐसी लुनाई मिली रहती है कि देखकर भी प्यास बढ़ती ही जाती है। वह तृषा कैसी है, इसका स्वाद प्रेमी ही जान पाता है। बिहारी ने इस विषय पर एक बहुत ही सुन्दर दोहा कहा है, जो रीतिकालीन साहित्य की निधि है, जिसकी बड़ी प्रशंसा साहित्य-जगत में होती आ रही है। किन्तु वेलिकार भी बिहारी से पीछे नहीं हैं। उपमा के सहारे उन्होंने तृप्ति में भी अतृप्ति का बड़ा रमणीय और चमत्कारपूर्ण चित्र खींचा है :—

बिहारी का कथन है :—

त्यों त्यों प्यासेई रहत, ज्यों ज्यों पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख तृषा बुझाइ॥

वेलिकार कहता है :—

अति प्रेरित रूप आँखियाँ अत्रिपत, माहव जद्यपि त्रिपत मन।
वार वार तिम करै विलोकन, धण मुख जही रंक धन॥

बिहारी के दोहे में सलोनेपन का चमत्कार अवश्य है किन्तु सूम का धन को छाती से चिपटाए रहना, बारबार उसे देखना और रक्षा करना, उसी पर ध्यान केन्द्रित रखना आदि भावों के साम्य के आधार पर 'वेलि' में रुक्मिणी के प्रेम और सौन्दर्य के प्रति कृष्ण की तल्लीनता और अनन्यता का भी बहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है।

एक ही साथ कई भावों, संचारियों और अनुभावों का वर्णन करने में 'वेलि' के कवि को पूरी सफलता मिली है। कृष्ण की आतुरता आदि के चित्र तो निस्सन्देह अपने आप में पूर्ण व्यंजक हैं ही, रुक्मिणी की आतुरता आदि का चित्रण भी एक से एक अद्भुत् और रमणीय है। पूर्वानुराग की अवस्था में कृष्ण तक अपना सन्देश पहुँचा सकने में असमर्थ रुक्मिणी का भावचित्र हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।—

जाळी मगि चढ़ि चढ़ि पन्थी जोवै भुवणि सुतन मन तसु भिळित।
लिखि राखे कागळ नख लेखणि मसि काजळ आँसू मिळित॥

पद में, काव्यचतुर कवि ने, एक ही साथ अनुभावों को रखकर नायिका की उत्सुकता व्याकुलता-जनित आतुरता, विरह-जन्य दीनता तथा निरवलम्बता का अंकन किया है।

प्रियतम का सन्देश लेकर लौटने वाले ब्राह्मण को देखकर नवोढ़ा नायिका की उत्सुकता, शंका, चिन्ता, लज्जा, हृदय की कोमलता, चित्त की अस्थिरता आदि का निम्न चित्रण एक बोलता हुआ सजीव चित्र है :—

चळपत्र पत्र थियौ दुज देखे चित, सकै न रहति न पूछि सकन्ति।
औ आवै जिम जिम आसन्नौ, तिम तिम मुख धारणा तकन्ति॥

पूछने की इच्छा होने पर भी शंका, लज्जा तथा विवशता के कारण पूछने की असमर्थता तथा संकोच और ब्राह्मण के समीप, समीपतम आने पर एकटक हो उसके मुख को देखकर उसके हृद्गत भाव जानने की व्याकुलता का यह स्वाभाविक, अनुभूतिरंजित तथा अनुपमेय चित्र है।

बीच में आए इस वर्णन को छोड़कर पुनः एक बार सखियों के बीच चलिये। रति के प्रसंग में उद्दीपन की दृष्टि से सखियों से अधिक कौन सहायक होगा जो लज्जालु नायिका की अभिन्न होती हैं और उसके अन्तर की एक एक बात, एक एक कामना जानती हैं; कवि ने इसे खूब समझा है। उनका सामीप्य, उनकी हँसी और हास-परिहास ऐसे समय कितने उत्तेजक होते हैं, इसका कवि ने सुन्दर चित्रण किया है। अपनी हँसी से नायिका तथा नायक में मिलनोत्सुकता बढ़ा देने के पश्चात् यह सखियाँ चुपचाप उस स्थल से कैसे खिसक जाती हैं, नायक के मनोभाव को किस प्रकार चतुराई से जान लेती हैं, इसका रमणीय वर्णन पृथ्वीराज ने बड़ी सफलतापूर्वक किया है। वर और वधू के नेत्रों और उनकी मुखमुद्रा से उनके आन्तरिक भावों को जानकर भौंहों से हँसती हुई सखियाँ एक एक करके महल के बाहर चली गई।—

वर नारि नेत्र निज वदन विलासा, जाणियौ अँतहकरण जई।
हसि हसि भ्रूहे हेक हेक हुइ, गृह बाहरि सहचरी गई॥१७२॥

एक साथ उठतीं तो रुक्मिणी पकड़कर बैठ जाती, स्वयं भी चलने की इच्छा प्रकट करती अतएव चतुरा सखियाँ एक एक करके चुपचाप खिसक गईं और कृष्ण को रति-विलास के लिये रुक्मिणी के साथ छोड़ दिया। लज्जा भी बनी

रही और इच्छा भी पूरी हो गई। इसका सुख अनुभवी भुक्त-भोगी ही जानता है। पृथ्वीराज मानों रस में डूब कर लिख रहे हैं। सखियों की भौंहों की हँसी कितनी अर्थभरी और व्यंजक है, जिसने इसका अनुभव किया है वह इन पंक्तियों पर मुग्ध हुए बिना न रहेगा। बिहारी ने भी इस प्रसंग की महत्ता समझी थी, अनुभव का सुख उठाया था। उन्होंने लिखा :—

(१) झुकि झुकि झपकौंहैं पलनु फिरि फिरि जुरि जमुहाइ।
बींदि प्रियागम नींद मिसि दीं सब अली उठाइ॥

तथा (२) पति रति की बतियाँ कही, सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टलाटली, अली चली सुख पाय॥

परन्तु दोनों के वर्णन में बहुत अन्तर है। विलास-प्रिय जयसिंह के राजकवि तथा स्वयं विलास-प्रिय कवि बिहारी की नायिका तथा नायक इतने सलज्ज नहीं हैं जितने पृथ्वीराज के। इसी कारण सखियों को उठाने में चातुरी है नायक-नायिका की और यह चित्र इसी लिये किसी नवोढ़ा मुग्धा वधू का नहीं प्रौढ़ा का हो सकता है या मध्या का। वस्तुतः सखियों की चातुरी ही पृथ्वीराज का लक्ष्य है, बिहारी का लक्ष्य नायिका और नायक हैं। पृथ्वीराज रुक्मिणी के शृंगार का वर्णन संयत भाव से कर रहे हैं अतः उनकी ओर से वे कोई भी संकेत नहीं कराना चाहते। इससे उनके शील की पूरी रक्षा हो जाती है और फिर भी सखियों की चतुराई से प्रसंग की माधुरी वैसी ही आस्वादनीय, रसयुक्त बनी रहती है। इसीमें कवि का संघटन चातुर्य है, सखियों की क्रियाविदग्धता भी इसीमें है।

सखियाँ न केवल नायक-नायिका की रति में सहायक ही होती है अपितु उनके भोग को जानकर उपहास करती हुई कहकहा मारती हैं, वह कितना जीवनप्रद तथा मधुर होता है। उससे नायक-नायिका के मन को ठेस नहीं पहुँचती बल्कि एक अनिर्वचनीय रस मन ही मन घुलने लगता है, इसका अनुभव भी कवि को था। अतएव उसने रति के उपरान्त सखियों के कहकहे का भी वर्णन किया है। उनकी कहकहे आनन्द, उछाह और कामना-पूर्ति-जन्य तृप्ति के सूचक हैं। चौक चौक और चित्रशालाएँ उनकी खिलखिलाहट से भर गयी हैं :—

सुख लाधै केलि स्याम स्यामा सँगि, सखिये मन रखिए सँघट।
चौकि चौकि ऊपरि चित्रसाळी, हुइ रहियौ कहकहाहट॥१७९॥

इन प्रसंगों के अतिरिक्त कवि ने शृंगार को पूर्णता प्रदान करने के लिये रति-श्रान्ता रुक्मिणी का भी वर्णन किया है। लाज और शील की छुई मुई रुक्मिणी जी की रति का वर्णन कवि का लक्ष्य नहीं है। इस प्रकार उसने रति-लाभ का वर्णन न कर एक तो शील की रक्षा कर ली और कालिदास के समान नग्न विलास का चित्रण करने से रुक गया, दूसरी ओर अपनी विनम्रता की रक्षा करते हुए अन्य लेखकों को पथ-प्रदर्शन भी करा दिया। रुक्मिणी के रति-केलि के वर्णन न करने का कारण कवि के शब्दों में इस प्रकार है :—

एकन्त उचित क्रीड़ा चौ आरंभ, दीठौ सु न किहि देव दुजि।
अदिठ अश्रुत किम कहणौ आवै, सुख ते जाणणहार सुजि॥१७३॥

निश्चय ही एकान्त, व्यक्तिगत और नितान्त गोप्य सुख का वर्णन करना कवि के लिये अनुचित ही है। किसी की रति-क्रीड़ा देखना अनौचित्य की सीमा में प्रवेश करना ही है। यह क्रीड़ा अनुचित है यह नहीं कहा जा सकता किन्तु इसे दूसरे न देखें और न सुनें इसी में शील की रक्षा है। फिर माता-पिता की रति का वर्णन कहना-सुनना और भी अनुचित है। उस सुख को भुक्त-भोगी ही जानता है, अतएव वर्णन भी असंभव है। इस रति का बिहारी की तरह खुले बाज़ार यह कहना कि :—

राधा हरि हरि राधिका बनि आए संकेत।
दम्पति रति विपरीत सुखु सहज सुरत हूँ लेत॥

धृष्टता है, निंद्य है। किन्तु रति के उपरान्त रुक्मिणी की दशा का चित्रण करना अनुचित नहीं। वह शृंगार का नग्न चित्रण नहीं है, रति का संकेत भरा व्यंजक रसास्वाद है। इसी कारण वेलिकार ने रति-श्रान्ता के कतिपय रम्य चित्रों का उद्घाटन किया है; अनुभावों, संचारियों की सुखद व्यवस्था की है। वर्णन को आभरणयुत बना दिया है। रत्यन्त में प्रकट हुए स्वेदकणों का वर्णन देखिये :—

कीधै मधि माणिक हीरा कुन्दण, मिळिया कारीगर मयण।
स्यामा तणै लिलाट सोहिया कुंकुम विन्दु प्रसेद कण॥१७५॥

"स्यामा के ललाट पर स्वेदकण कुंकुम की भाँति सुशोभित हो रहे है। मानो कामदेव रूपी कारीगर ने सुवर्ण में हीरे जड़कर माणिक्य मिला दिया हो।" रति-श्रम से भी नायिका का सौन्दर्य ही छलक कर बाहर आ गया। इसी स्वेदकण की बात विद्यापति ने दूसरे ढंग में कही है कि मानो कामदेव मुख-रूपी इन्दु की मोतियों से पूजा कर रहा है—

वदन सोहाओन स्रमजल विन्दु, मदन मोति लए पूजल इन्दु।

अलंकृत सात्विकों तथा संचारियों के सौन्दर्य से किसी को विराग हो तो अपनी सहज स्वाभाविकता में खिले हुए सात्विकों की नैसर्गिक सुषमा का आस्वाद भी 'वेलि' में लिया जा सकता है। एक ही साथ कई सात्विक कैसे मित्र भाव से कवि की सरल भाषा में बैठ गए हैं यह प्रशंसनीय है :—

त्री वदन पीतता, चित व्याकुलता, हियै धगधगी खेद हुह।
धरि चख लाज पगे नेउर धुनि, करे निवारण कण्ठ कुह ॥१७६॥

पीतता से वैवर्ण्य के संकेत के साथ, धगधगी से वेपथु का संकेत प्रस्तुत करते हुए कुशल कवि ने व्याकुलता, खेद और लज्जा आदि का निसर्ग-रमणीय चित्र ही अंकित किया है। आगे के पदों में कवि ने रुक्मिणी की श्रमित दशा का भी वर्णन किया है। उनके केश के खुल जाने, मुक्तावलियों के टूट जाने, करधनी के ढीली हो जाने और चलने में भी अशक्त हो जाने का वर्णन करके सहृदय को रस-विभोरता तक पहुँचा दिया है। भावुक के लिये इस प्रकार के संकेत ही पर्याप्त हैं, शृंगार का मधुवर्षण करने में पूर्ण शक्त हैं। ऐसे चित्रों से नग्नता भी बची रही और रस में भींजने का भी पूरा आनन्द आ गया है। 'वेलि' के यह चित्र हिन्दी-शृंगार-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

शृंगार की पूर्णता के लिये वेलिकार ने जहाँ तक हो सका है, कोई भी उचित वर्णन हाथ से नहीं जाने दिया है। रति के अन्त में भी कृष्ण किस प्रकार अतृप्त रह गये हैं और प्रातः का आगमन, प्रिया के विदा होने की चिन्ता के कारण, कितना दुखद लगता है, इसका अंकन भी पृथ्वीराज ने उसी कुशलता और उत्साह के साथ किया है।—

लिखमीवर हरख निगरभर लागी, आयु रयणि त्रूटन्ति इम।
क्रीड़ाप्रिय पोकार किरीटी, जीवितप्रिय घड़ियाल जिम ॥१८१॥

निस्सन्देह नवीना के साथ एक ही रात्रि का सुख उठाने के पश्चात् यदि वियुक्त होना पड़े, भले ही दिन भर के लिये, तो सहज ही पीड़ा से हृदय व्याकुल हो उठता है। उस पीड़ा की तीव्रता कैसी है, यह भावुक हृदय ही वर्णन कर सकता है।

शृंगार के रमणीय प्रसंगों की उद्भावना करने में कवि अत्यन्त कुशल है, साथ ही शृंगार रस को उद्दीप्त करने के लिये भी उसके पास प्रभूत सामग्री है। शैशव से यौवन की ओर बढ़ती हुई नायिका का वर्णन आरंभ से ही पाठक का मन उसके रूप-सौन्दर्य पर स्थिर कर देता है। ज्ञातयौवना और यौवन-जनित लज्जा तथा संकोच और शील के चित्र तो पहिले ही उद्धृत किये जा चुके हैं। कवि ने उद्दीपन की दृष्टि से श्यामा के शृंगार और नखशिख का वर्णन करने का दो-दो बार अवसर खोज निकाला है। एक तो यौवनागम पर प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रस्फुटन के चित्र बाँधे गये हैं और दूसरे कृष्ण को आया सुनकर मिलनोत्सुक रुक्मिणी का शृंगार-सज्जा का वर्णन उपस्थित किया गया है। इसी स्थल पर कवि ने रुक्मिणी के स्नान का वर्णन करके सद्य-स्नाता के वर्णन का भी अवसर निकाल लिया है। नखशिख के वर्णन में कवि की सूझ-बूझ, मौलिक उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग का कौशल दर्शनीय है। इन सब वर्णनों के लिये क्रमशः १२, १३, १५, १७, १८, २०, २४ २५, २६, २७, २९, ८०, ८१, ८२ आदि दोहलों का अध्ययन करना चाहिये। यहाँ प्रत्येक का सौन्दर्य प्रकट करना व्यर्थ का विस्तार करना ही होगा।

नखशिख-निरूपण

शृंगार-रस के पोषण के लिये नायिका का नखशिख वर्णन उद्दीपन का काम करता है। रीतिकालीन कवियों ने नायिका के नखशिख-निरूपण में बड़ी बड़ी दूर की उड़ानें भरी हैं। उनका ऊहात्मक वर्णन, उनकी अतिशयोक्तियाँ एकदम विचित्र हैं। दूसरी ओर ऐसे भी कवि देखे जाते हैं जिन्होंने नायिका के सौन्दर्य के लिये केवल परम्परागत उपमानों का नाम गिनाकर छोड़ दिया है। वेलिकार ने इस विषय में अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का भी दर्शन कराने की चेष्टा की है और नायिका के सौन्दर्य के लिये उसके परिधान, आभूषणादि का भी विशद वर्णन किया है। वेलिकार ने पाठक का

मन आकर्षित करने के लिये रुक्मिणी के बाल्यकाल से लेकर उसके वयःसन्धि, यौवन, वासकसज्जा, सद्यस्नाता, रतिश्रान्ता आदि के रम्य चित्र उपस्थित करने के अतिरिक्त उसके प्रत्येक अवयव के विकास और आभूषण तथा वस्त्रों के बीच उसकी शोभा का भी सुन्दर चित्रण किया है।

वयः सन्धि का चित्रण करने में कवि को भावाभिव्यंजन तथा शील रक्षण में विद्यापति आदि से कहीं अधिक सफलता मिली है। विद्यापति ने जहाँ मांसल सौन्दर्यानुभूति पर अधिक जोर दिया है वहाँ वेलिकार ने संकेत से काम लिया है। विद्यापति कहते हैं :—

शैशव यौवन दरसन भेल, दुहु दल बले दन्द परि गेल।
कबहुँ बाँधए कच कबहुँ बिथारि, कबहुँ झाँपए अंग कबहुँ उघारि॥
अति थिर नयन अथिर किछु भेल, उरज उदय थल लालिम देल।
चरण चंचल चित चंचल भान, जागल मनसिज मुदित नयान॥

अथवा :— मुकुर लेई अब करति सिंगार, सखि पूछइ कैसे सुरत विहार।
निरजने उरज हेरइ कत बेरि, हंसइत अपन पयोधर हेरि॥

किन्तु पृथ्वीराज अपनी नायिका को इस प्रदर्शन तक नहीं घसीटते। वे उषा और रात्रि का सहारा लेकर संकेत से रुक्मिणी के बढ़ते हुए यौवन की सूचना दे देते हैं :—

पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ प्राची, अरुण कि अरुणोद अम्बर।
पेखे किरि जागिया पयोहर, संझा वन्दण रिखेसर॥

यौवनागम की सूचना भी है और अलंकार के साथ साथ सात्विकता भी। उनकी नायिका मुकुर लेकर कुचों का उभार देखती हुई कभी नहीं दिखाई दी, इसके विपरीत वह 'काम-विराम छिपाड़ण काज' व्यस्त रहती दीखती है। वह शील की मूर्ति है। उसमें 'ब्रह्म' कवि की नायिका सी निर्लज्जता नहीं है कि कवि कह उठे :—

खेलत संग कुमारन के, सुकुमारि कछू सकुची जिय माँही।
काम कला प्रगटी अंग अंग, विलोकि हँसी अपनी परछाँही॥
'ब्रह्म' भनै न रहै उर अंचल, तू छिन ही छिन ढाँपत काही।
डारति हो सिव के सिर अम्बर, ए तौ दिगम्बर राखत नाँही॥

और न मतिराम की-सी नायिका ही वह है कि :—

इत उतै सकुचत चितै, चलत डुलावति बाँह।
दीठि बचाय सखीन की, छिनक निहारति छाँह॥

किन्तु; यह भी नहीं कहा जा सकता कि कवि की दृष्टि से रुक्मिणी के कुचों की शोभा छिपी रही ह। कवि अपनी सरसता के वशीभूत होकर् कह ही उठा :—

कामिणि कुच कठिन कपोळ करी किरि, वेस नवी विधि वाणि वखाणि।
अति स्यामता विराजति ऊपरि, जोवण दाण दिखाळिया जाणि॥

कवि की दृष्टि से नायिका का कोई भी अंग नहीं बच पाया है, जिसका उसने वर्णन न किया हो। यहाँ हम उन स्थलों को ही उद्धृत करेंगे जिनकी तुलना द्वारा समानता प्रदर्शित की जा सके अथवा कवि की मौलिक सूझ का दर्शन हो सके। इस दृष्टि से वेलि के वर्णन में जायसी से मिलती-जुलती कई कल्पनायें मिलती हैं। रुक्मिणी का सखियों के साथ रहने पर सौन्दर्य ऐसा छलक पड़ता है जैसे :—"उड़ीयण वीरज अम्बहरि" ही हो। जायसी की पद्मावती भी सखियों के बीच उसी प्रकार सुशोभित है :—"धनि सो नीर ससि तरई ऊईं।" रुक्मिणी के नितम्बों की बनावट और उनका सौन्दर्य जायसी की पद्मावती के नितम्बों जैसा ही है। वेलिकार ने कहा है :—"नितम्बिणी जंघ सु करभ निरूपम, रम्भ खम्भ विपरीत रुख।" और जायसी की चौपाई है :—

बरनों नितम्ब लंक कै सोभा। औ गज गवन देखि सब लोभा॥
जुरे जंघ सोभा अति पाये। केरा खाँभ फेरि जनु लाये॥

दोनों में कोई अन्तर नहीं, दोनों ने कदली खम्भ की विपरीत स्थिति का स्पष्ट वर्णन किया है। रुक्मिणी की माँग का वर्णन भी जायसी के वर्णन से समानता रखता है। वेलिकार का कथन है कि :—"उतमंग किरि आधोअधि, माँग समारि कुंआर मग।" और जायसी की पंक्ति है :—"बिनु सेंदुर अस जानहु दिया। उजियर पंथ रैन मंह किया॥" एक ने 'कुंआर मग' कहा है दूसरे ने 'उजियर पंथ।' बात एक ही है।

इसी प्रकार एकाध स्थल पर विद्यापति तथा परवर्ती बिहारी से मिलती-जुलती बात भी आपको मिल जायगी। भौंहों के विषय में विद्यापति तथा वेलिकार दोनों की एक ही कल्पना है। पहला कहता है :—'तापर भंवर पिवए

रस सजनिए, बइसल पंख पसार।' और दूसरा भी उसी के समान कल्पना करता है :—'पाँपणि पंख सँवारि नवी परि, भूंहारे भ्रमिया भ्रमर।' इसी प्रकार 'दीपशिखा- सी देह' का भाव बिहारी से साम्य रखता हुआ मिल जायगा। किन्तु ऐसे स्थल गिने चुने हैं।

इतना होने पर भी रुक्मिणी का नखशिख-वर्णन अपने में बहुत कुछ मौलिक है और कवि की सौन्दर्य प्रियता, सूक्ष्म तुलनात्मक बुद्धि तथा रमणीय कल्पना के साथ साथ कभी कभी उसकी दूर की सूझ का भी पता देता है। इस प्रसंग के अन्तर्गत कवि की मौलिक कल्पना के लिये 'वेलि' के क्रमशः २३, २७, ८२, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९६, ९८ आदि दोहलों को देखना चाहिये। तिलक का वर्णन कवि ने कितनी सुन्दरता से किया है इसका पता उसके निम्न छन्द :—

कमनीय करे कूँ कूँ चौ निज करि, कलँक धूम काढे बे काट।
सम्प्रति कियौ आप मुख स्यामा, नेत्र तिलक हर तिलक निलाट॥ ८७॥

की जायसी की :—"तेहि लिलाट पर तिलक बईठा, दुइज पाट जानहु धुव दीठा॥" पंक्ति से तुलना करने पर लग जाता है। एक में समग्र चित्र की रमणीयता है, दूसरे में साम्य का हलका सा पुट। इसी प्रकार एक और बिल्कुल नवीन और अनूठी कल्पना इसी तिलक को लेकर देखिये। कवि कहता है :—

मुख सिख संधि तिलक रतनमै मण्डित, गयौ जु हूँतौ पूठि गळि।
आयै क्रिसन माँग मग आयौ, भाग कि जाणे भाळियळि॥ ८८॥

सचमुच नारी के लिये पति का आ जाना कितने सौभाग्य का सूचक होता है। इस कल्पना से यह पद अत्यन्त सजीव हो गया है। और भी अधिक नवीन तथा अलंकारसज्जित वर्णन देखना हो तो दोहला ८ देखिये। साथ ही कंचुकी का वर्णन भी पढ़ लीजिये :—

इम कुँभ अन्धारी कुच सु कन्चुकी, कवच सम्भु काम क कळह।
मनु हरि आगमि मण्डे मण्डप, बन्धण दीध कि वारगह॥ ९०॥

सारांश यह कि वेलिकार ने रुक्मिणी के नखशिख-वर्णन में नवीन कल्पनाओं, उपमा, उत्प्रेक्षाओं तथा रूपकों और रूपकातिशयोक्ति आदि के सहारे रुक्मिणी को अत्यन्त आकर्षक रूप देने में सफलता प्राप्त की है। कवि ने उसकी

साजसज्जा तथा वस्त्राभूषण का सहारा लेकर उसकी तन-दीप्ति को और भी दीपित करने में सफलता प्राप्त की है। सहज-सौन्दर्य से उनकी रुक्मिणी की देह दीप-पंक्ति की कान्ति के समान झलमला रही है। रुक्मिणी में अंतः बाह्य सौन्दर्य का मनोमुग्धकर सम्मेलन हुआ है। उसके अलौकिक रूप के सम्मुख प्राकृतिक उपमान भी हीन हैं। सारा वर्णन कवि के कल्पना-गौरव से गौरवान्वित है।

अन्य रस

'वेलि' में शृंगार की प्रधानता होते हुए भी कवि ने अन्य रसों का भी चमत्कारपूर्ण परिपाक किया है। शृंगार के पश्चात् दूसरे रसों में वीर को प्रधानता मिली है और रौद्र तथा वीभत्स उसके सहायक होकर आए हैं। शत्रुओं की घबड़ाहट—११२ तथा ११३ दोहले—दिखाने अथवा सखियों के वचनों के द्वारा हास्य की सृष्टि की गई है। साथ ही कहीं पर उससे नायक की प्रतिष्ठा बनाने और कहीं शृंगार के पोषण में सहायता ली गई है। सखियों का हास शृंगार के उद्दीपन का काम करता है। ११२ तथा ११३ दोहलों में तो ललकार सुनने पर शत्रु की बहुरूपिये के समान सज्जा का चित्रण अत्यन्त सफल हास्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इससे शत्रु का उपहास होने के साथ साथ नायक की वीरता और निर्भीकता भी व्यक्त होती है। वस्तुतः इससे वीर रस के परिपाक में सहायता ही मिलती है।

वीर रस के लिये इस प्रकार हास्य से सहायता लेने के अतिरिक्त कवि ने अन्य स्वाभाविक और उपयुक्त साधनों से भी सहायता ली है। यथा, शस्त्रों का उल्लेख, बलराम या रुक्मी तथा अन्य सैनिकों का एक दूसरे को ललकारना, ओजमय पंक्तियों का संगठन, शरसन्धान आदि के चित्र उपस्थित करके कवि ने वीर का अत्यन्त सफल रूप खड़ा किया है। कृष्ण अथवा बलराम के क्रोध का वर्णन रौद्र का उदाहरण है। १२५ तथा १२८ जैसे छन्दों में बीभत्स रस का वर्णन दर्शनीय है। १२० से १२५ तक के दोहलों में बीभत्स रस का ही परिपाक हुआ है। कवि ने शस्त्रों के नाम के अतिरिक्त रणस्थल में घोड़ों की नाक का बजना, शस्त्रों की झनकार, युद्ध की क्रियात्मकता के अत्यन्त सजीव तथा ओजमय चित्र अंकित किये हैं। युद्धस्थल में किस प्रकार दो

सेनाओं का आमना-सामना होता है इसका अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन करते हुए कवि कहता है :—

अळगी ही नैड़ी की ऊखवते, देठाळौ हुऔ दलाँ दुंह।
वागा ढेरवियाँ वाहरुए, मारकुए फेरिया मुँह ॥११६॥

इसी प्रकार प्रचण्ड रण की अनुभूति जाग्रत करने के लिये कवि ने कितने कौशल से ओजमय शब्दों का प्रयोग किया है, वह दर्शनीय है :—

कळकळिया कुन्त किरण कळि ऊकळि,
वरजित विसिख विवरजित वाउ।
धड़ि धड़ि धबकि धार धारू जल,
सिहरि सिहरि समखै सिळाउ॥

ऐसे ही उदाहरणों के आधार पर 'वेलि' के सम्पादक पारीक जी का कहना है कि :—प्रत्येक छन्द में ओज गुण की प्रधानता इतनी व्यक्त है कि मानो उसका आतंक डरावने श्याम बादलों की छटा के रूप में गंभीर घड़घड़ाहट के साथ हमारे ऊपर घिरा पड़ता है। संस्कृत-साहित्य के कवियों में इस समय हमको कालिदास की प्रसाद माधुर्य पूर्ण शैली का विलास भूलकर भवभूति की ओजस्विनी शैली का स्मरण हो जाता है।—पृ० ७७।

रुक्मी के ललकारने पर कृष्ण का रौद्र रूप और शर-सन्धान का स्वाभाविक चित्र देखिये :—

विळकुळियौ वदन जेम वाकार्यौ, संग्रहि धनुख पुणच सर-सन्धि।
क्रिसन रुकम आउध छेदन कजि, वेलखि अणी मूठि द्रिठि बन्ध ॥१३१॥

ललकारों में भी बड़ी मनोवैज्ञानिक कुशलता का परिचय देते हुए रुक्मी आदि के क्रोध तथा घृणा की व्यंजना के लिए कृष्ण के लिये 'ग्वाला' आदि कहलाया है :—

अबळा लेइ घणी भुंइ आयौ, आयौ हूँ पग माँडि अहीर ॥१३०॥ अथवा
माँखण चोरी न हुवै माहव, महियारी न हुवै महर ॥११४॥

रस-विरोध

'वेलि' के इन स्थलों में वीर तथा रौद्र को अंगी रूप में रखकर यह कठिनाई उपस्थित होती है कि शृंगार ग्रंथ में वीरादि का ऐसा वर्णन दोष की सीमा तक जा पहुँचा है। सामान्यतः वीर रस शृंगार की सहायता

साजसज्जा तथा वस्त्राभूषण का सहारा लेकर उसकी तन-दीप्ति को और भी दीपित करने में सफलता प्राप्त की है। सहज-सौन्दर्य से उनकी रुक्मिणी की देह दीप-पंक्ति की कान्ति के समान झलमला रही है। रुक्मिणी में अंतः बाह्य सौन्दर्य का मनोमुग्धकर सम्मेलन हुआ है। उसके अलौकिक रूप के सम्मुख प्राकृतिक उपमान भी हीन हैं। सारा वर्णन कवि के कल्पना-गौरव से गौरवान्वित है।

अन्य रस

'वेलि' में शृंगार की प्रधानता होते हुए भी कवि ने अन्य रसों का भी चमत्कारपूर्ण परिपाक किया है। शृंगार के पश्चात् दूसरे रसों में वीर को प्रधानता मिली है और रौद्र तथा वीभत्स उसके सहायक होकर आए हैं। शत्रुओं की घबड़ाहट—११२ तथा ११३ दोहले—दिखाने अथवा सखियों के वचनों के द्वारा हास्य की सृष्टि की गई है। साथ ही कहीं पर उससे नायक की प्रतिष्ठा बनाने और कहीं शृंगार के पोषण में सहायता ली गई है। सखियों का हास शृंगार के उद्दीपन का काम करता है। ११२ तथा ११३ दोहलों में तो ललकार सुनने पर शत्रु की बहुरूपिये के समान सज्जा का चित्रण अत्यन्त सफल हास्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इससे शत्रु का उपहास होने के साथ साथ नायक की वीरता और निर्भीकता भी व्यक्त होती है। वस्तुतः इससे वीर रस के परिपाक में सहायता ही मिलती है।

वीर रस के लिये इस प्रकार हास्य से सहायता लेने के अतिरिक्त कवि ने अन्य स्वाभाविक और उपयुक्त साधनों से भी सहायता ली है। यथा, शस्त्रों का उल्लेख, बलराम या रुक्मी तथा अन्य सैनिकों का एक दूसरे को ललकारना, ओजमय पंक्तियों का संगठन, शरसन्धान आदि के चित्र उपस्थित करके कवि ने वीर का अत्यन्त सफल रूप खड़ा किया है। कृष्ण अथवा बलराम के क्रोध का वर्णन रौद्र का उदाहरण है। १२५ तथा १२८ जैसे छन्दों में बीभत्स रस का वर्णन दर्शनीय है। १२० से १२५ तक के दोहलों में बीभत्स रस का ही परिपाक हुआ है। कवि ने शस्त्रों के नाम के अतिरिक्त रणस्थल में घोड़ों की नाक का बजना, शस्त्रों की झनकार, युद्ध की क्रियात्मकता के अत्यन्त सजीव तथा ओजमय चित्र अंकित किये हैं। युद्धस्थल में किस प्रकार दो

सेनाओं का आमना-सामना होता है इसका अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन करते हुए कवि कहता है :—

अळगी ही नैड़ी की ऊखुवते, देठाळौ हुऔ दलाँ दुंह।
वागा ढेरवियाँ वाहरुए, मारकुए फेरिया मुँह ॥११६॥

इसी प्रकार प्रचण्ड रण की अनुभूति जाग्रत करने के लिये कवि ने कितने कौशल से ओजमय शब्दों का प्रयोग किया है, वह दर्शनीय है :—

कळकळिया कुन्त किरण कळि ऊकळि,
वरजित विसिख विवरजित वाउ।
धड़ि धड़ि धबकि धार धारू जल,
सिहरि सिहरि समखै सिळाउ ॥

ऐसे ही उदाहरणों के आधार पर 'वेलि' के सम्पादक पारीक जी का कहना है कि :—प्रत्येक छन्द में ओज गुण की प्रधानता इतनी व्यक्त है कि मानो उसका आतंक डरावने श्याम बादलों की छटा के रूप में गंभीर घड़घड़ाहट के साथ हमारे ऊपर घिरा पड़ता है। संस्कृत-साहित्य के कवियों में इस समय हमको कालिदास की प्रसाद माधुर्य पूर्ण शैली का विलास भूलकर भवभूति की ओजस्विनी शैली का स्मरण हो जाता है।—पृ० ७७।

रुक्मी के ललकारने पर कृष्ण का रौद्र रूप और शर-सन्धान का स्वाभाविक चित्र देखिये :—

विळकुळियौ वदन जेम वाकार्यौ, संग्रहि धनुख पुणच सर-सन्धि।
क्रिसन रुकम आउध छेदन कजि, वेलखि अणी मूठि द्रिठि बन्ध ॥१३१॥

ललकारों में भी बड़ी मनोवैज्ञानिक कुशलता का परिचय देते हुए रुक्मी आदि के क्रोध तथा घृणा की व्यंजना के लिए कृष्ण के लिये 'ग्वाला' आदि कहलाया है :—

अबळा लेइ घणी भुंइ आयौ, आयौ हूँ पग माँडि अहीर ॥१३०॥ अथवा
माँखण चोरी न हुवै माहव, महियारी न हुवै महर ॥११४॥

रस-विरोध

'वेलि' के इन स्थलों में वीर तथा रौद्र को अंगी रूप में रखकर यह कठिनाई उपस्थित होती है कि शृंगार ग्रंथ में वीरादि का ऐसा वर्णन दोष की सीमा तक जा पहुँचा है। सामान्यतः वीर रस शृंगार की सहायता

ही किया करता है क्योंकि उससे नायक की वीरता और उसकी शक्ति का उत्कर्ष ही प्रकट होता है। यही कारण है कि हिन्दी के वीर काव्यों में शृंगार तथा वीर रस का ही परिपाक हुआ है। किन्तु यहाँ इस प्रकार की शंका का कारण केवल इतना ही है कि वेलि खण्डकाव्य है और इसमें शृंगार के परिपाक के बीच वीर का इतना विस्तृत वर्णन करते हुए रौद्र आदि की ऐसी सहायता ली गई है कि सहृदय यह भूल ही जाता है कि वह शृंगार का ग्रंथ पढ़ या सुन रहा था। फलस्वरूप शृंगार की एकतानता में बाधा पड़ जाती है। इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य को हानि पहुँचती है।

यद्यपि रस-विरोध से बचने की बात सभी रसों के लिये कही गई है किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन ने शृंगार को अत्यन्त सुकुमार मानते हुए उसके विरोध से विशेष रूप से बचना आवश्यक बताया है। उन्होंने कहा :—

विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत्।
विशेषतस्तु शृंगारे सुकुमारतरो ह्यसौ॥

किन्तु शास्त्रों में इस प्रकार का विधान है कि रसों के कुछ अविरोधी रस भी होते हैं जिनका प्रयोग किया जा सकता है। यहाँ तक कि स्थायीभाव तक भी दूसरे रसों के संचारी बनकर आ सकते हैं। इन अविरोधी रसों में वीर तथा शृंगार एवं रौद्र तथा शृंगार की गणना की गई है। इसी प्रकार शृंगार के साथ बीभत्स का सहज विरोध मानकर उनका एक साथ वर्णन अनुचित माना गया है।

'वेलि' में वर्णित वीर रस तो शृंगार की सहायता ही करता है किन्तु बीच में १२० से १२५ तथा १२८वें छन्दों में रौद्र तथा बीभत्स के आ जाने से जुगुप्सा भाव उत्पन्न होते ही शृंगार की प्रधानता नष्ट हो जाती है। यद्यपि काव्यप्रकाशकार ने रसों में विरोध न मानते हुए इसी बात की स्थापना की है कि जहाँ साम्य अथवा स्मृति के कारण बीभत्स का वर्णन हो वहाँ कोई दोष नहीं मानना चाहिये :—

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अंगिनि अंगमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परौ॥

परन्तु 'वेलि' के बीभत्स वर्णन में इन दोनों में से कोई भी बात नहीं दीख पड़ती। अतएव 'वेलि' का यह स्थल रस-विरोध की कल्पना का परिहार नहीं

करता। इस प्रसंग की उपयुक्तता हम भावशान्ति, भावोदय आदि भावध्वनि का सहारा लेकर भी सिद्ध नहीं कर सकते। 'वेलि' के इस स्थल पर रौद्र तथा बीभत्स के वर्णन से निश्चय ही शृंगार को कोई सहायता नहीं पहुँचती। अतएव अंगीरस का अंग हो जाना भी यहाँ उपयुक्त नहीं। इससे उत्तम काव्य का स्वरूप नहीं खड़ा होता। पारीकजी के शब्दों में :—ज्यादा युक्तिसंगत तो यह होगा कि हम इस रस-भाव-विरोध को मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत अपरांग व्यंग्य का एक उदाहरण मानें। प्रकृत प्रकरण में व्यंगरस अर्थात् रतिमूलक शृंगार रस दूसरे रस अथवा भाव का अंग बनकर गौण हो गया है अतएव गुणीभूत व्यंग्य हुआ।—पृ० ८७। उनकी स्पष्ट सम्मति है कि उपरोक्त ५–६ दोहलों में वर्णित बीभत्स वर्णन शृंगार प्रधान 'वेलि' के लिये अनुचित है। किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कवि ने इस दोष को बचाने के लिये भी पर्याप्त प्रयत्न किया है। उसने इन दोहलों को वीर सम्बन्धी दोहलों के बीच जहाँ तहाँ प्रयुक्त किया है और इस प्रकार शृंगार रस से इनको दूर ही रखा है। ऐसा करने से वीर तथा शृंगार ही संयुक्त रह जाते हैं और अन्य रसों का प्रभाव क्षीण हो जाता है। शास्त्रीय पद्धति के अनुसार भी ऐसे विरोधी रसों के बीच किसी अन्य अविरोधी रस के आ जाने से दोष नहीं रहता। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि वर्षा का रूपक स्थापित करके लेखक ने बीभत्स की जुगुप्सा को उन्नत नहीं होने दिया है। अतएव केवल ५–६ दोहलों के आधार पर रस-विरोध की कल्पना करके काव्य को दोषपूर्ण कहना विशेष संगत नहीं।

कला-पक्ष

'वेलि' में जहाँ एक ओर काव्य के अन्तरंग की पूर्णता है वहाँ दूसरी ओर उसका बाह्य भी अलंकारों की दीप्ति, शब्दों की कोमलता, ओज की कान्ति आदि से झलमला रहा है। अन्तर्बाह्य का आकर्षक सम्मिलन ही इस काव्य की विशेषता है। भाव और कला दोनों के मधुर मिश्रण से कविता-कामिनी का रूप निखर उठा है। अलंकारों से एक एक दोहला अलंकृत और भाव से भावित है। रीतिकाल में अनेक कवियों ने जिस प्रकार पाण्डित्य

प्रदर्शन के लिये अलंकारों का नीरस अथवा अस्थान प्रयोग किया है, वैसा इस रमणीय काव्य में कहीं देखने को नहीं मिलेगा। अलंकार का महत्व काव्य में केवल इसलिये नहीं होता कि वह केवल बाहरी आडम्बर प्रदान कर सके और उससे सहज, स्वाभाविक और स्पष्ट चित्र भी कृत्रिम, प्रयत्नपूर्वक योजित तथा अस्पष्ट लगने लगे बल्कि अलंकार का काव्य में महत्व इसलिये है कि उससे कवि हमारे सम्मुख साम्य, साधर्म्य अथवा विरोध आदि के आधार पर एक चित्र उपस्थित करने में समर्थ हो सके हम श्रव्य का भी दृश्य के समान आनन्द ले सकें। उससे हमारे भावों का ही अनुरंजन न हुआ, हमारे सम्मुख एक रूप खड़ा न हो गया तो काव्य में अलंकार का उद्देश्य ही क्या है। अतएव भाव के साथ चलते रहने में ही अलंकार की महत्ता है। वह भाव का अनुगामी होना चाहिये, उसका स्वामी नहीं। अलंकार को खपाने के लिये ही जो कविता-पंक्तियाँ लिखी जायँगीं वे सीधे कवि के हृदय से न निकल कर उसकी बौद्धिकता का परिणाम होंगी। काव्य, बुद्धि के नहीं, हृदय के आश्रित है। वेलिकार ने इस बात को पूर्णतया ध्यान में रखा है और अलंकारों का ऐसा सुन्दर प्रयोग किया है कि उनसे भावोत्तेजन, रूप-निर्माण आदि में सहायता ही मिलती है।

अलंकार

वेलिकार का कोई भी पद ऐसा नहीं है जो अलंकृत न हो। यदि अर्थालंकार का प्रयोग न हो सका हो तो वहाँ शब्दालंकार की रमणीयता अवश्य प्राप्त हो जायगी। यों वेलि में अर्थालंकार का ही प्राधान्य है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक तथा वक्रोक्ति का उन्होंने विशेष प्रयोग किया है। साधारणतः अनुप्रास दो-दो पंक्तियों तक निबाहा गया है। यथा :—

जम्प जीव नहीं आवतौ जाणे, जोवण जावणहार जण।
बहु विलखी बीछड़ती बाळा, बाळ सँघाती बाळपण॥

लाटानुप्रास तथा छेकानुप्रास ही अनुप्रासों में लेखक को अधिक प्रिय हैं। अनुप्रासों के प्रयोग से अर्थ-सौष्ठव और भाव-कमनीयता में सहायता मिली है जिससे पंक्तियाँ चमत्कार पूर्ण हो गई हैं। लाटानुप्रास, छेकानुप्रास, के साथ साथ विभावना का सुन्दर मिश्रण कितना मोहक और सफल है, भाव की कितनी स्पष्टता लाने में समर्थ है और कवि के लाघव को किस प्रकार व्यक्त करता

है, यह सभी बातें एक साथ निम्न पंक्तियों से प्रकट हो जाती हैं। भाव तरंगित हो उठते हैं :—

लाजवती अंगि एह लाज विधि, लाज करन्ती आवै लाज।

केवल एक पंक्ति में ही कितनी स्वाभाविकता ओतप्रोत है। कथन की कुशलता कैसी मोहक है। संकोच और लाज भी मानो मूर्तिमन्त हो गये हों।

कवि की वक्रोक्तियाँ भी देखने योग्य हैं। कवि ने श्लेष वक्रोक्ति को नहीं अपनाया है यह इस बात का प्रमाण है कि वह ध्वनित अर्थ में अधिक विश्वास रखता था, शाब्दिक चमत्कार का चक्कर उन्हें प्रिय न था। रुक्मिणी के पत्र में ६१ से ६४ तक काकु वक्रोक्ति का प्रयोग हुआ है। किन्तु सबसे अधिक सुन्दर नाटकीय प्रयोग शिशुपाल की सेना-प्रयाण के समय का है। विवाह मात्र के लिये शिशुपाल बड़े उत्साह से देश-देश के न जाने कितने (अगणित) राजा साथ लेकर चल पड़ा है। उक्ति की वक्रता के कारण भविष्य में कृष्ण के द्वारा शिशुपाल की पराजय और तज्जन्य हीनता का संकेत पाठक को पंक्ति पढ़ते ही मिल जाता है :—

हुइ हरख घणै सिसुपाळ हालियौ, ग्रंथे गायौ जेणि गति।
कुण जाणै सँगि हुआ केतला, देस देस चा देसपति॥

दोहले को पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है मानो यह ध्वनि निकलती है कि अयोग्य को अचानक सम्पति हाथ लग गई है जिसकी प्रसन्नता में वह फूला नहीं समा रहा है।

अर्थालंकारों में कवि को उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक विशेष प्रिय हैं। सबसे अधिक प्रयोग उसने उत्प्रेक्षा का किया है। तदनन्तर उपमा और रूपक का। इन सभी अलंकारों में कवि की मौलिक सूझ और कल्पना का वह मधुर प्रभाव है जो काव्य को सरल बनाने में अत्यन्त सफल है। रुक्मिणी के रूप वर्णन, रथ के चलने, संध्या आदि के वर्णन; सभी में इन अलंकारों का स्वाभाविक तथा उचित समाहार हुआ है। रुक्मिणी के कुचों की श्यामता की उत्प्रेक्षा देखिये :—

अति स्यामता विराजति ऊपर, जोवण दाण दिखाळिया जाणि॥

कहकर कवि ने रुक्मिणी के मादक यौवन का कैसा रसमय संकेत कर दिया

है। इसी प्रकार कंचुकी के वर्णन में भी कवि ने जिस कौशल से रुक्मिणी का कृष्ण के प्रति उपासक भाव, उसके आकर्षक यौवन तथा उरोज की पीनता तथा कठोरता का एक साथ वर्णन कर दिया है वह सराहनीय है। उत्प्रेक्षा के सहारे भावों का ऐसा संकेत कवि के कौशल तथा भाव-गाम्भीर्य को प्रकट करता है और इस बात को प्रमाणित करता है कि काव्य का अन्तरंग कवि की कलात्मकता से बहुत निखार पा गया है। कवि में एक सफल चित्रकार की सी कुशलता है जो जहाँ तहाँ तूलिका चलाकर भावुक की कल्पना और भावुकता को उद्दीप्त कर देता है। उसके मन को रस-मग्न कर देता है। पृथ्वीराज की तूलिका से काव्य का कलेवर झलमला रहा है और केवल अलंकार के फेर में रहने वाले भी इस सुखद योजना से प्रसन्न हो सकेंगे।

कवि की उपमाएँ तो और भी बढ़ी चढ़ी और रूप-निरूपण में चित्र तथा वातावरण की सृष्टि करने वाली हैं। उनकी उपमाएँ सामान्य प्रचलित उपमाओं का संकलन मात्र नहीं हैं, रूढ़ि का आतंक उनमें नहीं पाया जाता। पृथ्वीराज अपनी उपमाओं के लिये नई सामग्री लाये हैं और इस प्रकार अपनी मौलिक स्थापना करने के कारण उनका काव्य विशेष मोहक हो गया है। उनकी उपमाएँ प्रायः पूर्ण हैं। वे लुप्तोपमा में उतना विश्वास रखते प्रतीत नहीं होते। इन उपमाओं के सहारे उन्होंने काव्य में जीवन डाल दिया है। एक एक उक्ति सरस और सजीव है। भाव की सजीवता तथा व्यंजना की मधुर योजना के लिये निम्न पद उद्धृत किया जा सकता है:—

संग सखी सीळ कुळ वेस समाणी, पेखि कळी पदमिणी परि।
राजति राजकुँअरि रायअंगण, उडीयण वीरज अम्ब हरि॥

यदि कवि रुक्मिणी की उपमा केवल चन्द्रमा से देता तो वह सौन्दर्य न आ सकता जो सखियों के वर्णन से संभव हो सका। सखियों को उड्डुगण कहते ही तारों से भरे हुए नीले आकाश के बीच मधु बरसते, कान्ति, दीप्ति और शोभा के भाण्डार, ज्योत्स्ना रूपी मुस्कान छिटकाते हुए चन्द्रमा का ध्यान आ जाता है, एक वातावरण की सृष्टि हो जाती है। चित्र के सहारे रुक्मिणी का स्वाभाविक सौन्दर्य उभार पा जाता है। साथ ही 'वीरज' आकाश के कथन तथा पद्मिनी के उल्लेख से सरोवर की कल्पना सहज ही पाठक के मन में प्रवेश

कर जाती है। चित्र प्रस्तुत करने की यह कुशलता संस्तुति के योग्य है।

मृदुल कोमल पदावली और सार्थक शब्द प्रयोग के साथ साथ उपमा तथा क्रम अलंकार की छबि से छविवान निम्न दोहला भी पृथ्वीराज की अनुपम काव्य-शक्ति का परिचायक है :—

रामा, अवतार नाम ताइ रुषमणि, मानसरोवरि मेरुगिरि।
बाळकति करि हंस चौ बाळक, कनकवेलि बिहुँ पान किरि॥

इसी प्रकार; रूपकों के प्रयोग में भी कवि ने नवीन आधारों पर दृष्टि दौड़ाई है और सांगरूपकों का सफल प्रयोग किया है। कवि को जहाँ अवसर मिला वहीं उसने अपनी सूक्ष्म-निरीक्षण-कुशलता को प्रदर्शित करने के साथ साथ काव्य को प्रभावात्मक बनाने के लिये रूपक का प्रयोग किया है। युद्ध और वर्षा का रूपक, लोहार और कृष्ण का रूपक, रति के पूर्व पति-पत्नी के हृदयाकर्षण के समय जुलाहे का रूपक, यह तो कुछ ऐसे वर्णन हैं जो पाठक को हर समय स्मरण रहेंगे, साथ ही १९वें पद में ऋतुराज तथा यौवन का रूपक, अपनी निराली छटा से पाठक को मुदित करता रहेगा। अन्य स्थलों पर भी रूपक का अत्यन्त सुखद प्रयोग हुआ ह किन्तु यह स्थल रूपक के विचार से इस काव्य के प्राण हैं। रूपक की एक अत्यन्त चित्रमयी स्वाभाविक योजना देखिये :—

वधिया तनि सरवरि वेस वधन्ती, जोवण तणौ तणौ जळ जोर।
कामणि करग सु बाण काम रा, दोर सु वरुण तणा किरि डोर॥ २३॥

उक्त दोहले में कवि ने प्राकृतिक सत्य के रूपक के सुन्दर प्रयोग के साथ ही सहोक्ति अलंकार को भी खींच लिया है। यौवन का उद्वेलन और अंगों का उभार जितना स्वाभाविक है उतना ही चन्द्रमा को देखकर जल का उत्ताल तरंगों से चढ़ना भी, जिसका संकेत कवि ने 'शर्वरी, तथा 'जलजोर' शब्दों के द्वारा कर दिया है। उसी प्रकार रुक्मिणी के कराग्र आदि का रूपक भी अनूठा है। वह यौवन-जन्य माँसलता की अनुभूति कराने के साथ साथ आकर्षण की सृष्टि भी करता है।

तात्पर्य यह कि कवि संकेत तथा अलंकारों के सहारे अनुपम रूप-चित्र खड़ा करने में अत्यन्त कुशल है। उसके रूपक उसकी उपमाएँ आदि एकदम पूर्ण और

भावोत्तेजक हैं। अधिक उदाहरण न देकर अलंकारों के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भाव के साथ अलंकार का ऐसा सजीव सम्मिलन हिन्दी काव्य में महत्व का स्थान पाने योग्य है। सर्वत्र कवि की कल्पना, मंजुल भावापन्नता और सूक्ष्म-निरीक्षण का प्रभाव लक्षित होता है। काव्य-शास्त्र में बताये गये प्रायः सभी अलंकारों का उपयोग इनके काव्य में हुआ है और कई स्थलों पर तो एक साथ कई कई अलंकार प्रयुक्त हुए हैं।

शब्द प्रयोग

काव्य-सौष्ठव के लिये वेलिकार ने शब्द-चयन और उनके प्रयोग में बड़ी कुशलता से काम लिया है। एक एक शब्द चुनकर रखा गया प्रतीत होता है। शब्द के द्वारा अर्थ और भाव का सफल द्योतन करा लेना ही सफल कवि की पहचान है। आपने यथास्थान कोमल कान्त पदावली, ओजमयी शब्दावली आदि से काम लिया है। 'वेलि' शृंगार का ग्रंथ है अतएव मार्दव तथा मधुरता उसका अपना गुण होना ही चाहिये। कोमल भावों को व्यंजित करने की सामर्थ्य जिस पदावली में होगी वही शृंगार की योजना में सफल होगी। 'वेलि' में शब्द-प्रयोग के अन्तर्गत अनेक चमत्कारों का दर्शन होता है। शब्दों पर कवि को पूर्ण अधिकार है और उसकी प्रशंसा इस बात में है कि डिंगल भाषा, जिसे केवल वीर रस के उपयुक्त समझा जाता है, को भी पृथ्वीराज ने शृंगार की मधुरता से भर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे डिंगल में भी शृंगार की योजना के लिये उतना ही मार्दव है जितना ब्रजभाषा में। निम्न पद में कोमल पद-योजना और माधुर्य का आनन्द लीजिये :—

अन्तर नीळम्बर अबळ आभरण, अंगि अंगि नग नग उदित।
जाणे सदनि सदनि संजोई, मदन दीपमाळा मुदित॥१०१॥

प्रवाह और संगीत लहरी के आनन्दानुभव के लिये द्वारिका का निम्न वर्णन पठनीय है :—

पणिहारि पटळ दळ वरण चँपक दळ, कळस सीस करि कर कमळ।
तीरथि तीरथि जंगम तीरथ, विमळ व्राहमन जळ विमळ॥

कैसा हिन्दोल का सा शब्दों का उतार चढ़ाव है। पदावली पेंग लेती सी जान पड़ती है। साथ ही मन भी लहरें लेने लगता है। संगीत की कैसी अपूर्व गति ह। संगीत का आरोहावरोह अलग अलग एक एक पंक्ति में देखना हो

तो आगे का ही पद इसका प्रमाण है जिसकी प्रथम पंक्ति में स्वर का साधन और क्रमिक आरोह है दूसरी में श्वास की मृदुता का अनुभव होने लगता है और कुछ विश्राम सा मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक एक पग उतार में संभल संभल कर रखा जा रहा है, न चढ़ाव में सरपट दौड़ है न उतार में। पद इस प्रकार है :—

जोवै जाँ गृहि गृहि जगन जागवै, जगनि जगनि कीजै तप जाप।
मारगि मारगि अम्ब मौरिया, अम्बि अम्बि कोकिल आलाप॥

तीसरी और चौथी पंक्ति में भी वही क्रम स्पष्ट है।

त्वरा के प्रदर्शन में भी कवि ने शब्दों का विचारपूर्ण सार्थक प्रयोग किया है जिससे भाव स्पष्ट व्यक्त होता है। रुक्मिणी का पत्र पाने के पश्चात् कृष्ण कितने आतुर हो तुरन्त चल पड़े इसका सुन्दर शब्दों में कवि ने वर्णन करते हुए कहा है :—

सारंग सिळीमुख साथि सारथी, प्रोहित जाणणहार पथ।
कागळ चौ ततकाळ कृपानिधि, रथ बैठा साँभळि अरथ॥

कैसे दौड़ते हुए शब्द हैं। कहीं रोक नहीं, कहीं साँस नहीं ली जा रही है। एक ही साँस में कवि ने सब कुछ एकत्र कर दिया है और कृष्ण की रथ में बैठने की उतावली दिखाते हुए अन्त में जो शब्द-प्रयोग किया है वह तो अपने आप में एक चित्र है। ध्यान दीजिये कि कवि ने कृष्ण को रथ में पहले ही बैठा दिया है, उसके पश्चात् यह कहा है कि वे पत्र का आशय समझने के बाद बैठे। यहाँ क्रम-भंग की बात नहीं कहनी चाहिये, त्वरा प्रदर्शन की अपूर्व सफलता के लिये कवि की सराहना करनी चाहिये कि वह भावोपयुक्त शब्द -प्रयोग का महत्व जानता है। इसी प्रकार ६९ तथा अन्य पद भी हैं।

ब्राह्मण द्वारिका पहुँच गया है। उसके आश्चर्य को कवि ने शब्दों के प्रयोग से ही पूर्ण स्पष्ट प्रकट कर दिया है :—

सम्प्रति ए किना किना ए सुहिणौ, आयौ कि हूँ अमरावती।
जाइ पूछियौ तिणि इमि जम्पियौ, देव सु आ दुआरामती॥

इसी प्रकार ललकार के समय अथवा रुक्मी द्वारा कृष्ण निन्दा के समय कृष्ण के लिये जो 'ग्वाला' आदि शब्द प्रयुक्त हुआ है वह भी रुक्मादि की ईर्ष्या, रोष आदि के प्रकट करने में सहायक है। उससे काव्य को स्वाभाविक सौन्दर्य मिला है। इसी प्रकार का सार्थक शब्द कवि ने—'गूँथियै जेणि सिँगार ग्रंथ'—पंक्ति में 'गूँथियै' शब्द रखा है। इसके स्थान पर यदि रचियै शब्द रख दिया जाय तो ग्रंथरचना की प्रयत्नशीलता, संगठन का प्रयत्न आदि का भाव जाता रहेगा।

गति के अनुकूल शब्द-योजना का एक उदाहरण और देखिये; पदावली कैसी मन्द गंभीर है :—

पदमिणि रखपाळ पाइदळ पाइक, हिळवळिया हलिया हसति।
गमे गमे मदगलित गुड़न्ता, गात्र गिरोवर नाग गति॥

शब्द - प्रयोग के ही सहारे चित्र उपस्थित करने में भी पृथ्वीराज किसी से पीछे नहीं हैं। दूर से आते हुए व्यक्ति क्षितिज पर दीखती सी रेखा को किस प्रकार आँखों के ऊपर हाथ रखकर देखता है इसका सुखद चित्रण इस पंक्ति में ह। —"दूरा नयर कि कोरण दीसै, धवलागिरि की ना धवळहर।"

शब्द-प्रयोग द्वारा अर्थ का मन-चाहा प्रयोग करा लेना कवि की कुशलता का प्रमाण होता है। पृथ्वीराज ने इस कौशल में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। ओज के वर्णन में भी उसी प्रकार की पदावली का प्रयोग कवि ने किया ह और स्थल स्थल पर केवल शब्दों की ध्वनि से ही अर्थ का द्योतन चमत्कार पूर्ण रीति से करा दिया है। उसका उदाहरण हम वीररस के अन्तर्गत दे आए हैं। यहाँ शब्द-शक्ति के प्रयोग के लिये भी एकाध स्थल का संकेत कर देना उचित होगा।

पृथ्वीराज अर्थध्वनि तथा लक्षणा के प्रयोग में अत्यन्त कुशल हैं। अर्थध्वनि के लिये निम्न पद में 'जागिया पयोहर' वाक्य-खण्ड पर ध्यान देना चाहिये जिसके द्वारा नायिका के आलस्य तथा उरोजों का क्रमशः उन्नत होना आदि भावों का संकेत मिलता है।

पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ प्राची, अरुण कि अरुणोद अम्बर।
पेखे किरि जागिया पयोहर, संझा वन्दण रिखेसर॥

इसी प्रकार ४६ तथा ४७ पद में लक्षणा का चमत्कार भी दर्शनीय है। ४६ पद में केवल 'गहमह' शब्द के प्रयोग द्वारा दीपकों की जगमगाहट बता दी गई तथा ४७ वें में 'जगति' शब्द का प्रयोग करके—द्वारिका को जगत कहकर—जगत् में व्याप्त भगवान की व्यापकता का संकेत भी कर दिया। इस प्रकार एक ही शब्द में पूर्ण चमत्कार समाया हुआ है। अपने अर्थ को व्यक्त करने के लिये न केवल ऐसे शब्दों का ही प्रयोग किया है बल्कि दैनिक मुहावरों को भी अपना लिया है। यथा; अपनी असमर्थता प्रकट करने के लिये कवि कहता है:—

जाणे वाद माँडियौ जीपण वागहीण वागेसरी॥

एक ही मुहावरे से कवि ने अपनी असमर्थता तथा प्रयत्न की व्यर्थता का संकेत कर दिया। साथ ही देखिये कि पंक्ति में कितने चुनकर शब्द सजाये गये हैं कि 'वाकहीन' की तुलना में सरस्वती या भारती आदि न कहकर 'वागेसरी' का प्रयोग किया गया है। श्रीयुत मोतीलाल मेनारिया ने ठीक ही कहा है कि "जिस प्रकार एक चतुर सुनार किसी नग की ठीक ठीक परीक्षा कर लेने के पश्चात् फिर उसे आभूषण में बिठाता है उसी तरह पृथ्वीराज ने भी प्रत्येक शब्द को खूब सोच विचारकर, पूरी तरह से शोधकर, वेलि में स्थान दिया ह। अतः कोई शब्द कहीं बेमौके नहीं है। प्रत्येक शब्द चित्रोपम, भावोपयुक्त एवं उपादेय है और अपने स्थान पर ठीक बैठा है।"—रा० भाषा और सा०, पृ० १२५।

अन्त में इस सम्बन्ध में यह और कहना है कि पृथ्वीराज ने अपने भावों को प्रकट करने के लिये अन्यान्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं किया है, जिनके कारण अरबी के सिलह, हवाई, रासि जैसे शब्द, फारसी के ज़ोर, बाजूबंध, गरकाब, रुख, जुंजुआ—जुदा जुदा, दूवै-दुआ—जसे शब्द, उरप, टाल्लौ आदि देशी शब्द, सूं, केम, कागळ, थई, अनै जैसे गुजराती प्रयोग, नयर, वयण, भौ-भय, सायर, अवर आदि प्राकृत शब्द उनके काव्य में अपने ही बनकर समा गये हैं। कहीं भी ऐसा अनुभव नहीं होता कि यह अपने नहीं हैं। संस्कृत तथा हिन्दी के भी बहुत से शब्दों का सहज प्रयोग लेखक ने किया है। संस्कृत के शब्द तो बहुत अधिक परिमाण में हैं। किन्तु

कवि की यह विशेषता है कि उसने अपने प्रयोग या छन्द-मात्रा के लिये कहीं भी किसी शब्द को तोड़ा मरोड़ा नहीं है। यथासंभव उनके प्रचलित रूप ही ग्रहण किये हैं और ग्रिमल, ध्रम, व्रिधपण, ग्रजाद जैसे शब्द संख्या में बहुत कम ही हैं। सारांश यह कि कवि को अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार था जिसके सहारे भाव के व्यक्त करने में उसे अद्भुत सफलता मिली है।

वयणसगाई अलंकार

यह शब्दालंकार है। यह शब्दानुप्रास डिंगल काव्य में आवश्यक सा माना गया है और वयणसगाई का ठीक ठीक उपयोग करने वाला कवि प्रशंसा का पात्र रहा है। 'वेलि' में इसका प्रत्येक चरण में निर्वाह करने का प्रयत्न किया गया है। इसका लक्षण इस प्रकार है :—

आवै इण भाषा अमल वैण सगाई वेष।
दग्ध अगण वद दुगुण रो लागत नहिं लवलेश ॥

इसमें अक्षरों को रखने का क्रम बताते हुए कहा गया है :—

वरण मित्त जू धरण विध, कवियण तीन कहंत।
आद अधिक, सममध अवर, न्यून अंक सो अंत ॥

यह अलंकार कभी कभी चरण के प्रथमाक्षर में तथा अन्तिम शब्द के प्रथमाक्षर में ही संघटित न होकर चरण के प्रथमाक्षर तथा चरण के मध्यवर्ती किसी शब्द के प्रथमाक्षर में भी संघटित हो जाता है। कभी कभी एक ही चरण के दो पृथक् भागों में भी इसका अलग अलग निर्वाह किया जाता है, जिसे अन्तरंग वयणसगाई कहा गया है। यथा, 'कोकिल कण्ठ, सुहाइ सर।' अथवा छं० ६ १५, ४९, ६२, ८१, ९०, ९३ के प्रथम चरण तथा २० एवं १८६ के दूसरे चरण में पाया जाता है। कहीं कहीं कवि ने परिपाटी के बन्धन से मुक्त होकर अपना स्वतन्त्र कौशल दिखाते हुए वयण सगाई का प्रयोग किसी चरण के प्रथमाक्षर के उसी चरण के अन्तिम शब्द के आदि, मध्य अथवा अन्तर्वर्ती किसी अक्षर से संघटन के रूप में किया है। यथा—'ग्रिह ग्रिह प्रति भींति सुगारि हींगलू।' में हींगलू के ग से वयण सगाई पूरी हुई। इसी प्रकार अन्य दोहलों में भी यह प्रयोग मिल जायगा। वयण सगाई का यह नियम भी बताया जाता है कि यदि कारक चिह्न अन्त में ही हो तो उसे संज्ञा का अभिन्न भाग मानकर संज्ञा के प्रथमाक्षर

को ही वयणसगाई के लिये उचित माना जाता है। इस प्रकार का प्रयोग 'मन मृग कै कारणै मदन ची,' पंक्ति में तथा अन्यत्र भी पाया जा सकता है। यहाँ ची को कारकचिह्न मानकर उसका अन्तर्भाव संज्ञा में कर लिया गया और मन के ग का सम्बन्ध मदन के म से मान लिया गया। इसी प्रकार क्रिया-विशेषण अव्यय, सर्वनाम अव्यय, अथवा सम्मुच्चय बोधक अव्यय के चरण के प्रथमाक्षर के रूप में आने पर—यथा, 'किरि वैकुण्ठ अयोध्यावासी'—उन्हें भी छोड़कर संज्ञा से ही प्रारम्भ किया जाता है। ऊपर व का संघटन इसी प्रकार का है। कभी ऐसा भी प्रयोग ठीक मान लिया जाता है कि प्रथमाक्षर की वयण सगाई अन्तिम शब्द के अन्तिम अक्षर से संघटित हो। यथा—'कस छूटी छुद्र-घंटिका' में क का प्रयोग किया गया है। जहाँ कहीं इसका प्रयोग कवि बिल्कुल कर ही नहीं सका है वहाँ शब्दानुप्रास लाकर उसकी न्यूनता का पता भी नहीं लगने दिया है। तात्पर्य यह कि पृथ्वीराज ने यथासंभव वयणसगाई का निर्वाह किया है और जहाँ संभव हुआ है वहाँ नवीनता प्रदर्शन की भी चेष्टा की है। किन्तु वयण सगाई के पालन न करने पर भी उसकी रमणीयता में कोई अन्तर नहीं आता।

वेलियो गीत

यह छन्द डिंगल के मात्रिक छन्दों की छोटी सैणोर नामक जाति के चार उपभेदों में से एक है। रघुनाथदीपक ग्रंथ के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है :—

चार भेद तिण रा चवै, कवियण बड़ औकूब।
समझ वेलियो, सौहणो, षूंद, जाँगड़ो, षूब॥

अथवा— सौळै कळा विषम पद साजै, समपद पनरै कला समाजै।
धुर अठार मोहरा गुरु लघु धर, कहजै 'मंछ' वेलियो इम कर॥

अर्थात् इसके विषम चरणों में १६ तथा सम चरणों में १५ मात्राएँ होनी चाहिये। कहीं प्रथम चरण, जिसे धुर कहते हैं, में १८ मात्राएँ तथा अन्त में गुरु लघु होता है। इसके प्रयोग में कवि ने पूरी स्वतन्त्रता बरती है। विषम चरण का नियम पालन करते हुए भी सम चरणों की १३–१४ तथा १५ मात्राओं की भी रखा है। किन्तु दूसरी और चौथी पंक्तियों की सममात्रिकता कभी नष्ट नहीं होने दी है भले ही १५ मात्राओं तथा अन्त में गुरु लघु

के स्थान पर लघु लघु के साथ १३ मात्रा तथा लघु गुरु के साथ १४ मात्राओं का प्रयोग करके स्वतंत्रता प्रदर्शित की है।

वेलि में प्रकृति चित्रण

'वेलि' भाव-रमणीयता की दृष्टि से ही नहीं प्रकृति की रमणीयता से भी मनोहर और मुग्धकर है। 'वेलि' का प्रकृति-वर्णन हिन्दी साहित्य में अनुपम ही है। प्रकृति की सुरम्य छटा का जो वैभव 'वेलि' में है, वह कवि की मौलिकता, सूक्ष्मनिरीक्षण कुशलता तथा प्रकृति-प्रेम का परिचायक है, इस बात का प्रमाण है कि कवि पृथ्वीराज अकबर की मजलिस से अथवा चम्पादे के सौन्दर्य से ही अपना मन और आँख बाँध कर नहीं रहे, उन्होंने प्रकृति का निरावृत सौन्दर्य, उसका मोहक आकर्षण और आह्वान का स्वर सुना था और उसका पूरा पूरा रस लिया था।

'वेलि' में सूक्ष्म कथानक में भी कवि ने बड़ी कुशलता पूर्वक ऐसे स्थल खोज लिये हैं जहाँ वह प्रकृति का रूप-चित्रण कर सके। रुक्मिणी के अंग-प्रत्यंग मानो प्रकृति की वस्तुओं से होड़ ले रहे हैं। उसके शरीर पर पहना हुआ आभूषण भी खिले नक्षत्र से कम प्रभावोत्पादक नहीं है। रुक्मिणी स्वयं कनक-लता है। वह समानवयस्का, समान कुलशीला सखियों में खेलती हुई साक्षात् पद्मिनी के समान सुशोभित है और सखियाँ ऐसी हैं जैसे कमलिनी की पंखुड़ियाँ हों अथवा निर्मल आकाश में नक्षत्रों के बीच निर्मल पूर्ण चन्द्रमा हो। कितना निर्मल रूप है, कितना कोमल अंग है। अलंकार की सहायता से प्रकृति की छटा रुक्मिणी की शोभा का निर्मल रूप-चित्र खड़ा कर रही है :—

संग सखी सीळ कुळ वेस समाणी, पेखि कळी पदमिणी परि।
राजति राजकुँअरि रायअंगण, उडीयण वीरज अम्ब हरि॥१४॥

नक्षत्रों ने ही मानों रुक्मिणी के आभूषणों का रूप रख लिया है :—

गजरा नवग्रही प्रोंचिया प्रेंचे, वळे वळै विधि विधि वळित।
हसत नखत्र वेधियौ हिमकरि, अरध कमळ अलि आवरित॥९३॥

शिशिर और वसन्तादि ऋतुओं का उद्गम रुक्मिणी के ही शरीर में होता है, क्योंकि :—

सैसव सु जु सिसिर वितीत थयौ सहु। गुण गति मति अति एह गिणि।
आप तणौ परिग्रह लै आयौ तरुणापौ रितुराउ तिणि ॥१९॥

वेलिकार को अलंकार के कारण न केवल रुक्मिणी के शरीर में ही प्रकृति की छटा छिटकती दिखाई देती है बल्कि युद्ध का दृश्य भी उसे वर्षा से कम रंजक नहीं लगता। रूपक के फेर में कवि ने युद्ध रूपी वर्षा का विस्तृत वर्णन करके अपनी अलंकार प्रियता को तो स्पष्ट किया है सही, किन्तु वह वर्षा के नाद-सौन्दर्य को भी भूल नहीं सका है।

कळकळिया कुन्त किरण कळि ऊकळि, वरजित विसिख विवरजित वाउ।
धड़ि धड़ि धबकि धार धारूजळ, सिहरि सिहरि समखै सिळाउ ॥११९॥

यहाँ वर्षा और युद्ध की भयंकरता तथा तज्जनित त्रास एवं नाद-सौन्दर्य का एक साथ जैसा सुन्दर समन्वय हुआ है वह संस्कृत कवि भवभूति के ही वश की बात थी, अन्य के नहीं।

किन्तु इन उदाहरणों से यह भ्रम न होना चाहिए कि पृथ्वीराज ने केवल अलंकार के सहारे ही प्रकृति का चित्रण किया है, उनकी दृष्टि प्रकृति के खुले वक्ष पर नहीं पड़ी है अथवा उनका दृष्टि–प्रसार नील वितान के नीचे विस्तृत हरी भरी भूमि और संध्या, प्रातः के अनुराग में नहाये हुए जगत् पर नहीं हुआ है। इसके विपरीत पृथ्वीराज के प्रकृति-वर्णन का सारा सौन्दर्य तो वहीं है, कवि की मौलिकता, नवीन कल्पना का चमत्कार, रम्य रूप विधान, और सूक्ष्म-निरीक्षण के साथ साथ प्रकृति के प्रति आकर्षण का भाव तो आगे जाकर ही प्रस्फुट हुआ है। पृथ्वीराज के वर्णन सहज सौन्दर्य में नहाये धुले और खिले हुए हैं। उसने न केवल संध्या तथा प्रातः के वर्णन का ही अवसर खोज लिया है। बल्कि कथा में आवश्यक स्थल पर षड् ऋतुओं का समावेश भी कर लिया है संध्या वर्णन के दो स्थल हैं और दोनों का अपना अपना चमत्कार है। पहला स्थल है, विप्र के कुण्डिनपुर से निकलते ही संध्या हो जाना, जो एकदम स्वाभाविक है। दो पंक्तियों में कवि ने संध्या में गृह-द्वार की जगमगाहट, यात्रियों की थकान और उनका रुक जाना, उनका कोलाहल और रवि की

किरण का धीरे से सरक जाना, सब कुछ, एकदम अद्‌भुत सफलता के साथ अंकित कर दिया है।—'गई रवि किरण ग्रहे थई गहमह, रहरह कोइ वह रहे रह।' सचमुच ईर्ष्या करने योग्य चित्र है। एक संकेत में बँधा हुआ संध्या का सारा सौन्दर्य और तत्कालीन वातावरण खुल उठा है। कवि का लाघव सराहनीय है।

रति के पूर्व प्रथम मिलन की उत्सुकता में संध्या का आगमन प्रेमियों के लिये क्या प्रभाव लेकर आता है इसका भी मोहक चित्र कवि ने उपस्थित किया है :—

संकुड़ित समसमा संध्या समयै, रति वंछिति रुषमणि रमणि।
पथिक वधू द्रिठि पंख पंखियाँ, कमळ पत्र सूरज किरणि ॥१६२॥
पति अति आतुर त्रिया मुख पेखण, निसा तणौं मुख दीठ निठ।
चन्द्र किरणि कुलटा सु निसाचर, द्रवडित अभिसारिका द्रिठ ॥१६३॥

इस वर्णन की विशेषता का विशद रूप में जैसा विद्वान् सम्पादक पारीकजी ने वर्णन किया है वह यहाँ उद्धृत किया जाता है। उनका विचार है कि:—"यह न केवल संध्या के संकोच और विस्तार रूपी द्वैध भाव से पूर्ण शंकित हृदय के प्राकृतिक दृश्य का ही चित्र है वरन्, तज्जन्य, नायक-नायिका के प्रेम-पूर्ण हृदयों में, रति-भावोदय का पृथक-पृथक् रागों से रंजित भाव-चित्र भी है। यह स्वाभाविक मानवधर्म है कि प्रेम का प्रथम उद्रेक शीलधर्मा स्त्री के हृदय में संकोच को लिये हुए उद्‌भासित होता है और पुरुष के हृदय में उत्सुकता और सामीप्य-वांछा को लिये उत्पन्न होता है। एक में हृदय के भावों का संकोच और दूसरे में उनका विस्तार होता है। एक का धर्म निषेधात्मक है दूसरे का विधेयात्मक। जड़ प्रकृति में दोनों के सम्मिश्रण से वह अनिर्वचनीय प्राकृतिक अवसर उत्पन्न होता है जिसे संध्या कहते हैं। मानव-प्रकृति में दोनों के संमिश्रण से वह अवर्णनीय भाव उत्पन्न होता है जिसे रति कहते हैं। कवि ने अपने प्रतिभा-बल की तीव्र सूझ से दोनों प्रकृतियों को पारस्परिक सहानुभूति और एकत्व के सूत्र में संगठित कर अद्‌भुत काव्य-गुण और सौष्ठव उत्पादित किया है। पदार्थ-विज्ञान का भी यह सिद्धान्त है कि प्रकृति में संघर्ष और संकोच इन दो सिद्धान्तों के संघट से ही भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति है। इस वर्णन के अपूर्व सौन्दर्य और गंभीर सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक तत्वों पर विचार

करते हुए हमें ऋग्वेद के १० मण्डलान्तर्गत उस पुरातन स्वर्गीय वर्णन का स्मरण होता है जब उषस् और रात्रि का पारस्परिक सम्बन्ध कल्पित करते हुए हमारे पूर्वज ऋषियों ने उच्चतम काव्यमयी भाषा में उन्हें एक पिता की दो पुत्रियाँ बताया है जो उभय संध्याकालों में उत्कंठा और संकोच के भावों को हृदय में भरकर मिलन करती हैं और पुनः बिछुड़ जाती हैं।"—पृ० ९३।

प्रभातकाल का स्वाभाविक, अलंकृत, संश्लिष्ट चित्र देखना हो तो रत्यन्त में वर्णित १८२ से १८६ दोहले तक पढ़ जाइये। १८२ पद में चन्द्रमा की मलीनता की कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है कि चन्द्रज्योत्सना तथा पतिव्रता नारी दोनों की समानता अपनी सम्पूर्ण शुचिता में खिल उठी है। पतिव्रता का सारा सुख उसका पति ही है। उसके सुख से ही वह सती सुखी रहती है और उसकी तनिक मलिनता भी उसे मलिन कर देती है। उसके इस पतिव्रत-धर्मपालन को यदि कोई और पालन कर सकता है तो वह प्रकृति में केवल चन्द्रज्योत्सना है जो बिना चन्द्र के दिखाई भी नहीं देती। जो चन्द्र से कभी भिन्न ही नहीं होती। पतिव्रता की तपोज्वलता में जितनी शुचिता और आत्म-कान्ति है वैसी ही शुचि है यह ज्योत्स्ना भी और वैसी ही प्रकाशित भी है :—

गत प्रभा थियौ ससि रयणि गलन्ति, वर मन्दा सइ वदन वरि।

साथ ही दीपक परजळतौ इ न दीपै, नासफरिम सू रतनि नरि॥१८२॥

दीपक के न जलने की भी बड़ी ही सुन्दर कल्पना की गई है।

प्रभात का हृदयावर्जक दृश्य उपस्थित करते हुए कवि ने १८३ दोहले बड़ी चतुराई, लाघव और संकेत से काम लिया है। उसके द्वारा संयोग के अन्त और उसके पश्चात् की स्थिति का बड़ा ही रमणीय दृश्य उपस्थित किया गया है :—

मेली तदि साध सुरमण कोक मनि, रमण कोक मनि साध्र रही।

फूले छंडी वास प्रफूले, ग्रहणे सीतळता इ ग्रही॥१८३॥

इसी प्रकार लेखक ने प्रभातागमन पर संयोगियों का वियोग तथा वियोगियों का संयोग दिखाते हुए १८५ तथा १८६ दोहलों में घर से लेकर प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र तक और गोशाला से लेकर वाणिज्य स्थानों तक अपनी दृष्टि दौड़ाई है

और सबका एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया है। प्रभात का यह वर्णन अपनी नैसर्गिक शोभा में अनूठा है।

कवि ने बड़े उपयुक्त अवसर पर षट्ऋतु वर्णन का अवकाश भी निकाल लिया है। उसकी कथा केवल विवाह और विलास में ही समाप्त नहीं होती बल्कि अभी प्रद्युम्न-जन्म भी होना है। उसके लिये कवि को कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतएव उस बीच में कवि ने ऋतुओं का वर्णन करके एक ओर तो प्रकृति-वर्णन का अवसर निकाल लिया, दूसरी ओर कथा के सौन्दर्य को बनाये रखा और काल के व्यवधान को जानने ही नहीं दिया। साथ ही उसे पारिवारिक जीवन का संकेत करने का भी अवसर मिल गया। और काव्यनियमों का पालन भी हो गया।

वेलिकार का ऋतु-वर्णन वसन्त से आरंभ न होकर कालिदास के ऋतु-संहार के समान ग्रीष्म से आरंभ होकर वसन्त में समाप्त होता है। उसके प्रकृति-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता है प्रत्येक मास के अनुसार परिवर्तन का ज्ञान तथा नक्षत्रों एवं राशियों के ऋतुओं पर प्रभाव का विचार। कवि ने जहाँ प्रकृति का सीधा और सजीव चित्रण किया है, वहाँ उसे अपने ज्ञान से नवीन और मौलिक भी बना दिया है। प्रत्येक ऋतु के होने वाले सूक्ष्म परिवर्तन, राशि-प्रभाव तथा कोण आदि का पूरा पूरा विचार जैसा इस कवि ने रखा है वैसा हिन्दी के क्या अन्य कवियों में भी बहुत ही कम पाया जा सकेगा। दूसरी विशेषता पृथ्वीराज के प्रकृति-वर्णन की है, उनका सूक्ष्म-निरीक्षण। वर्षा का वर्णन करते हुए जिस प्रकार उन्होंने समय समय पर बदलते काले–धौले बादलों का वर्णन किया है वह उनके सूक्ष्म-निरीक्षण का प्रमाण है। कवि ने सूक्ष्म-निरीक्षण का उपयोग करते हुए वातावरण की जो सृष्टि की है वह भी इनके कौशल और प्रतिभा की द्योतक है। इनके ऋतु-वर्णनों में राजस्थान की ऋतुओं तथा दृश्यों का समावेश उसे और भी प्रभावपूर्ण बनाने में सफल हुआ है। इस ऋतु-वर्णन की काव्य में दो विशेष कारणों से और भी महत्ता सिद्ध होती है। एक तो यह वर्णन आलम्बन रूप में होने के कारण हिन्दी में अपने ढंग का ह, क्योंकि सेनापति के अतिरिक्त हिन्दी में आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन कहीं कहीं नाम मात्र को ही हुआ है, दूसरे, इस चित्र

से नायक-नायिका के संयोग-सुख का अनुमान करने में सहायता मिलती है, जिससे कथा का स्वरूप स्पष्ट होता है। कथा को विस्तार मिलता है और साथ ही काव्य को रमणीयता। अस्तु,

ग्रीष्म का वर्णन करते हुए कवि ने ७ दोहलों में उसके भिन्न भिन्न रूप उपस्थित किये हैं। ग्रीष्म के आगमन से प्रकृति मे एक परिवर्तन आ गया है, सूर्य ही सब से अधिक गर्वित होकर चलने लगा है कि उसने दूसरों के सिर पर से होकर मार्ग बना लिया, किन्तु वृक्षों की शरणागतवत्सलता तथा परोपकारिता देखिये कि उन्होंने सूर्य का ताप अपने सिर पर सहन करके दूसरों को छाया दी। सरोवरों का जल घट जाने से पृथ्वी भी कठोर हो गई।

नदि दीह वधे सर नीर घटे निसि, गाढ़ धरा द्रव हेमगिरि।
सुतरु छाँह तदि दीघ जगत सिरि, सूर राह किय जगत सिरि॥१८७॥

न इसमें केशव जैसी दुरारूढ़ कल्पना ह, न अलंकरण की चेष्टा और न उपदेश की इच्छा। यह चित्र है जो संस्कृत कवियों के आलम्बन के वर्ग में बैठ सकेगा।

ग्रीष्म में छाया बड़ी आकर्षक तथा प्रिय लगती है। मध्याह्न के ताप से थका हुआ त्रस्त प्राण छाया ढूंढ़ता है। बिहारी ने इस छाया की महत्ता जानकर ही, ग्रीष्म की भीषणता का वर्णन करने के लिये छाया को भी छाया ढूंढ़ते बताया है। उनका चित्र बड़ा रम्य है, कल्पना एकदम अनूठी है:—

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाँहौ चाहति छाँह॥

किन्तु, बिहारी के पूर्ववर्ती कवि पृथ्वीराज की कल्पना देखिये, उन्होंने ज्योतिष का सहारा लेकर क्या ही अनुपम बन्धान बाँधा है:—

आकुळ थ्या लोक केहवो अचिरज, वंछित छाया ए विहित।
सरण हेम दिसि लीधौ सूरिज, सूरिज ही व्रिख आसरित॥

बिहारी की छाया तो चल नहीं है, अतएव हमें उनकी कल्पना की दाद देनी पड़ेगी। किन्तु, हमें सूर्य नित्य ही चलता हुआ-सा दिखाई देता है। भले ही विज्ञान के अनुसार सूर्य न चलता हो, किन्तु हमारी ज्योतिष सूर्य के दक्षिणायण और उत्तरायण होने की बात कहती है। अतः इसी लोकसामान्य तथा शास्त्र-सिद्ध बात को लेकर पृथ्वीराज ने जिस प्रकार की कल्पना की है

वह कल्पना भी है और सत्य के अधिक निकट भी। इस सम्बन्ध में ग्रीष्म का ताप और छाया की सुखदता का सेनापति ने भी सुन्दर वर्णन किया ह :—

मेरे जान पौनो सीरी ठौर को पकरि कोनो,
घरी एक बैठि कहीं घामे बितवतु है।

ग्रीष्म का मध्याह्न माघ मास की मेघ-घटाओं से आच्छादित कृष्णवर्ण अर्द्धरात्रि की अपेक्षा अधिक निर्जन और भयंकर होता है, इसका अनुभव भी कवि से नहीं बचा रहा है, जिसका वर्णन उसने १९० दोहले में किया है। इस ग्रीष्मकाल में यदि कहीं ठंडक रह गई है तो वह केवल कामिनी के कुचों में, अतएव संयोगी उसी का सेवन करते हैं :—"धणी भजै धण पयोधर।" कृष्ण के पास ग्रीष्म से बचने की सामग्री की क्या कमी, अतएव वे रईसी ठाट से उसीका आनन्द ले रहे हैं। किन्तु अन्य जनों को ग्रीष्म सचमुच कैसा प्रतीत होता है, उसका राजस्थान में कैसा भयंकर रूप उपस्थित हो जाता है, किस प्रकार धूल के बगूले उठकर वातावरण को अन्धकारमय बना देते हैं इसका बड़ा ही सच्चा, अनुभवयुक्त और प्रभावपूर्ण चित्र कवि ने उपस्थित किया है :—

ऊपड़ी धुड़ी रवि लागी अम्बरि, खेतिए ऊजम भरिया खाद्र।
मृगशिर वाजि किया किंकर मृग, आद्रा वरसि कीध धर आर्द्र ॥१९३॥

हिन्दी में ग्रीष्म का वर्णन एक से एक अच्छा हुआ है सही किन्तु उनमें ताप तथा धमक का नामोल्लेख है। पृथ्वीराज के वर्णन में ग्रीष्म की भयंकरता तो है ही स्थानीय विशेषता का चित्रण भी है और वातावरण की सृष्टि हुई है। मृगवात तथा मृगतृष्णा की बात से ग्रीष्म की भयंकरता संकेतित है, कथित नहीं। उसके साथ ही वर्षा का सुखद आगमन और किसान की कर्मशीलता भी वर्णित है।

वर्षा-वर्णन के ११ दोहलों में कवि ने शृंगार भावना को प्रधानता दी है। कहीं उसने वर्षा को नग्न नारी के रूप में देखा है, यथा दोहला १९७, कहीं (दो० २०० से २०२ तक) उसे पृथ्वी तथा मेघ के सम्मिलन में रति-भाव की छाया ही दिखाई दी है। किन्तु वर्षा के स्वाभाविक चित्रों की भी कमी नहीं है और न कवि का सूक्ष्म-निरीक्षण ही यहाँ छिपा रहा है।

स्वाभाविक वर्णन के लिये दोहले १९४ तथा २०३ आदि देखे जा सकते हैं। सूक्ष्मनिरीक्षण के लिये १९५वें दोहले का उल्लेख आवश्यक है। वर्षा में किस प्रकार काले काले वर्तुलाकार मेघों के प्रान्तभाग में श्वेत बादल लगे चलते हैं, किस प्रकार श्रावण में धरणी जल से आप्लावित हो जाती है, किस प्रकार बादल उमड़कर फिर पिघलते और मिटते चले जाते हैं, इस सबको देखते तो बहुत लोग होंगे किन्तु उनका वर्णन कर सकने की क्षमता आज तक कितनों ने प्रदर्शित की है, यह किसी से छिपा नहीं है। किन्तु पृथ्वीराज ने कैसा अद्भुत चित्र अंकित किया है, मानों तूलिका लेकर किसी चित्रकार ने मेघों को जहाँ तहाँ काला बनाकर उनके प्रान्त भाग में श्वेत बादल अंकित ही कर दिये हों :—

काळी करि काँठळि ऊजळ कोरण, धारे श्रावण धरहरिया।
गळि चालिया दिसो दिसि जळग्रम, थंभि न विरहिण नयण थिया ॥१९५॥

पृथ्वीराज कल्पना का सहारा लेकर भी अपनी आँखों को खुली रखकर प्रकृति के रूप-रंग और उसकी छवि को निहारते, उसका आनन्द लेते चले हैं। कालिदास के मेघदूत का-सा सौन्दर्य उनकी कविता में देखना हो तो २०४ तथा २०५ दोहले पढ़ जाइये।

पृथ्वीराज के शरद-ज्योत्स्ना के चित्र, अथवा सौन्दर्य की कल्पनाएँ अत्यन्त मनोरम हैं। इस वर्णन में भी कवि की दृष्टि विशषतः नारी-रूप और सौन्दर्य की ओर ही आकर्षित रही है। कहीं कहीं पर उपमा के सहारे तथा कहीं शारीरिक साम्य के बड़े सुन्दर रूप अंकित किये गये हैं। दोहले २०६ तथा २०७ में शरद् के सौन्दर्य का वर्णन यद्यपि बहुत ही सुन्दर है किन्तु कवि ने उस स्वाभाविक सौन्दर्य को रत्यन्त में नायिका के सौन्दर्य के साथ तौलकर दृष्टि सीमित कर दी है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन स्थलों पर भी वर्णन अत्यन्त रंजक तथा मार्मिक है। २०८. तथा २०९ में शरद्का स्वाभाविक वर्णन ह। २१० तथा २११ दोहलों का रूप शरद् जुन्हाई में घुला हुआ और अत्यन्त आकर्षक है। ज्योत्स्ना में हंस की शुभ्रता ऐसी मिल गई है कि हंसिनी पास ही होते हुए भी नहीं जान पाती। चाँदनी ऐसी छिटकी है

कि उसकी धवलिमा में स्वयं चाँद खो गया-सा प्रतीत होता है :—सोळह कळा समाइ गयौ ससि, ऊजासहि आप आपणै ॥२११॥ दिन की लघुता तथा रात्रि की दीर्घता की कल्पना भी बड़े ही चमत्कारपूर्ण रूप में प्रस्तुत की गई है। देखिये दोहला २१२। पाश्चिमात्य पवन ने हेमन्त के लगते ही उत्तरदिशा में अपना निवास स्थान बना लिया और पति के लिये पत्नियों का हृदयस्थल स्वर्ग हो उठा। सर्प और धनाढ्य दोनों ही अपने अपने विवर में चले गये। कवि के इस कथन में उसके चातुर्य और उक्ति-वैचित्र्य का रूप ऐसा ही खिला है जैसा सेनापति के वर्णनों में। सर्प और धनाढ्य को एक ही गति में पहुँचा-कर कवि ने उनकी विषमयता के साम्य का भी संकेत कर दिया है। संभवतः उनके समकालीन धनाढ्य भी सर्प से कम क्रूर न होंगे, जिसके कारण कवि को यह साम्य और भी सूझ गया। पृथ्वीराज की उपमाएँ बड़ी ही मार्मिक और सूझ-बूझ से भरी हुई हैं। उन्होंने ऋतुओं के कारण दिन के घटने बढ़ने का वर्णन इन्हीं उपमाओं का सहारा लेकर अनुपम ढंग से किया है। जिस प्रकार सर्प तथा धनाढ्य की एक ही गति का चित्र उन्होंने पहिले प्रस्तुत किया है उसी प्रकार ऋणदाता और ऋणी की स्थिति का भी रोचक वर्णन करते हुए वे कहते हैं :—

दिन जेही रिणी रिणाई दरसणि,
क्रमि क्रमि लागा संकुडिणि ॥
नीठि छुडै आकास पोस निसि,
प्रौढ़ा करषणि पंगुरिणि ॥२२०॥

इसी प्रकार की रम्य कल्पना, दैनिक अनुभव के आधार पर साम्य और राशि, दिशा, कोण आदि का ज्ञान पृथ्वीराज की पंक्ति पंक्ति से बिखरा पड़ता है। उनकी कविता में प्रकृति अपने पूरे सुहास के साथ खिली है, अपने पूर्ण सम्मो-हन के द्वारा पाठक को आकर्षित करने में सफल है। सबसे अधिक रम्य है उनका वसन्त, कहीं वह महफिल सजाकर आनन्द-मग्न हो रहा है। कहीं उसकी सेवा में वन्दी, सूत, मागध आदि उपस्थित होकर उसका यश गान कर रहे हैं और कहीं उसका प्रभातकालीन अनुराग की भाँति सौन्दर्य छलका पड़ता है। कभी उनका वसन्त एक शिशु के रूप में दिखाई देता है, कभी

वही अपने पूर्ण यौवन-मद में खिलखिला कर हँसता दिखाई देता है और सारी प्रकृति उसकी मोहन मुस्कान से मस्त और मतवाली हो उठी है। कहीं वही दिग्विजय के लिये निकले हुए राजा के समान दिखाई देता है जिसने दिग्-दिगन्त को जीतकर अपना साम्राज्य फैला लिया है और सारी प्रकृति वसन्त जसे सुराजा को पाकर मग्न हो गई है, प्रफुल्लित होकर उत्सव मना रही है। कभी कभी कवि का ध्यान इस वसन्त की धीर समीर की ओर चला जाता है और वह मन्द मन्द आते हुए गज के समान उसे मोहित करने लगता है। कभी पवन पुरुष के समान कुंज लता पुंजों का पार करता कली के पास जाकर उसे चूम लेता है। कभी अपने नखों से फूल तोड़ती हुई मालिनियों को पुष्प की ललाई के कारण अपने नखों का ही आभास नहीं रहता। सारांश यह कि कवि की कल्पना, चित्रकार की सी सजगता, संगीतज्ञ का ज्ञान, महफिली साजबाज और रंग-ढंग, आदि को चित्रित करने का कौशल यदि कहीं अपने समग्र रूप में प्रस्फुट हुआ है तो वह वसन्त की वासन्तिकता में। इस प्रकार के चित्र, ऐसी मिठास भरी कल्पनाएँ, ऐसे साम्य और ऐसा उक्ति-सारल्य किसी अन्य हिन्दी कवि में खोजने से ही मिलेगा। पृथ्वीराज अपनी इस कला में सर्वोत्तम कवियों की श्रेणी में बैठने के अधिकारी हैं। यहाँ वसन्त के रम्य रूप तथा कवि कल्पना के दो एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा। इसी वसन्त-के मुख्य पर्व होली की ओर से भी कवि की आँख हटी नहीं है। वनस्पति रूपी जच्चा, वसन्त का जन्म, पवन रूपी बधाईदार के लिये आरंभ के २२९ से २३२ तक के दोहले देखे जा सकते हैं। वसन्त में वन उपवन की शोभा के स्वाभाविक तथा हृदयाकर्षक चित्र के लिये २३४ दोहले का मनन किया जा सकता है, जो अपने सौन्दर्य में कालिदास के तपोवन के वर्णन से किसी दशा में कम नहीं है। वसन्त में पत्रों पर पड़े हुए जलकणों की उपमा देखें :—

आयौ इळि वसँत वधावण आई, पोइणि पत्र जळ एणि परि।
आणंद वणे काचमै अंगणि, भामिणि मोतिए थाल भरि ॥२३५॥

कवि की कल्पना देखिये कि स्वर्ग तक फैले हुए ऊँचे ताड़ के चंचल पत्र क्या हैं मानो वसन्त की दिग्विजय के घोषणा-पत्र ही हैं। २४२ दोहे में मालिनियों की दशा पठनीय है :—

तसु रंग वास तसु वास रंग तण, कर पल्लव कोमल कुसुम।
वणि वणि माळिणि केसरि वीणति, भूली नख प्रतिबिम्ब भ्रम ॥२५७॥

वसन्त रूपी सुराजा के सुराज्य का रूप देखना हो तो २४९ से २५३ तक पढ़ जाइये, और सराहिये। यहाँ पवन रूपी हाथी का चित्र देखिये और फिर बिहारी के वर्णन से तुलना करके देख लीजिये कि कौन कहाँ तक सफल है। ध्यान रखिये बिहारी पृथ्वीराज के परवर्ती कवि हैं। पृथ्वीराज की उक्ति है —

तोय झरणि छंटि ऊघसत मळय तरि, अति पराग रज धूसर अंग।
मधु मद श्रवति मंद गति मल्हपति, मदोनमत्त मारुत मातंग ॥२६३॥

और बिहारी कहते हैं :—

रनित भृंग घंटावली, झरित दान मधुनीर।
मन्द मन्द आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥

बिहारी के कुंजर-कुंज-समीर के वर्णन में शोरगुल अधिक है, मदोन्मत्तता और निश्चिन्तता कम। पृथ्वीराज का मदमत्त समीर अपने शरीर से धूल लपटाये, झरनों के छींटे उड़ाता, चन्दन-वृक्षों से शरीर का घर्षण करता मद झरता हुआ निश्चिन्त भाव से चला आ रहा है। बिहारी ने कुंज के साथ अनुप्रास की रमणीयता को प्रधानता देते हुए कुंजर का वर्णन किया है। किन्तु 'कुंजर' से उसकी वह मस्ती कहाँ प्रकट होती है जो बिहारी दिखाना और देखना चाहते हैं। किन्तु पृथ्वीराज का शब्द-शोध देखिये कि मदमत्त समीर की मस्ती के लिये उन्होंने उस 'मातंग' शब्द का प्रयोग किया, जिससे स्वतः भाव फूट पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बिहारी का चित्र अधूरा है और मातंग की मदमत्तता का दर्शन कराने में असमर्थ है; जब कि पृथ्वीराज की पंक्तियाँ चित्रकार की सफलता का नमूना है।

रसलीन को ही देख लीजिये जिन्होंने पवन को राजहंस का रूप दिया है। कहते हैं :—

सरवर माँहि अन्हाइ, अरु बाग बाग बिरमाइ।
मन्द मन्द आवत पवन, राजहंस के भाइ॥

उनसे पूछिये उन्हें इससे कितनी तृप्ति मिली, कितना रूप वह अंकित कर पाये।

पवन बहुत थक गया है, अतएव वह मन्द मन्द चल रहा है। इसका वर्णन बिहारी और पृथ्वीराज दोनों ने ही किया है। बिहारी कहते हैं:—

चुवत स्वेद मकरंद कन, तरु तरु तर बिरमाय।
आवत दच्छिन देस तें, थक्यो बटोही बाय॥

पृथ्वीराज का पवन नद-नदी को तैरते हुए, वृक्षों को फाँदते हुए, लतिकाओं के गले लगता, दक्षिण से उत्तर की ओर जा रहा है, इसी कारण इतना थक गया है कि पाँव आगे बढ़ते ही नहीं:—

तरतौ नदि नदि ऊतरतौ तरि तरि, वेलि वेलि गळि गळै विलग्ग।
दखिण हूँत आवतौ उतर दिसि पवन तणा तिणि वह न पग्ग॥२५९॥

उसके श्रमकण ही देखने की चाह हो तो वह भी लीजिये यहाँ हैं:—

केवड़ा कुसुम कुन्द तणा केतकी, श्रम सीकर निरझर श्रवति।
ग्रहियौ कन्धे गंध भारगुरु, गंधवाह तिणि मंद गति॥२६०॥

इतना ही नहीं रत्यन्त म शौच करके लज्जित पवन-पुरुष किस प्रकार धीमे धीमे चलता है, अधीर नायक के समान पवन किस प्रकार रजस्वला नायिकाओं के समान पुष्पवती लतिकाओं का स्पर्श किये बिना नहीं मानता, संयोगिनी तथा वियोगिनी के लिये किस प्रकार यह पवन सुखद अथवा दुखद प्रतीत होता है, इसके भी अत्यन्त मधुर मादक और एकान्त रम्य चित्र पृथ्वीराज ने उपस्थित किए हैं। ऊपर के चित्रों से स्पष्ट ही है कि प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में, चित्र बाँधने साम्यउपस्थित करने में पृथ्वीराज हिन्दी के कवियों में प्रथम कोटि के अधिकारी हैं। आधुनिक काल में 'जूही की कली' रचकर निरालाजी ने जो मधुमादक चित्र उपस्थित किया वह अनुपम है और प्राचीन काल में पवन की विविध स्थितियों का जो सजीव चित्र पृथ्वीराज ने खींचा वह भी अपनी सुषमा में अनुपम है। सुखद और रतिमधुर चित्रों के अंकन में पृथ्वीराज की लेखनी तूलिका का काम करती है। उनकी कविता सूक्ष्म-निरीक्षण के सौन्दर्य से यौवनवती है, उसमें कालिदास का सा रूप-सौन्दर्य का आकर्षण है। कोई भी स्थल ऐसा नहीं है जहाँ कवि ने रंग भरकर उसे चमका न दिया हो, दूसरों के चित्र उनके सामने फीके न हो गये हों। कवि ने जिस वर्णन को उठाया है उसका पूरा रूप खड़ा किया है उसे पूर्ण भाव-तन्मयता से चित्रित किया है।

वेलिकार की बहुज्ञता

प्राचीन काल के साहित्य-शास्त्रों में इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि कवि को अनेक बातों का ज्ञान रखना चाहिये। इस प्रकार के ज्ञान का निर्देश संस्कृत के कई ग्रंथों में वर्णित है। राजशेखर की सुप्रसिद्ध पुस्तक काव्यमीमांसा में इस ज्ञान के अनेक विभाग करके कई अध्यायों में उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। संस्कृत का एक ग्रंथ कविकर्पटिका के नाम से प्रसिद्ध है। इसके लेखक का तो कहना है कि यदि उनके द्वारा दिये गये कुछ शब्दों आदि को कोई स्मरण कर ले तो कैसी भी समस्या हो वह उसकी पूर्ति कर सकता है।—

यत्नादिमां कण्ठगतां विधाय, श्रुतोपदेशाद् विदितोपदेशः।
अज्ञातशब्दार्थविनिश्चयोपि, श्लोकंकरोत्येव समासु शीघ्रम्॥

इससे प्रकट होता है कि संस्कृत कवियों के लिये विशद ज्ञान की अनिवार्य रूप से आवश्यकता मानी गई है। हिन्दी में भी इसी प्रकार की कुछ सूचियाँ देने की प्रवृत्ति केशवदास आदि में लक्षित होती है। कभी कभी ऐसा भी हुआ है कि उल्टा सीधा वर्णन कर देना ही आवश्यक समझ कर कवि कुछ न कुछ कह गया है। फिर भी इतना निश्चय है कि यदि कवि का ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत है तो वह उसका उपयोग करके काव्य को अत्यन्त मार्मिक और प्रभावपूर्ण बना सकता है। वेलिकार पृथ्वीराज भी इस बात को आवश्यक मानते रहे होंगे इसीसे उन्होंने 'वेलि' में आए हुए ज्ञान का स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा है :—

ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी, संगीती तारकिक सहि।
चारण भाट सुकवि भाखा चित्र, करि एकठा तो अरथ कहि॥२९९॥

कोई चाहे तो आक्षेप कर सकता है कि पृथ्वीराज की यह गर्वोक्ति है, उन्हें विनम्रता से काम लेना चाहिये था। निस्सन्देह कवि की यह उक्ति विनम्रता की बड़ी भारी सूचना तो नहीं देती किन्तु इसे एकदम आत्मश्लाघा कहकर भी नहीं रहा जा सकता। 'वेलि' में प्रयुक्त ज्ञान के आधार पर यदि वेलिकार ने यह सब कहा है तो इसे गर्वोक्ति न कहकर हमें उनका स्पष्टीकरण, उनका वक्तव्य मानना चाहिये। उन्होंने यदि अपने ग्रंथ को समझने के लिये एक मार्ग का दर्शन करा दिया है तो हमारी सहायता ही की है। हमें देखना यह चाहिये कि यदि

यह उक्ति सत्य नहीं है तो कवि का यह मिथ्या दम्भ मात्र है, अन्यथा यह मार्ग निर्देश हमारा सहायक है। नीचे हम कवि की बहुज्ञता के उदाहरण वेलि से देंगे जिनसे उनकी यह उक्ति सत्य सिद्ध होगी।

कथाकार का आवश्यक और पहला गुण होना चाहिये कि वह अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक, कथाओं का ज्ञाता हो और उनका उपयोग अपनी कथा में कर सके। इससे काव्य के विस्तार तथा उपदेश आदि में सहायता मिलती है और काव्य की रोचकता की वृद्धि होती है। वेलिकार को पौराणिक ज्ञान तो सीधे भागवत से मिला ही था, यह असंदिग्ध है। इसके अतिरिक्त कि वह अपने ग्रंथ की उपयोगी कथा को ठीक ठीक जानता था, उसे अन्य कथाओं (यथा, अनेक अवतारों तथा समुद्र मन्थन की कथा) का भी पता था। रुक्मिणी का पत्र भागवत की कथा से नहीं लिया गया है वह कवि की स्वच्छन्द प्रतिभा के प्रताप से उद्भुत हुआ है। उस पत्र में लेखक ने क्रमशः बलिबन्धन, वाराहावतार, नृसिंहावतार, समुद्रमन्थन, रामावतार और रावण का नाश, लंका से सीता का उद्धार और समुद्र बन्धन, चतुर्भुज रूप आदि का उल्लेख किया है, जिससे प्रकट है कि कवि को पौराणिक कथाओं का ज्ञान था। ऐतिहासिक ज्ञान का बोध, चन्देवरी नगरी का नाम देकर सूचित किया गया है।—पहिलुं इ जाइ लगन ले पुहतौ, प्रोहित चन्देवरी पुरी॥३६॥ प्राचीनकाल में होनेवाले राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों के द्वारा किस प्रकार दिग्विजय की घोषणा की जाती थी, यह ऐतिहासिक ज्ञान भी उन्ह था, जिसका संकेत उन्होंने २४२ वें दो० में 'जगहथ पत्र' कहकर किया है। महाभारत की कथाओं तथा महाभारत कालीन कथाओं और महान् विभूतियों का उन्हें परिचय था अतएव उन्होंने महात्मा विदुर का उल्लेख वसन्त की महफिल में—विदुर वे चक्रवाक विहार—पंक्ति में कर दिया है १५९वें दोहले में कवि ने क्षीरसागर का वर्णन—सेज वियाज खीर सागर सजि—तथा २१६ में धनंजय तथा दुर्योधन के कृष्ण से सहायता माँगने की कथा का वर्णन करके कवि ने अपने पौराणिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान की पुष्टि ही की है। यह दोहला तो कवि के ज्योतिष ज्ञान का भी नमूना है। दोहला इस प्रकार है :—

एहिज परि थई भीरि कजि आयां,
धनंजय अनै सुयोधन।——आदि।

२७१ में उषापति कहकर बाणासुर की पुत्री उषा का, २७३ में सिंधुसुता कहकर समुद्रमन्थन से निकली लक्ष्मी का, तथा २७४ में शम्बरारि कहकर शम्बर की कथा के ज्ञान का भी परिचय दिया है।

कवि के भौगोलिक ज्ञान का पता भी २२४वें दोहले की निम्न पंक्तियों से लगता है:—

निय नाम सीत जाळै वण नीला, जाळै नळणी थकी जळि।
पातिग तिण द्वारिका न पैसै, मँजियै विणु मन तणै मळि॥

द्वारिका समुद्र की समीपता के कारण अधिक शीत तथा अधिक गर्मी से बचा रहता है। किन्तु वहाँ शीत का भी आगमन हो गया जो उस स्थान की स्थिति के विरुद्ध है। यही लक्ष्य करके कवि ने उसे पातकी कहा है।

कवि का प्रकृति का ज्ञान तो बहुत ही बढ़ा चढ़ा था। पवन के त्रिविध गुणों का वर्णन कर देना तो रूढ़ि से प्रचलित है, किन्तु वनस्पति का जैसा ज्ञान वेलिकार को है वैसा कम कवियों को रहा होगा। प्रकृति का ज्ञान रखने के कारण ही कवि ने कृषक के कार्यों से भी परिचय प्रकट कर दिया है। अनेक पुष्पों का ज्ञान कराते हुए कवि ने २३७ वाँ दोहला लिखा है जिसमें—'कणियर तरु करणि सेवंती कूजा, जाती सोवन गुलाल, आदि का नाम आया है। ऐसे कितने ही पुष्पों के नाम २५६ तथा २६० आदि दोहलों में भी पाये जा सकते हैं। पक्षियों में भी लेखक ने चक्रवाक, कोकिल, किरीटी, खंजरीट आदि का नाम लिया है और उनके कार्यों अथवा गुणों से साम्य के आधार पर अथवा उद्दीपन के रूप में बड़ी ही सुन्दर, चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ कही हैं। सन्ध्या के समय चक्रवाक का अलग हो जाना तथा प्रातः फिर मिल जाना रति के वर्णन से पूर्व तथा पश्चात् उद्दीपन के रूप में ही किया गया है। भाव व्यंजना के लिये किरीटी का नाम भी बड़े ही सुन्दर स्थल पर रखा है। कृष्ण प्रातःकाल किरीटी की आवाज़ सुनकर रुक्मिणी से अलग होने की व्यथा से व्यथित हो उठे हैं:—

लिखमीवर हरख निगरभर लागी, आयु रयणि त्रूटन्ति इम।
क्रीड़ाप्रिय पोकार किरीटी, जीवितप्रिय घड़ियाल जिम॥

राजहंस, भ्रमर, झिल्ली, मोर तथा चकोर इन सबका काम भी एक ही साथ वसन्त की महफिल में बाँट दिया गया है।—

कळहंस जाणगर मोर निरतकर, पवन तालधर ताल पत्र।
आरि तन्तिसर भमर उपंगी तीवट उघट चकोर तत्र॥

तोता, सारस, खंजरीट तथा कबूतर का वर्णन भी अगले ही दोहले में कर दिया गया है। खंजन पक्षी की चालपर रीझकर उसे गतिकार कहना उचित ही है।

ऋतुराज के गति, मति तथा गुण का सुन्दर साम्य १९वें दोहले में रुक्मिणी की गति, आदि से बैठाया गया है। २२६वें दोहले में ऋतु-परिवर्तन के वर्णन से कवि के वानस्पत्य-ज्ञान का भी परिचय मिलता है।

रवि बैठो कळसि थियौ पालट रितु, ठरे जु डहकियौ हेम ठंठ।
ऊडण पंख समारि रहे अलि, कण्ठ समारि रहे कळकंठ॥

ऋतु-परिवर्तन का वनस्पति तथा जीवों पर प्रभाव का यह ज्ञान राशि ज्ञान से सम्पन्न है। ऋतुओं के ज्ञान के कारण ही कवि को कृषक के धान्य बोने आदि का समय भी ठीक ठीक ज्ञात है। उसकी विशेषता यह है कि वह धान्य बोने और काटने की विधि से भी पूर्ण परिचित है। यथा उसका यह कथन कि वर्षा के समय हल चलाने से थोड़े परिश्रम से ही पूरा लाभ हो सकता है :—

वूठै वाहवियै आ वेळा, हल जीपिस्यै जु वाहिस्यइ हाथ।

अथवा— विसरियाँ विसर जस बीज बीजिजै, खारी हाळाहळाँ खलाँह॥
त्रूटै कन्ध मूळ जड़ त्रूटै, हळधर काँ वाहताँ हलाँह॥

कृषक द्वारा किये जाने वाले गाहटन कर्म का भी चित्र कवि ने खींचकर कृषक के सभी कार्यों से अपना परिचय प्रदर्शित किया है :—

रिण गाहटतै राम खळाँ रिण, थिर निज चरण स मेढ़ि थिया।
फिरि चड़ियै संघार फेरता, केकाणाँ पाइ सुगह किया॥

प्रशंसा की बात यह है कि कवि ने ऐसे स्थलों पर कृषी-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग करके उसे वास्तविक रूप प्रदान करने में सफलता प्राप्त की है।

कृषक के काम के अतिरिक्त कवि ने लोहार और जुलाहे के कामों पर भी ध्यान दिया है तथा उनका क्रमशः १३२ तथा १७१ दोहले में रूपक के रूप में वर्णन किया है। रुक्मी को दण्ड देते समय कृष्ण की दशा एकदम लोहार जैसी है। युद्धक्षेत्र ऐरण बन गया है, कृष्ण का शरीर ही लोहार का बाँया हाथ है, मन संड़सी है और रुक्मी ही लोहा है :—

रुकमइयौ पेखि तपत आरणि रण, पेखि रुषमणी जळ प्रसन्न।
तणु लोहार वाम कर निय तणु, माहव किउ साँडसी मन॥

जुलाहे का रूपक तो और भी सुन्दर है। वहाँ प्रेम का मधुर बन्धन सूत्र रूप में बंध गया है :—

मन दम्पती कटाछि दूति मै, निय मन सूत्र कटाछि नळी॥

विज्ञान की चर्चा में भी कवि किसी से पीछे नहीं। ज्योत्स्नाके प्रभाव से जल का वेग तथा लहरों का बढ़ना सामुद्रिक सत्य होने के साथ ही साथ वैज्ञानिक भी है। इसका कवि ने २३ तथा १४१वें दोहलें में भी वर्णन किया है। १९६ में तो उन्होंने बिजली को 'जलबाला' कहकर विज्ञान की आधुनिक घोषणा को सत्य कर दिया है। पानी से बिजली निकाल लेना तो आज की बात है किन्तु पंचतत्वों के तत्व का वर्णन करने वाले ग्रंथ इस विषय में पूर्व से ही निश्चित मत हैं।

वैद्यक शास्त्र से कवि का परिचय ही नहीं था बल्कि उसकी सूक्ष्मताओं का भी उसे अच्छा ज्ञान था। दोहला २८४ में लेखक ने चतुर्विध—शस्त्र, औषधि, मन्त्र तथा तन्त्र—चिकित्सा का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा, ससत्र उखध मँत्र तंत्र सुवि।
काया कजि उपचार करन्तौं, हुवै सु वेलि जपन्ति हुवि॥

तथा अगले ही दोहले में उन्होंने वात, पित्त, कफ आदि का भी रोग के रूप में उल्लेख किया है।

कवि के ज्योतिष के ज्ञान का आभास तो इतने से ही लग सकता है कि उसने जहाँ तहाँ सबसे अधिक इसी ज्ञान का प्रदर्शन किया है। नक्षत्रों, राशियों, योगिनियों, मासों, कोणों, आदि का स्थान स्थान पर वर्णन लाया गया है। नक्षत्रों का वर्णन क्रमशः ८५, ९३, १९३ दोहलों में किया गया है।

पहिले में 'कुंआर मग' कहकर नक्षत्र मार्ग अथवा आकाश-मार्ग का वर्णन किया गया है। ९३ वें में नवग्रहों के लिये पृथक पृथक् शुभ नवरत्नों से जटित कण्ठी का उल्लेख है। नक्षत्र के आकार के ज्ञान का तो कवि ने अत्यन्त सुन्दर सदुपयोग किया है। एक नक्षत्र, जिसमें पाँच तारे सम्मिलित होते हैं, हाथ के पंजे के समान होता है यही देखकर कवि नें रुक्मिणी के हाथ के पंजे को हस्तनक्षत्र की उपमा देते हुए कहा है :—

गजरा नवग्रही प्रोंचिया प्रोंचे, वळे वळे विधि विधि वळित।
हसत नखित्र वेधियौ हिमकरि अरध कमळ अलि आवरित॥ ९३॥

उत्प्रेक्षा, से सज्जित यह दोहला कवि के ज्योतिष ज्ञान का काव्य में सुन्दर निर्वाह का प्रमाण है। १९३वाँ दोहला तो मृगशिरा तथा आर्द्रा नक्षत्र का उपयोग तथा समय का ज्ञान ही नहीं प्रकट करता बल्क यमक के आधार पर कवि के देशीय ज्ञान के, उपयुक्त स्थल पर, प्रयोग की ओर भी संकेत करता है। दोहला है :—

ऊपड़ी धुड़ी रवि लागी अम्बरि, खेतिए ऊजम भरिया खाद्र।
मृगशिर वाजि किया किंकर मृग, आद्रा वरसि कीध धर आर्द्र॥

यह मृगशिरा नक्षत्र में उड़ती धूलि का ही चित्र नहीं है, आर्द्रा नक्षत्र के आने पर वर्षा का भी सूचक है तथा मृगतृष्णा के रेगिस्तानी अनुभव का प्रमाण भी है। कवि ने ज्योतिष ज्ञान का देशीय अनुभव के साथ पूरा उपयोग किया है। साथ ही राजस्थानी लोकविश्वास को भी दोहले की पंक्तियों में समेट लिया है।

दोहला संख्या ९६, २१२ तथा २२२ से कवि के राशि सम्बन्धी ज्ञान का भी प्रमाण उपलब्ध होता है। ९६ में एक ही साथ ग्रह-गण तथा सिंघराशि का नाम लेकर उनके भावीसूचक माने जाने के विश्वास को भी प्रकट किया गया है।—

स्यामा कटि कटिमेखला समरपित, क्रिसा अंग मापित करल।
भावी सूचक थिया कि भेळा, सिंघरासि ग्रहगण सकल॥ ९६॥

ज्योतिष का विचार है कि यदि सिंघराशि पर ग्रह एकत्र हो जायँ तो शीघ्र ही बड़े भारी लाभ की आशा होती है। इसी बात को लेकर कवि ने उक्त दोहला कहा है। रुक्मिणी का नाम रकार से आरंभ होने के कारण तुला राशि का है किन्तु उनकी कटि तो सिंह के समान क्षीण है और उस पर

धारण की गई मेखला नवरत्नों से जटित होने के कारण मानों ग्रहगण युक्त है। अतएव मानों सिंहराशि पर समस्त ग्रह उपस्थित होकर किसी भावी शुभ की सूचना दे रहे हैं। भाव की दृष्टि से भी कवि ने यहाँ नाटकीय विधान से काम लिया है, 'भावी की सूचना' ऐसा कह कर भावी की सूचना यहीं दे दी है। इस प्रकार कवि का ज्योतिष-ज्ञान भाव के लिये सोने में सुहागे का काम करता दिखाई दे रहा है।

२१२ में तुलाराशि का उल्लेख भी किया गया है। २२२ में मकरराशि का संकेत है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि कवि को राशियों, नक्षत्रों, मास के अनुसार ऋतुओं, ऋतुओं के लक्षणों आदि ज्योतिष की समस्त बातों का बड़ा ही गहन अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ था जिसका उसने अवसर के अनुसार उपयोग भी किया है। राशि आदि का इस प्रकार का ज्ञान साधारण ज्योतिष ज्ञान का परिचायक नहीं है। उनके गंभीर चिन्तन और मनन का सूचक है। इस प्रकार का ज्योतिष-ज्ञान हिन्दी क्या संस्कृत के भी एकाध ही कवि में मिलेगा, और उसे निबाहने की कला तो पृथ्वीराज की अपनी ही है। इसके अतिरिक्त, नैऋत्य आदि कोण, योगिनियाँ, चातुर्मास्य की स्थिति, चन्द्रमा की कलाओं आदि का भी उन्हें ज्ञान था जिसका प्रदर्शन उन्होंने क्रमशः १९१, ११७ व १२१ तथा १२२, १९४, २११ दोहलों में किया है।

ज्योतिष जैसा ही विशद ज्ञान पृथ्वीराज को संगीत तथा नृत्य का भी था। उसका उपयोग भी उन्होंने अत्यधिक किया है। इस प्रकार के उदाहरणों के लिये क्रमशः २२७, २४४, २४५, २४६, २४८ तथा २९१ दोहले देखने चाहिये। २२७ में उन्होंने वीणा, डफ, महुअर तथा वंशी का नाम लिया है। फाग के साथ संगीत का कितना लगाव है इसी को जान कर कवि ने फाग के वर्णन के साथ इसका नाम ही नहीं लिया है, पंचम राग से परिचित होने का भी संकेत करते हुए कहा है :—

वीणा डफ महुयरि वंस वजाए, रोरी करि मुख पंचम राग।
तरुणी तरुण विरहि जण दुतरणि, फागुण घरि घरि खेलै फाग॥

यह दोहला फाग में तरुण तरुणियों की तरुणाई से एकदम हास और उल्लास का चित्र चित्रित करता है। २४४वें दोहले में 'तालधर' शब्द इस बात का प्रमाण है

कि वे समय-विराम ताल को भी जानते थे और करताल, मजीरा आदि जो वाद्य ताल के उपयोगी हैं, उनका भी परिचय उन्हें अवश्य था। ताल का विशेष सम्बन्ध नृत्य से है। इसका उपयोग क्रिया का परिमाण बताने के लिये किया जाता है। इसकी परीक्षा के लिये मात्रा की गणना के साथ सांकेतिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कवि ने उसे ही 'उघटना' शब्द के द्वारा बताया है।

कळहंस जाणगर मोर निरतकर, पवन तालधर ताल पत्र।
आरि तन्तिसर भमर उपंगी, तीवट उघट चकोर तत्र॥

इस दोहले में ताल तथा उवट के अतिरिक्त तीवट या त्रिवट राग, जो हिंडोल राग का पुत्र कहा जाता है और जिसके गाने का समय दोपहर है, तन्त्रीस्वर एवं नसतरंग बजाने वाले उपंगी का भी उल्लेख किया गया है। निश्चय ही इस दोहले मे संगीतशास्त्र का पूर्ण ज्ञान द्योतित है। २४५ में मरू अर्थात् सप्त स्वरों के आरोहावरोह सम्बन्धी मूर्च्छना तथा चन्द धरू से ध्रुपद राग का संकेत दिया गया है। उरप, तिरप शब्दों का प्रयोग इस बात की घोषणा कर रहा है कि पृथ्वीराज नृत्य तथा संगीत के पूर्ण ज्ञानी थे। २४८ में यवनिका, कोक, पात्र आदि शब्दों के प्रयोग से प्रतीत होता है कि लेखक ने कोकशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के साथ साथ नाटक तथा नाटकीय सिद्धान्तों का भी ज्ञान प्राप्त किया था। इन सब उदाहरणों से पृथ्वीराज संगीत के भी पूर्ण अनुभवी तो प्रतीत होते ही हैं, नृत्य, कोक, तथा नाटच से भी उनका परिचय था। 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' में उद्धृत उनके निम्न पद से भी उनके इस ज्ञान की पुष्टि होती है :—

धुधुकट धुधुकट धुधुकट धुधुकट धुधुकट धुधुकट।
गरें जाल झाँझि परझन कत्त तत्त ततततत्त धैया धामक धैया।
घुंघुरु कि घूंटिक पुगरू कि पुटुंक घुघुरुक करुपुनि वैन बजैया।
सकल प्राण प्रथीराज सुकवि कहि बजत मृदंग ध्वननि नचति कन्हया॥

लेखक ने जहाँ तहाँ दार्शनिक आधार लेकर अच्छी उक्तियाँ कहीं हैं। हठयोग, मायावाद, न्याय-दर्शन; इन तीन के विषय में उन्हें अच्छा ज्ञान था, इस बात का प्रमाण भी उनके पदों से उपलब्ध होता है। किन्तु इन सब दर्शनों में

लेखक का योग-सम्बन्धी ज्ञान सबसे अधिक समृद्ध था। योग की अनेक क्रियाओं की ओर उन्होंने कई पदों में संकेत किया है। प्रभातकालीन सौन्दर्य का वर्णन करते हुए, यौगिक क्रियाओं के आधार पर रूपक बाँधते हुए कवि कहता है :—

धुनि उठी अनाहत संख भेरि धुनि, अरुणोदय थियौ जोग अभ्यास।
माया पटल निसामैं मंजे, प्राणायामे ज्योति प्रकास ॥१८४॥

"योगी की शुचिता निस्सन्देह प्रातःकालीन शुचिता के समान ही है। प्रातःकाल में मन्दिरों और घरों से उठनेवाली शंख, भेरी आदि की ध्वनि, योगाभ्यास-निरत योगी के लिये अनाहत नाद के सुख के समान ही, नागरिकों के लिये सुखकर है। रात्रि का अन्धकार क्या मिट रहा है मानों योगी के हृदय का अज्ञानान्धकार ही मिटकर अनाहत नाद सुनाई पड़ रहा है। ज्ञान-सूर्य के उदय के समान ही सूर्योदय हो गया है। योगी जिस प्रकार प्रणायाम के पश्चात् ज्योति को सिद्ध करते हैं उसी प्रकार सूर्य की ज्योति अन्धकार रूपी मायापटल को हटाकर विकीर्ण हो गई है।"

योग की समस्त पद्धति से परिचित व्यक्ति ही इस प्रकार का वर्णन कर सकता है। 'मायापटल' की बात उनके वेदान्त-ज्ञान को प्रमाणित करती है। वेदान्त का कहना है कि सांख्यमतानुसार जो अनेक पुरुषों की कल्पना की गई है वह केवल अज्ञान के कारण। वस्तुतः चेतन तत्व तो केवल और एक है, उसीमें सबका लय होकर अद्वैत स्थापित होता है। यह द्वैत की भावना केवल माया के कारण उत्पन्न अहंकार रूपी उपाधि के उत्पन्न हो जाने पर ही आती है। अतएव वेदान्ती इसी मायापटल को दूर करना चाहता है। योग, चित्तवृत्तियों के निरोध—योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः—के द्वारा इस मायापटल को अहंकार का नाश करता हुआ उघाड़ देता है। योग की यह साधना प्राणायाम के सहारे ही की जा सकती है।

दोहला २८८ तथा २८९ में लेखक ने संन्यासी, जोगी, तपस्वी, हठनिग्रह, जाग, जप, तप तीरथ, व्रत, दान तथा आश्रम-नियम का उल्लेख किया है, जिससे प्रतीत होता है कि लेखक के समय तक इन सब का अच्छा प्रचलन था क्योंकि कवि ने कहा है कि इन सब का निर्वाह करने की आवश्यकता तब

नहीं रहती जब 'वेलि' का पाठ कर लिया जाय। २७१ दोहले से यह भी स्पष्ट ह कि लेखक को अवतार तथा भगवान की लीला या माया में अमित विश्वास था। वह मानता है कि भगवान ने मानुषी लीला के लिये ही शरीर धारण किया है।—

लीलाधण ग्रहे मानुखी लीला, जगवासग वसिया जगति ।

किन्तु वह नारायण, निर्लेप तथा निर्गुण है :—

कि कहिसु तासु जसु अहि थाकौ कहि,
नारायण निरगुण निरलेप।—२७२।

२७३ दोहले में न्याय और तर्कशास्त्र का ज्ञान प्रकट करने के लिये ही कवि ने पारिभाषिक शब्द 'प्रमा' का नाम लिया है :—

लोकमाता सिंधुसुता श्री लिखमी, पदमा पदमाळया प्रमा।

यह प्रमा यथार्थ अनुभव का ही दूसरा नाम है :—यथार्थानुभवः प्रमा। इस प्रमा के चार साधन नैयायिकों ने इस प्रकार दिये हैं :—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान तथा ४. शब्द। सांख्य ने इस केवल तीन को ही स्वीकार करते हुए उपमान को निकाल दिया है।

तन्त्र का भी कवि का कुछ अध्ययन था जिसका उपयोग उन्होंने २८४ दोहले में किया है। इन्हीं सब दर्शनादि के आधार पर लेखक को नवीनता प्रदर्शन का अच्छा अवसर मिला है। इन शास्त्रीय बातों के ज्ञान के अतिरिक्त पृथ्वीराज की सबसे बड़ी विशेषता थी, उनका सामाजिक निरीक्षण तथा अन्यान्य व्यापारों का विशद ज्ञान । उन्हें अपने यहाँ की प्रचलित प्रथाओं का भी बहुत अच्छा ज्ञान था और विवाहादि संस्कारों से वे अभिज्ञ न थे। इसका परिचय उन्होंने विशेषतः १४०, १५४, १५८, १६१, २३३, २३५ और २५० दोहलों में दिया है। जन-सामान्य के कार्यों का निरीक्षण उन्होंने जितनी सूक्ष्मता से किया है, वह हम लोहार तथा जुलाहे का उदाहरण देकर पहिले ही बता चुके हैं। सूप और चलनी के व्यवहार का सुन्दर दिग्दर्शन दो० २९५ की निम्न पंक्तियों से हो सकता है :—

मोतिए विसाहण ग्रहि कुण मूंकै, एक एक प्रति एक अनूप।
किल सोझण मुख मूझ वयण कण, सुकवि कुकवि चालणी न सूप॥

सुकवि कुकवि का भेद भी कवि ने अत्यन्त चमत्कार पूर्ण ढंग और सामान्य तुलना से बता दिया है।

रुक्मिणी के शृंगार का जैसा विस्तृत और आलंकारिक वर्णन पृथ्वीराज ने किया है उससे उनके आभूषण और सज्जा ज्ञान का परिचय तो मिलता ही है, नखशिख के अन्तर्गत मणि तथा रंगों के मोहक मिश्रण का ज्ञान भी प्रकट होता है। २०८ दोहला इसके प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है। पृथ्वीराज को महफिल में बैठने का जन्म भर समय मिलता रहा होगा अतएव कवि ने उस ज्ञान का उपयोग वसन्त की महफिल सजाकर किया है।

रस-संख्या तथा नायिका-भेद से उनका परिचय था इसका पता २९२ तथा १६३, १९७, २२० दो० से लगता है। हाव भावादि के ज्ञान का भी किंचित् प्रदर्शन लेखक ने २६९ में कर दिया है।—

अवसरि तिणि प्रीति पसरि मन अवसरि, हाइ भाइ मोहिया हरि।

युद्धवीर पृथ्वीराज के लिये शस्त्रों का ज्ञान तो एक सामान्य बात थी। उन्होंने कई शस्त्रों का नामोल्लेख युद्ध के प्रसंग में किया है। अपने समकालीन सेठों और धनपतियों की स्थिति और उनकी धनपूजा का निरीक्षण भी कवि ने किया था, जिसे उसने ऋतुराज की महफिल के अन्तर्गत चम्पक तथा केलि वृक्षों का वर्णन करते हुए प्रकट किया है :—

पुहपाँ मिसि एक एक मिसि पाताँ, खाडिया द्रव मांडिया ऊंखलि।
दीपक चम्पक लाखे दीधा, कोड़ि धजा फहराणी केळि॥२५०॥

अर्थात् पुष्प क्या प्रकट हुए मानो पुष्पों तथा पत्तों के रूप में वृक्ष रूपी धनपतियों का गड़ा हुआ धन ही सामने आ गया है। चम्पक पुष्पों से ऐसा लदा है जैसे धनपतियों ने धन-रक्षा के लिये लाखों दीपक जलाए हों। केलि ने तो मानों अपने करोड़ों के धन पर अपनी ध्वजा ही फहरा दी है।

इन सबके अतिरिक्त कवि ने जहाँ तहाँ कामधेनु, सोमवल्ली, चिन्तामणि, शेषनाग के सहस्र फण आदि का उल्लेख करके कवि-समय का भी उपयोग किया है। कवि ने यथाशक्य अपने ज्ञान का उपयोग करते हुए कविता को रमणीय तथा प्रभावोत्पादक बनाने की चेष्टा की है उनकी उपमाएँ, तथा उत्प्रेक्षाएँ उनके सूक्ष्म-निरीक्षण की साक्षी देती हैं। कवि की दृष्टि का विस्तार अपने महल

की परिधि से लेकर जनसमूह, प्रकृति, युद्ध-क्षेत्र, खेत, धनपति, वैद्य, संगीतज्ञ, वेदान्ती, नैयायिक, राजमहफिल, हिन्दू-प्रथा तथा संस्कार, तीर्थादि, पर्व तथा अन्य इसी प्रकार के अनेक स्थलों तक दिखाई देता है। अपने आसपास की एक एक बात का ज्ञान तो कवि को सहज रूप में उपलब्ध था ही, अन्य ज्ञान के लिये भी उसका परिश्रम तथा अध्ययन कम नहीं दिखाई देता। एक ओर वह जुलाहे और लोहार तथा किसान के साथ बैठता है, दूसरी ओर महफिल सजाता है, नाच रंग का आनन्द लेता है, प्रकृति में विचरण करके अपनी आँख और मन को तृप्त करता है एवं दर्शन, विज्ञान, वैद्यक तथा अन्य विद्याओं का ज्ञान उपार्जन करता है। निश्चय ही इस ज्ञान के लिये पृथ्वीराज को गहन अध्ययन की आवश्यकता पड़ी होगी। उनका यह ज्ञान प्रशंसनीय तथा कवियों के लिये अनुकरणीय है। ऐसा ज्ञान बहुत कम लेखकों में दिखाई देता है। फिर भी पृथ्वीराज विनम्रता पूर्वक कहे बिना नहीं रहते कि :—

ग्रहिया मुखि मुखा गिळित ऊग्रहिया, मूं गिणि आखर ए मरम।
मोटां तणौ प्रसाद कहै महि, एठौ आतम सम अधम ॥३००॥

तथा— हरि जस रस साहस करे हालिया, मो पंडिता वीनती मोख।
अम्हीणा तम्हीणे आया, श्रवण तीरथे वयण सदोख ॥३०१॥

गुरुजनों का ही यह प्रसाद है, हरि की यह कृपा है, उसीके प्रेमवश अपनी समझ में जो कुछ भला बुरा आया वह लिख दिया। विद्वज्जन क्षमा करें। यही उनकी प्रार्थना का सार है। फिर भी ऐसे विनीत व्यक्ति को यदि कोई कहे कि वह दम्भी था तो कहने वाले को कोई क्या कहेगा, यह कहने की बात नहीं।

वेलि में भक्ति का स्वरूप

'वेलि' कवि के शब्दों में शृंगार-ग्रंथ है किन्तु उसका बीज धर्मग्रन्थ भागवत में विद्यमान है। भागवत कृष्णभक्तों का कण्ठहार और भक्ति का सम्मानित ग्रंथ ह। अतएव यदि किसी ग्रंथ का बीज भागवत से उपलब्ध होता है, तो नियमानुकूल उस रचना को भक्ति-काव्य की ही श्रेणी में लोग रखना चाहेंगे। भागवत के दशम स्कंध को लेकर ब्रजभाषा का इतना विशाल प्रासाद खड़ा है। यदि भक्ति की रचनाएँ समाप्त कर दी जायँ तो ब्रजभाषा महत्वशून्य हो जायगी। तात्पर्य यह कि जिस भागवत के आधार पर भक्त

कवियों का बनाया हुआ इतना दृढ़ गढ़ खड़ा है उसी भागवत के आधार पर बढ़ने वाली 'वेलि' को भी भक्ति से शून्य रखना अनुचित ही कहा जाता अतएव लेखक ने प्रस्तुत ग्रंथ में शृंगार को प्रधानता देते हुए भी 'वेलि' की परिणति भक्ति में ही की है।

'वेलि' में भक्तिकाव्यों की परम्परा के साथ साथ अनेक ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जिनके आधार पर इसे भक्तिकाव्य के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। ग्रंथ के आरम्भ में ही लेखक ने प्राचीन परिपाटी का अनुसरण करते हुए जो मंगलाचरण लिखा है, उसीमें कथा के नायक कृष्ण को मंगल-रूप कहा है :—"मंगलरूप गाइजै माहव।" माधव को मंगलरूप कहना और मंगलाचरण में ही उनका भी स्तवन करना इस बात का द्योतक है कि लेखक उन्हें कल्याण-कारी प्रभु ही मानता है। उस कृष्ण का वर्णन करते हुए लेखकने अनेक स्थलों पर उनके प्रति अपनी भक्ति और उनके भगवत्स्वरूप का परिचय दिया है। मंगलाचरण के तुरन्त आगे दूसरे ही दोहले में लेखक ने कृष्ण को सृष्टि का आदि कर्त्ता तथा गुणनिधि मानते हुए कहा है :—"आरंभ में कियौ जेणि उपायौ गावण गुणनिधि हूँ निगूण।" और इस तथा आगे के छन्दों से यह विश्वास प्रकट किया है कि सरस्वती तथा सहस्र मुख तथा दो सहस्र जिह्वा वाला शेष-नाग भी उनके गुणों का वर्णन नहीं कर सकता फिर भला एक कवि की क्या सामर्थ्य। फिर भी भगवान की कथा कहे बिना निस्तार का उपाय नहीं सूझता अतएव अपनी अशक्तता का ज्ञान होते हुए भी उसका कीर्तन करना ही है :—"कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन, स्रम कीधा विणु केम सरै।" अतएव समझना चाहिये कि कवि ने अपने कविरूप की रक्षा के हेतु तो काव्य को शृंगाररूप दिया, किन्तु उसका हृदय भक्ति और भगवान की दिव्य आभा से आलोकित था। वह इस ग्रंथ को स्वयं तो भगवान का कीर्तन मात्र ही समझता है। भगवान कृष्ण उसके लिये सृष्टिकर्ता हैं, पोषक हैं :—"क्रिसन जु पोखण भरण करै।" कृष्ण को लेखक सदैव त्रिविक्रम, श्रीपति, जगत्पति, अन्तर्यामी, देवाधिदेव, कृपानिधि, अशरणशरण, पुरुषोत्तम, त्रिभुवन-पति तथा हरि ही मानता है। कवि होने के नाते पृथ्वीराज ने कृष्ण को 'कृष्ण' केवल तब कहा है जब वसुदेव देवकी को उनकी चर्चा करनी पड़ी है, भीष्मक ने

रुक्मिणी के वर रूप में उनका नाम लिया है अथवा पुरनारियों ने उन्हें आते देखा है। इन स्थलों पर 'कृष्ण' नाम लेना भी कवि-कौशल से युक्त है। माता-पिता अथवा परिजनों के द्वारा कहा गया नाम केवल प्यार-द्योतन के लिये है। पुरनारियों द्वारा कृष्ण कहने की युक्ति यह है कि वे उन्हें दूल्हा रूप में मानती हैं और उनकी छवि पर मुग्ध हैं, अतएव सहजभाव से नाम ले लेती हैं। जहाँ कृष्ण नाम लिया गया है वहाँ केवल कोई विशेष कारण रहा है। जैसे, ७वें पद में भी 'किसन' कहा गया है किन्तु वहाँ उनके नाम के साथ पोषण-भरण करने की महिमा लगाकर इस नाम को भी विशेष महिमान्वित कर दिया है। कवि ने नाम लेकर कहना चाहा है कि वह कृष्ण का गुणगान कर रहा है, वह कृष्ण ऐसे वैसे कृष्ण नहीं हैं कि कहीं के राजा हों, बल्कि वह कृष्ण हैं हमारे भरण-पोषण कर्त्ता ही। अतएव यहाँ कृष्ण नाम लेकर उनकी अलौकिकता की ओर बलात् ध्यान आकृष्ट किया है। अन्य नामों के लिये, जिनका उल्लेख हमने ऊपर अभी किया है, पाठक ३,५, ६, ५४, ५८, ६६, ६७, ६८ तथा १११ दोहले देख सकते हैं। इन सबसे सिद्ध होता है कि वेलिकार ने कृष्ण भगवान का कीर्तन मानकर ही 'वेलि' की भक्ति-पूर्वक रचना की है, कालिदास के समान केवल शृंगार-वर्णन के लिये नहीं। उसकी तो रुक्मिणी भी लक्ष्मी का ही अवतार हैं, सरस्वती उनकी सखी है। फिर उनके प्रति माता की दृष्टि को छोड़कर कवि और विचार भी क्या रखता। कवि निस्सन्देह रुक्मिणी को माता ही मानता है, इस बात का प्रमाण उसने ९वें दोहले में माता की महिमा गाकर दिया है। वहीं पिता की भी चर्चा है जिससे स्पष्ट है कि लेखक कृष्ण तथा रुक्मिणी को माता-पिता मानता है। रुक्मिणी के पत्र द्वारा उसने अवतारवाद तथा जन्मान्तरवाद आदि में विश्वास प्रकट करके अपनी आस्तिकता की और पुष्टि ही की है। पुष्टिमार्ग के अनुकूल द्वारिका न केवल कृष्ण का निवास स्थान है बल्कि वह अमरावती ही है—"आयौ कि हूँ अमरावती", कहकर विप्र चकित भाव से उस तीर्थ को देखता रह जाता है। रुक्मिणी की दृष्टि से यह भक्ति माधुर्य–भक्ति कही जा सकती है, और कवि की दृष्टि से यह एक दास का स्वामी के प्रति निवेदन कहा जायगा। अपनी दासता प्रकट करने के लिये लेखक ने अनेक उपायों से काम

लिया है। कहीं तो वह मंगलाचरण के नाम पर अपनी गुणहीनता तथा भगवान की सगुणता का वर्णन कर जाता है, और अन्त में विनम्रता पूर्वक 'वेलि' को सरस्वती का प्रसाद ही मान लेता है। वह विश्वास करता है कि भाषा तो साधनमात्र है, किन्तु इतना वर्णन कर सकना भी उसके वश की बात न थी, यदि सरस्वती की कृपा न होती। भाषा को साधन—वह भी गौण—मानते हुए कवि की विचित्र उपमा ध्यान देने योग्य है।—

भाषा संस्कृत प्राकृत भणंता, मूझ भारती ए मरम।
रस दायिनी सुन्दरी रमतां, सेज अन्तरिख भूमि सम ॥२९७॥

भक्त की विनम्रता, का प्रदर्शन कवि ने अन्त के पदों, यथा, ३००–३०१, में, विशेष रूप से किया है। वह हरिरस कहता चला है, इसका विश्वास होने के कारण ही उसकी प्रार्थना है कि :—

हरि जस रस साहस करे हालिया, मो पण्डिता वीनती मोख।
अम्हीणा तम्हीणे आया, श्रवण तीरथे वयण सदोख ॥३०१॥

इस कारण ही वह ३०० दोहले में कह चुका है कि सज्जन 'वेलि' को गुरुजनों का प्रसाद ही कहेंगे। गुरुजनों की महत्ता की स्वीकृति और अपनी बुद्धि को उनका प्रसाद कहना भक्त की विनम्रता और शील का पहला लक्षण है। तुलसी ने भी 'कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ'—कहकर अपनी विनम्रता का प्रदर्शन किया था तथा अन्यत्र भी इसी प्रकार की विनम्रता दिखाई थी। सूर को भी कहना पड़ा था :—'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।' वेलिकार को अपने कृष्ण के भगवान होने पर इतनी आस्था है कि वह वेद तथा अनाहत आदि को उनका सेवक-सा ही समझता है।—

पौढ़ाड़ै नाद, वेद परबोधै, निसि दिन वाग विहार नितु।
माणग मयण एण विधि माणै, रुषमिणि कन्त वसन्त रितु ॥२६८॥

भगवान का क्रिया-कलाप ही विचित्र है।

कवि ने मंगलरूप भगवान की आराधना की है, इसी कारण उसने, अन्त, में इस वेलि को भक्तिकाव्य बताने के लिये ही मानो कई बार इसे 'वेलि' न कह रुक्मिणी-मंगल कहा है। यह मंगल लिखने की परम्परा भक्तिकाव्यों में ही काम

में आती थी, यह तो सिद्ध ही है। यही कारण है कि वह 'मुख कहि कृसन रुषमणि-मंगल', अथवा 'मन सुद्धि जपन्तां रुषमणि मंगल' कहता है।

भक्ति-काव्यों की प्रायः एक परम्परा यह रही है कि लेखक उसके पाठ की विधि का उल्लेख करता रहा है। जिन ग्रंथों म पाठविधि का उल्लेख कवि की ओर से नहीं हुआ है उनके साथ वह पाठविधि अन्य लोगों ने निश्चित कर दी है। धार्मिक ग्रंथ को पढ़ने के लिये विशेष व्यक्ति तथा उपयुक्त समय का विचार होता आया है। वेलिकार ने इस ग्रंथ की धार्मिकता की ओर संकेत करने के लिये इसी उपाय का सहारा लिया है। पृथ्वीराज ने स्वयं २८० दोहले में इसकी पाठविधि का निश्चय किया है कि छः महीने तक पृथ्वी पर शयन करके, प्रातःकाल जल में स्नान करके, अस्पृश्य तथा जितेन्द्रिय रहकर 'वेलि' का नित्य पाठ करना चाहिये :—

महि सुइ खट मास प्रात जळ मंजै, आप अपरस अरु जित इन्द्री।
प्रागै वेलि पढ़न्तां नित प्रति ॥२८०॥

इस प्रकार का विधान निश्चय ही 'वेलि' को धार्मिक काव्य की कोटि में ले जाता है। पाठ करने की यह सनातनी शैली संभवतः इसी कारण बताई गई है कि हम 'वेलि' को केवल शृंगार की रचना ही न समझ बैठें।

पाठविधि के अतिरिक्त भक्ति अथवा धार्मिक दृष्टिकोण की पुष्टि करता हुआ एक और प्रमाण भी उपलब्ध होता है, वह यह कि वेलिकार ने भक्त-कवि तुलसीदास का अनुकरण करते हुए मानस-माहात्म्य के ही समान वेलि-माहात्म्य भी गाया है। यह माहात्म्य लिखने की प्रथा भी केवल उन्हीं काव्यों या ग्रंथों से बंधी चली आ रही है, जिन्हें हम धार्मिक मानने को तैयार ह। जिन तीर्थों अथवा ग्रंथों, पर्वों अथवा त्योहारों पर हमारा विश्वास होता है उन्हींके माहात्म्य की कथा भी कही जाती है। अतएव माहात्म्यकथन निश्चय ही धार्मिकता का प्रबल प्रमाण माना जा सकता है। वेलिकार न इस साधन का प्रचुर प्रयोग किया है। २७८ से २९० तथा फिर अन्तिम दोहले तक में इसका माहात्म्य गाया गया है। संसार की कोई ऐसी वस्तु नहीं जो 'वेलि' के पाठ से उपलब्ध न हो जाय। लौकिक सुखों की तो बात ही क्या है, मोक्ष की कामना करने वाले को भी 'वेलि' रूपी नसैनी का ही सहारा लेना चाहिये :—

प्रिथु वेलि कि पँचविध प्रसिध प्रणाळी, आगम नीगम कजि अखिळ।
मुगति तणी नीसरणी मंडी, सरग लोक सोपान इळ॥

सारांश यह कि 'वेलि' कथाकार के शब्दों में शृंगार का ग्रंथ है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु यह भी असन्दिग्ध ही है कि लौकिक आवरण में यह 'वेलि' मोक्ष की नसैनी ही है। भक्तों की भक्ति-भावना का एक साधन है। पृथ्वीराज का हृदय कृष्ण के प्रति श्रद्धायुत होकर अपनी समस्त भावनाओं को ऐसे रूप में प्रकट कर गया है कि वह लौकिक होते हुए भी मर्यादित हैं। अलौकिक रुक्मिणी और कृष्ण दोनों का चरित्रचित्रण करते हुए कवि ने उनकी मर्यादा का पूरा ध्यान रखा है, परकीया प्रेम की दुहाई देकर इसमें शृंगार का नग्न चित्र नहीं खींचा गया है। अपनी निर्मलता और स्वच्छता में यह स्वयं एक धर्मकाव्य है। भक्ति और शृंगार की सरस सम्मिलन-भूमि है। प्रयागराज के समान ज्ञान, भक्ति तथा कर्म की त्रिवेणी से मण्डित यह एक तीर्थ है। यहाँ काव्य की मन्दाकिनी भी है और भक्ति की अमृतबेलि भी है। संभवतः इसकी इसी पवित्रता से प्रभावित होकर ही उनके समसामयिक दुरसा जी ने इसे 'पाँचवा वेद' कहा हो और अपनी भक्ति के लिये प्रसिद्ध होने के कारण नाभादास जी ने भक्तमाल में पृथ्वीराज को स्थान भी दिया हो। इनकी भक्ति में किसी प्रकार का सन्देह इस कारण भी नहीं किया जा सकता कि इनकी अन्य रचनाएँ भी भक्ति-सम्बन्धिनी ही अधिक हैं। इनकी मृत्यु की घटना भी इनके भक्त-रूप को ही अधिक स्पष्ट रूप में महत्व देती हुई जान पड़ती है। अस्तु, अनेक प्रमाणों के रहते हुए 'वेलि' का उद्देश्य भक्ति अथवा चतुर्वर्गप्राप्ति मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

भागवत तथा नंददास का रुक्मिणी मंगल और वेलि

नन्ददासजी का रुक्मिणी मंगल १३३ रोला छंदों में लिखा गया ब्रज-भाषा की माधुरी में पगा एक सुन्दर काव्य है। इसकी कथा का आधार भी भागवत ही है। कथा रुक्मिणी के शिशुपाल से विवाह के प्रस्ताव से आरम्भ होकर रुक्मिणी तथा कृष्ण के विधिवत् विवाह में परिणत होती है। रचना का आरम्भ लेखक ने गुरु-चर—प्रताप के वर्णन से किया है। उसका विचार है कि रुक्मिणी-मंगल की पुनीत कथा का पाठ करने अथवा सुनने से

न केवल यमत्रास ही मिट जाता है बल्कि हरिचरनारविन्द के समीप पाठ-कर्त्ताओं तथा श्रोताओं को वास भी मिल जाता है :—

रुक्मिणी हरन पुनीत चित दै सुनैं सुनावैं।
जाहि मिटै जम-त्रास, बास हरि के पद पावै ॥ २ ॥

इस मंगल का पाठ इस कारण भी करना चाहिये कि इसके पाठक हरि को भा जाते हैं और जो हरि को भा जाता है वह सबको भाता है :—

जो यह मंगल गाय चित्त दै सुनै सुनावै।
सो सब मंगल पावै हरि रुक्मिनी मन भावै ॥१३२॥

तथा— हरि रुक्मिणी मन भावै सो सब के मन भावै।
नन्ददास अपने प्रभु कौ नित मंगल गावै ॥१३३॥

इस ग्रंथ को पुनीत कहने का कारण है, भक्ति की प्रधानता इस ग्रंथ की विशेषता है, यह दिखाने की चेष्टा। इसकी कथा शिशुपाल के लिये अपने विवाह के विषय में गये हुए प्रस्ताव को सुनकर रुक्मिणीजी के स्तम्भित रह जाने की दशा से आरम्भ होती है जिसका कारण यह प्रतीत होता है कि लेखक को भक्ति के दृष्टिकोण से रुक्मिणी के पिता आदि के वर्णन से कोई सम्बन्ध नहीं था अतएव जिससे कथा का सीधा सम्बन्ध था उसीसे कथा का वर्णन आरम्भ किया गया। इसी प्रकार युद्ध का वर्णन भी इस काव्य में दो ही चार छंदों में निपटा दिया गया है। 'वेलि' के समान युद्ध-वर्णन की लालसा नन्ददास में नहीं दिखाई देती। कारण स्पष्ट है, 'वेलि' का रचयिता भक्त होते हुए भी राजनीति में सक्रिय भाग लेता था और इसके विपरीत नन्ददास अष्ट-छाप के भक्त समुदाय और गुरु की सेवा में रहते और भक्ति का ही चिन्तन करते थे। दूसरे; पृथ्वीराज की शिराओं में जो राजरक्त तथा राजपूती शौर्य प्रवाहित था उसके लिये मार्ग की आवश्यकता थी अतएव उनके काव्य में वीर रस को शृंगार के साथ महत्व मिला।

नन्ददास के 'मंगल' तथा 'वेलि' की कथा का मूल उत्स एक ही है—भागवत। अतएव दोनों की कथा में साम्य होना आश्चर्यजनक नहीं। ऐसी स्थिति में भी दोनों ने अपने अलग अलग काव्यों की रचना करके अपनी

अद्‌भुत प्रतिभा का निदर्शन किया है। उनके इस कौशल का विचार कुछ रमणीय प्रसंगों की योजना के अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा।

वेलि अथवा मंगल की कथाओं में निम्न स्थलों पर रमणीय प्रसंग-विधान की संभावना है। (१) शिशुपाल को दी गई सूचना के विषय में सुनकर रुक्मिणी की दशा, (२) शिशुपाल के आ जाने पर रुक्मिणी की विकलता और कृष्ण की प्रतीक्षा, (३) कृष्ण को रुक्मिणी का पत्र-लेखन, (४) विप्र से रुक्मिणी का व्याकुल निवेदन, (५) विप्र द्वारा पत्र पाने पर कृष्ण की अवस्था, (६) पत्र का विषय, (७) कृष्ण का प्रस्थान, (८) विप्र का लौट कर रुक्मिणी के पास आना और सूचना देना, (९) रुक्मिणी का नखशिख, (१०) देवालय के समीप कृष्ण का दर्शन, रुक्मिणीजी तथा सेना की अवस्था, (११) युद्ध की तैयारी और ललकार तथा युद्ध, (१२) रुक्मी की पराजय तथा उसके दण्ड से रुक्मिणीजी की दशा तथा (१३) विवाह-प्रसंग। हम यहाँ दोनों कवियों के एतद्‌-विषयक प्रसंगों की तुलना की चेष्टा करेंगे।

नन्ददास के रुक्मिणी मंगल में पहले तथा दूसरे प्रसंग को लेकर वेलि से कथा-संगठन में कुछ अन्तर प्रतीत होता है। मंगल में शिशुपाल को सूचना देने पर ही रुक्मिणी की विकल दशा का चित्रण पहली बार किया गया है। तदनन्तर पत्र-लेखन, विप्र का प्रस्थान, कृष्ण-मिलन और कृष्ण का प्रस्थान, यह तीन वर्णन बीच में आ जाते हैं और तब कृष्ण को आता न देखकर रुक्मिणी एक बार पुनः विकल हो उठती है। वेलि में रुक्मिणी की प्रथम विकलता का वर्णन उस समय किया गया है जब शिशुपाल ससैन्य कुन्दनपुर में आ पहुँचता है। दो ही दिन का अन्तर शेष है कि पत्र देकर विप्र को भेजा जाता है और भगवान की अलौकिक शक्ति के द्वारा वह संध्या को चलकर भी अगले ही दिन प्रातःकाल द्वारिका पहुँच जाता है। पत्र सुनने के पश्चात् कृष्ण प्रस्थान करते हैं। इधर कुन्दनपुर में उनके आने में विलम्ब देखकर रुक्मिणी विकल हो उठती है। तब तक ब्राह्मण कृष्ण के आगमन की सूचना लेकर पहुँच जाता है। नन्ददास ने रुक्मिणी को शिशुपाल के आने तक निश्चिन्त भाव से निरपेक्ष नहीं रह जाने दिया है। शिशुपाल से विवाह निश्चित होने का समाचार सुनते ही रुक्मिणी का विकल हो जाना अधिक स्वाभाविक और सहज प्रतीत होता है। वेलिकार के द्वारा इस प्रसंग

की ऐसी योजना न करने का यह कारण प्रतीत होता है कि वह रुक्मिणी को इतना लज्जालु दिखा चुके हैं कि अब माता पिता के प्रस्ताव को पहले से जान लेना रुक्मिणी के लिये संभव नहीं लगता। किन्तु रुक्मी के तीव्र विरोध की बात सब जगह फैल जाय और स्वयं उसकी बहिन ही, जिसके जीवन से कथा का सम्बन्ध है, इस विषय में अनभिज्ञ बनी रही, यह कल्पना भी अधिक संगत नहीं कही जा सकती। निस्सन्देह इस स्थल की योजना में वेलिकार नन्ददास के सामने कल्पना में हारते दिखाई देते हैं।

वेलिकार ने पहली स्थिति का वर्णन तो किया ही नहीं है, और इस प्रकार से एक रमणीय प्रसंग को हाथ से खो दिया है, साथ ही दूसरे प्रसंग का वर्णन भी दो ही चार दोहलों में करके हाथ खींच लिया है। उन्होंने दूसरे प्रसंग को दो खण्डों में विभाजित किया है :—(१) शिशुपाल के आ जाने पर चिन्ता तथा बीच में कुछ प्रसंग लाकर तब (२) कृष्ण के न आने पर चिन्ता। शिशुपाल के आने पर रुक्मिणी की दशा का वर्णन सात्विकादि से सज्जित न होकर संकेतात्मक है और किसी प्रकार अपने उद्धार के लिये किसी पन्थी की खोज का यह अच्छा चित्र है। शिशुपाल आ चुका है। अतएव अन्यान्य नारियाँ गवाक्षों में चढ़ चढ़कर मांगलिक गान गा रही हैं, उनकी प्रसन्न दशा ऐसी है जैसे मानो शिशुपाल के सूर्यमुख को देखकर पद्मिनी नारियाँ पद्मिनी के समान खिल उठीं हों। किन्तु रुक्मिणी की दशा उस समय कुमुदिनी के समान हुई। वह कुमुदिनी के समान ही संकुचित तथा मलीन हो गई। वह कृष्ण के पास सन्देश भेजने की इच्छा से व्याकुल होकर ऊपर चढ़-चढ़कर द्वारिका जाने वाले किसी पथिक की प्रतीक्षा करने लगी कि कब कोई ऐसा व्यक्ति उस ओर से निकले और कब वह उसे सन्देश दे। इस वर्णन में रुक्मिणी की विकलता, मलीनता, चिन्ता आदि का निस्सन्देह सुन्दर वर्णन है साथ ही श्रेष्ठ नायिका रुक्मिणी का अन्य नायिकाओं से पृथकत्व भी सिद्ध है।

गावै करि करि मंगळ चढ़ि चढ़ि गौखे, मनै सूर सिसुपाळ मुख।
पदमिणि अनि फूलै परि पदमिणि, रुखमिणी कमोदिणी रुख॥ ४२॥

तथा— जाळी मगि चढ़ि चढ़ि पन्थी जोवै, भुवणि सुतन मन तसु भिळित॥ ४३॥

दूसरे प्रसंग में भी एक ही दोहले से सन्तोष कर लिया गया है :—

रहिया हरि सही जाणियौ रुषमणि, कीध न इवड़ी ढील कई।
चिन्तातुर चित इम चिन्तवती, थई छीक तिम धीर थई ॥ ७० ॥

इन वर्णनों की तुलना में नन्ददास की मौलिकता प्रशंसनीय है। उन्होंने इन प्रसंगों में अन्यान्य भावों का समावेश करके वर्णन में प्राण डाल दिये हैं। शिशुपाल से विवाह प्रस्ताव की सूचना पाते ही रुक्मिणी चित्र-लिखी सी रह जाती हैं, स्तम्भ हो जाता है। उनके मुख से तुरन्त आह निकलती है :—हाय ईश्वर यह अब क्या हो गया। स्पष्ट है कि रुक्मिणी के विश्वास को अनायास ही धक्का पहुँचा है, मर्म पर आघात हुआ है कि वह जड़ हो गई। जड़ता, सात्विक भाव का यह सुन्दर संकेत है:—

"सिसुपालहिं को देत" रुक्मिनी बात सुनी जब।
चित्र लिखी सी भई दई यह कहा भई अब ॥ ३ ॥

आश्चर्य और भय का यह सुन्दर मिलन है। इतना ही नहीं रुक्मिणी की दशा का भी साम्य के आधार पर लेखक ने अत्यन्त रंजक वर्णन किया है। रुक्मिणी आघात पाकर चारों दिशाओं में निस्सहाय मृगी के समान चकित होकर देखने लगी मानो शिशुपाल रूपी व्याध ही आ गया हो। वह ऐसी मलिन हो गई, जैसे नाल से टूटा हुआ नलिन हो। सचमुच नलिन की सी कोमलता, पद्मिनी नारी रुक्मिणी में होनी भी चाहिये ही थी। कवि ने उत्प्रेक्षा के आधार पर सुन्दर व्यंजना की है :—

चकित चहूँ दिसि चहति, बिछुरि मनु मृगी माल तें।
भयौ बदन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नाल तें ॥ ४ ॥

उनकी ऐसी दशा देखकर सखियाँ जुट गईं और रुक्मिणी को अनेक प्रश्न करके थकाने लगीं। किन्तु नागरी रुक्मिणी ने बड़ी चतुराई और सहज भाव से उत्तर दे दिया कि, हे सखियो, इस नेत्रजल का और कोई कारण नहीं केवल पुष्प-रेणु उड़कर आँख में पड़ गई है इसी से पानी बहने लगा है। अपह्नुति अलंकार के रमणीय प्रयोग के सहारे उक्ति का यह चमत्कार नन्ददास में मिले तो आश्चर्य क्या। उस कवि की तो गोपियाँ भी तार्किक हैं। फिर रुक्मिणी ने इतना कहा तो आश्चर्य ही क्या :—

अलि पूछति बलि बाल, कहौ क्यों नैननि पानी।
पुहुप-रेनु उड़ि पर्‌यो, कहत तिन सौं मधु बानी ॥ ६ ॥

नन्ददास की रुक्मिणी का उच्छ्वास तीव्र वेग से चलने लगता है, बात कहते कहते आँसू फूट निकलते हैं, मुँह की बात मुँह में ही रह जाती है। रुक्मिणी बेचारी विवश है। वह कन्या है और कन्या लज्जा, संकोच और मर्यादा के विचार से विरह दुःख का निवेदन करे तो कैसे करे, यही बड़ा भारी संकट है। वह तो घुलकर मर सकती है, पर बात मुख से फूटे तो कैसे :— 'कन्या कन्या-विरह-दुःख कों कासों कहिहै।'—यही तो सारा रोना है, यही तो विवशता है।

नन्ददास ने रुक्मिणी के हृदय की कोमलता तथा परिस्थिति की दयनीयता प्रदर्शित करने के लिये कुछ विशेष उपकरणों से काम लिया है। रुक्मिणी को अपने ताप का ज्ञान हो गया है। उसका कोमल हृदय इस बात से दुःखी हो उठता है कि कहीं उसके ताप से यह माला, जो उसने पहनी है, मुरझा न जाय। इसी सन्देह को कवि ने सरल शब्दों में इस प्रकार रखा है जिससे उस नायिका के ताप, कोमल हृदय तथा सरल और भोले व्यक्तित्व, सब बातों का एक साथ पता लग जाता है :—

मति मुरझाय सो माल बाल डरपति है या तें॥ १०॥

परिस्थिति का वैचित्र्य कुछ ऐसा है कि नायिका जिसे प्रेम करती है उससे विवाह न होकर अन्य से होना निश्चित हो गया है और उसके लिये बेचारी के हाथ में विवाह का कंगन भी अब तो बंध चुका है। जब जब कंगन की ओर दृष्टि चली जाती है हृदय विह्वल हो जाता है, पीड़ा से भर जाता है। उसके विवाह के लिये जो मंगल वाद्य बज रहे हैं वह उसकी विकलता को ही बढ़ाते हैं :—

मंगल दुंदुभि सुनें धुनें धुन जो मन माँहीं।
निरखि निरखि कर कंकन दृग जल भर आहीं॥

उद्दीपन के लिये इन वस्तुओं का साथ सचमुच प्रसंगोपयुक्त है। कवि की दृष्टि उपयुक्त स्थल पर गई है। अपने उद्धार की चिन्ता करते करते थोड़ी देर के लिये रुक्मिणी का मन माता-पिता आदि नातों तथा लोक-लाज पर आकर स्थिर हो गया। अपने को विवश पाकर दीन रुक्मिणी का हृदय इन सबके प्रति

विद्रोह कर बैठा। वह उनसे मुक्ति पाना ही उचित समझने लगी और विद्रोह का स्वर इतना प्रबल हुआ कि वह कह बैठी कि सुन्दर नन्दकुंवर की प्राप्ति में यदि मातापिता भी बाधक हों तो वे भट्टी में पड़े, जल जायें। रोष का यह स्वाभाविक चित्रण है जिसमें मर्यादा और नाते का भी ध्यान नहीं रहता। प्रेम के उत्कट होने पर ऐसी दशा सहज सम्भव ही है :—

ज्यों पिय हरि अनुसरौं सोइ अब जतन करौं हठि।
मात, तात अरु भ्रात, बन्धु-जन सबै परौ भट ॥२०॥
आगि लागि जरि जाहु लाज जौ काज बिगारै।
सुन्दर नन्दकुंवर नगधर सों अन्तर पारै॥२९॥

यह खोज का सुन्दर चित्रण भी है और 'छाँड़ि मन हरि विमुखन को संग' की घोषणा भी।

दूसरे स्थल पर किये गये वर्णन के अन्तर्गत केवल दो रोला आ सकते हैं। कृष्ण के आने में विलम्ब देखकर रुक्मिणी की विकलता का चित्र नवीन नहीं पुराना है :—

चढ़ि चढ़ि अटनि, झरोखनि झाँकत नवल किसोरी।
चन्द उदै बिनु जैसे आतुर त्रिषित चकोरी॥ ७॥

प्राचीनता के साथ साथ इस छन्द में आतुर भाव का नाम ला देना भी स्वशब्दवाच्यत्व दोष से दूषित है। अलंकार के प्रयोग की ओर यहाँ विशेष ध्यान दिया गया है, भाव की ओर कम।

भागवत में पहले स्थल पर रुक्मिणी की चिन्ता का कोई प्रसंग नहीं रखा गया है। वेलिकार ने इस विषय में भागवत का ही अनुकरण किया है, नन्द-दास न स्वतन्त्रता प्रदर्शन की सफल चेष्टा की है। भागवतकार ने रुक्मिणी को प्रतीक्षारत अवश्य दिखाया है और उसकी चिन्ता इन शब्दों में प्रकट की है कि :—"मैं यह नहीं जानती कि हरि क्यों नहीं आए और यह भी बड़ी विचित्र बात है कि सन्देश वाहक ब्राह्मण भी नहीं लौटा। मुझे तो विश्वास है कि वे अब अवश्य ही नहीं आवेंगे। मुझ दुर्भाग्य शालिनी का प्रभु ही मेरे विपरीत है।" ऐसा सोचते सोचते बालिका के नेत्रों में अश्रु छा गये।

अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः।
नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्मयत्रकारणम्॥
सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः।
अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किंचिज्जुगुप्सितम्॥
मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति ही कृतोद्यमः।
दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः॥
देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिजा सती।
एवं चिन्तयती बाला गोविन्द हृतमानसा॥
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकुलाकुले॥—अध्याय ५३, श्लोक २३–२६॥

तीसरा मार्मिक स्थल है, पत्र लेखन। वेलिकार की रुक्मिणी अत्यन्त विरहातुर है अतः उसने नख रूपी लेखनी से आँसुओं रूपी जल में काजल रूपी मसि घोलकर ही पत्र लिख दिया है। भागवतकार ने पत्र भिजवाया ही नहीं है, किन्तु नन्ददास के मंगल में पत्र-लेखन का वर्णन आया है। दोनों को यह कल्पना कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल से मिली प्रतीत होती है किन्तु लेखन का ढंग अपना अपना ही है। नन्ददास की रुक्मिणी जी ने अधिक कुशलता से काम लेते हुए आँसुओं से अपना चीर भिगोकर अपनी दशा का चित्र चित्रित करके विचित्र पत्र भेजा है:—

इहि बिधि धरि मन धीर, चीर अँसुवन सिराय कै।
लिख्यो पत्र सु विचित्र, चित्र रुक्मिणी बनाय कै॥ २४॥

निश्चय ही यह नवीन ढंग का पत्र है। नन्ददास की चतुरा रुक्मिणी की चतुराई प्रकट हुए बिना नहीं रहती और वेलिकार की भोली रुक्मिणी अपनी लज्जा में ही संकुचित हो जाती है। हृदय की बात को सीधे कह सकती है, उसे मार्मिक बनाने के लिये चित्ररचना नहीं करती। वेलि की रुक्मिणी भावुक अधिक है, नन्ददास की रुक्मिणी कलाकुशल है।

चौथा स्थल है—विप्र से रुक्मिणी का व्याकुल निवेदन। भागवतकार ने इस प्रश्न को ही नहीं उठने दिया। उसकी रुक्मिणी के पास इतना समय नहीं कि एक क्षण के लिये भी उसे रोककर अपना रोना रो सके। वेलि की रुक्मिणी इस स्थल पर अत्यन्त आतुर, भावावेशमयी और चंचल हो गई है।

आतुरतावश वह विप्र को तीन तीन सम्बोधनों से एक ही बार में सम्बोधित कर जाती है, हठ पकड़ती आग्रह करती और मानो प्रार्थना के रूप में ही आज्ञा भी करती है कि वह अविलम्ब द्वारिका जा पहुँचे।—

देहि सँदेस लगि दुवारिका, वीर, वटाऊ, ब्राह्मण ॥ ४४ ॥

तथा— म म करिसि ढील हिव हुए हेकमन, जाइ जादवाँ इन्द्र जत्र।
माहरै मुख हुँता ताहरै मुखि, पग वन्दण करि देइ पत्र ॥ ४५ ॥

किन्तु नन्ददास की रुक्मिणी में यहाँ किसी आतुरता का प्रदर्शन नहीं मिलता। वह बड़े सन्तोष से ब्राह्मण को समझाती हुई दिखाई देती है। यहाँ भी रुक्मिणी की चातुरी छिपाये नहीं छिपती और वह सशंक नीतिज्ञ की भाँति ब्राह्मण को समझाने लगती है कि वह इस विषय म किसी अन्य का विश्वास न करे:—

काहू नाहिं-पतीजो, बलि बलि एती कीजो ॥ २६ ॥

पाँचवाँ स्थल है:—विप्र द्वारा पत्र पाने पर कृष्ण की अवस्था का वर्णन। भागवतकार ने पत्र द्वारा सन्देश न भेजकर मौखिक सन्देश भिजवाया है जिसके सुनने पर कृष्ण स्वाभाविक प्रसन्नता से प्रमुदित होकर कहते हैं कि वे भी रुक्मिणी के ध्यान में मग्न हो रात्रि भर नहीं सोए हैं। उन्हें रुक्मी द्वारा किए गए अपने विरोध का भी पता है। रुक्मिणी के लाने के लिये अनेक नीच राजाओं का संहार करना होगा और अपने में अनुरक्त यज्ञ की अग्नि-शिखा के समान प्रोज्वल तथा निष्कलुष अनवद्यांगी रुक्मिणी का उद्धार करना होगा। ऐसा निश्चय करके वह तुरन्त ही दारुक से रथ जुड़वाकर ब्राह्मण को साथ ले एक ही रात में आनर्त देश से विदर्भ पहुँच गये।—

वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य रघुनन्दनः।
प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥
तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः ॥ २ ॥
तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान्मृधे।
मत्परामनवद्यांगीमेधसोऽग्निशिखामिव ॥ ३ ॥
उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः।
रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम् ॥ ४ ॥

स चाश्वैः शैव्य सुग्रीवमेघपुष्प बलाहकैः।
युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्रांजलिरग्रतः॥ ५॥
आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः।
आनर्तादिकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः॥ ६॥—अध्याय ५३।

वेलिकार ने इस स्थल पर अधिक भावुकता से काम लिया है। पत्र को देखकर उनके कृष्ण आनन्दित हो गये, सचमुच अपनी प्रिया से आया हुआ पत्र आनन्द का ही विषय था। आनन्द के अतिरेक से रोमांच तथा अश्रु जैसे सात्विकों के साथ साथ स्वर-भंग का लक्षण उत्पन्न हो जाने से पत्र का पढ़ना भी असम्भव हो गया अतः पत्र विप्र को ही दे दिया कि वही पढ़ें।—

आणन्द लखण रोमांचित आँसू, वाचत गद्गद् कँठ न बणै।
कागळ करि दीधौ करुणाकरि, तिणि तिणि हीज ब्राहमण तणै॥ ५७॥

निस्सन्देह करुणाकर भगवान का द्रवित हो जाना ही आवश्यक था। यही कारण है कि वे पत्र सुनते ही ब्राह्मण को ले चल पड़े। उन्होंने स्वयं सवेग रथ चलाया और कुन्दनपुर में आते ही ब्राह्मण को तुरन्त रुक्मिणी के सन्तोष के लिये अपने आगमन का सन्देश देने भेजा। देखिये ६७ से ६९ तक दोले। वेलिकार की रुक्मिणी जितनी सरल और भोली है वैसे ही सरल चित्त और रक्षक भाव वाले अनन्य प्रेमी उसके प्रेमी कृष्ण भी हैं।

नन्ददास ने इस प्रसंग का पूरा लाभ उठाते हुए विस्तार से वर्णन किया है। मुद्रित पत्र की मुद्रा खोल कर पत्र पढ़ने का प्रयत्न करते ही परम प्रेम के कारण अक्षरों का पढ़ना ही कठिन हो गया और कृष्ण अपने वक्षस्थल से पत्र लगा लगाकर अपने को शान्ति देने लग। उन्हें अनुभव हुआ कि विरह-ताप-तप्त हाथों से लिखी जाने के कारण यह पत्री आज भी गर्म है, ताज़ी है। कृष्ण की प्रेमानुभूति और कवि का वाक्चातुर्य सराहनीय है :—

श्री हरि हियो सिरावत लावत लै लै छाती।
लिखी विरह के हाथ, सुपाती अजहूँ ताती॥५४॥

इसी क्रिया में प्रिया के अश्रुजल से भींगी हुई पाती अब प्रिय के अश्रुजल से भी भींग गई। आखिर देह से पहले भाव और अश्रु के सहारे ही मिलन हो गया :—

रुकमिनि अंसुवनि भीनी पुनि हरि अंसुवनि भीनी ।।५५।।

विप्र के पत्र पढ़ने पर तो कृष्ण की दशा ही और कुछ हो गई। उनकी समस्त इन्द्रियाँ एकाग्र होकर कान तक खिची चली आईं। कृष्ण मुग्ध भाव से पत्र सुनने लगे :—

तब हरि के मन नैन सिमिटि सब श्रवनन आये ।। ५६ ।।

रुक्मिणी का पत्र सुनकर कृष्ण ने एकबार पुनः उसे छाती से लगाया और सारथी से रथ मंगाकर रुक्मी पर खीज कर तुरन्त चल पड़े कि हड़बड़ाहट में—आवेग में—पीताम्बर ही खिसक गया जिसे द्विज ने संभाल कर उन्हें दिया। पीताम्बर का आवेग के कारण गिर जाना कितना स्वाभाविक है :—

तुरत चढ़े छबि बढ़े चढ़त बानक बनि आयौ।
हरबर में खसि पर्‍यौ पीत-पट द्विज पकरायौ ।। ७२ ।।

शब्द भी कितने वेग से भाग रहे हैं, जैसे कृष्ण की आवेग अनुभूति उनमें भी आ गई हो। कृष्ण वहाँ से मन की गति से रथ दौड़ाते हुए आए :—मन की सी गति करें चले कुण्डिनपुर आये। परन्तु यहाँ मन के समान कहकर भी वह रूप मूर्त नहीं हुआ जिसमें पृथ्वीराज को निम्न पंक्तियों में सफलता मिली :—

खँति लागौ त्रिभुवनपति खेड़ै, धर गिरि पुर साम्हा धावन्ति ।।६८।।

वेलि के इस वर्णन में रथ–वेग के कारण पर्वत, नगर, आदि का दौड़ते हुए प्रतीत होना निरीक्षण की सूचना देता ह, कल्पना की नहीं। इस स्थल पर शाकुन्तल का स्मरण आता है।

छठी और सातवीं बात हैं क्रमशः पत्र का विषय तथा कृष्ण का प्रस्थान। प्रस्थान का वर्णन तो अभी इसी प्रसंग के साथ आ गया है, पत्र के विषय पर विचार कर लिया जाय। भागवत में ब्राह्मण, लीला के लिये देह धारण किये हुए कृष्ण से, सब कुछ अगोप्य भाव से बताता हुआ कहता है, पत्र नहीं देता, कि रुक्मिणी का सन्देश यह है कि "प्रभो, मेरा मन आपमें अनुरक्त है, हे अम्बुजाक्ष, मृगपति की बलि के सदृश वीरों के ही उपयुक्त पात्र की भाँति आप चैद्यादि शत्रुओं से मेरी रक्षा करें। मेरा विवाह परसों हो जाने वाला है अतएव यदि आपने दमघोष के पुत्र शिशुपाल से मेरी रक्षा करके मेरा पाणिग्रहण कर लिया तो मेरी इच्छा सफल होगी। आप गुप्त भाव से आकर चैद्य मगधादि नरेशों के सैन्यबल को नष्ट करके मुझसे राक्षस विधि से विवाह कर ल। मैं भी

पहले दिन कुलदेवि की यात्रा के लिये जाऊँगी। और यदि आपका प्रसाद प्राप्त न हो सका तो व्रत से कृश हुए इन प्राणों को त्याग दूँगी।"—

एवं संवृष्टसंप्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना।
लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥३६॥
तन्मे भवान्खलु वृतः पतिरंग जायामात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विधेहि।
मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्षम् ॥३९॥
पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्रगुर्वर्चनादिभिरलं भगवान्परेशः।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये ॥४०॥
श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान् गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम् ॥४१॥
अन्तःपुरचरीमनिहत्य बन्धूंस्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम्।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात् ॥ ४२ ॥
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून्व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात् ॥४३॥ अ. ५३

नन्ददास की रुक्मिणी के पत्र में रुक्मिणी जी ने पहले अपना परिचय देकर यह बताया है कि किस प्रकार नारद जी से कृष्ण का गुणगान सुनकर रुक्मिणी को उनके प्रति अनुराग हो गया है। इसके अनन्तर रुक्मी की हठ और शिशुपाल के निमन्त्रण की चर्चा करके अन्त में अपनी यह प्रतिज्ञा भी सूचित कर दी है कि :—

जो नगधर नन्दलाल मोहिं नहिं करिहो दासी।
तो पावक परजरिहौं बरिहौं तन तिनका सी ॥ ६९ ॥

इस पत्र की यह नवीनता है कि क्षुब्ध रुक्मिणी पत्र में भी अपना क्षोभ प्रकट किये बिना नहीं चूकती। कह ही देती हैं :—

देखत के सब गोरे नव नव पानिय धोरे।
हार काजु नहिं आवै जैसे उज्जल ओरे ॥६४॥

कैसी सुन्दर रोष भरी उक्ति और साम्य की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है। माता पिता तथा अपने सगे भाई को ही अपने विरुद्ध जाते देखकर किसे इस बात की सत्यता में सन्देह रह जायगा। पत्र में रुक्मी को शिशुपाल के साथ

साथ शठ भी कहा गया है जिससे रुक्मिणी की खीज ही व्यक्त होती है। पुनः रुक्मिणी कृष्ण को उत्तेजित करने के लिये कभी तो उदाहरण दे देकर दया करने के लिये प्रार्थना करती है और कभी शिशुपाल रूपी शृगाल से बचाने की, भागवत की रुक्मिणी के समान ही प्रार्थना करती है और अपना दृढ़ निश्चय सुना देती है।

वेलिकार की रुक्मिणी प्रार्थना की ऐसी भावधारा में बह जाती है कि कभी अपनी दीनता प्रदर्शित करती हुई अपनी तुलना गौ से करती है, कभी भागवतकार के समान ही कहती है :—

बळिबन्धण मूझ स्याळ सिंघ बळि, प्रासै जो बीजौ परणै।
कपिळ धेनु दिन पात्र कसाई तुळसी करि चाण्डाळ तणै ॥५९॥

कभी शत्रुदल को म्लेच्छ और अपने को शालिग्राम के समान बताने लगती है। कभी भगवान के अनेक अवतारों की चर्चा करके उनसे अपने जन्मान्तर का सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए इस बार भी अपनी रक्षा की प्रार्थना करती है। रुक्मिणी एक भक्त के समान अपनी आर्त्त पुकार ही मानो कृष्ण-भगवान के पास भेज रही है। अन्त में भागवतकार का अनुकरण करते हुए यह भी प्रकट कर दिया गया है कि जब वह पूजन के बहाने अम्बिकालय जायगी तभी ससैन्य आकर कृष्ण उसे ग्रहण कर लें। लज्जालु रुक्मिणी प्रार्थना करने में भी संकुचित हो रही है किन्तु प्रेमातुरता तथा स्त्री-स्वभाव की सरलता के कारण पत्र लिखे बिना भी काम नहीं चल रहा है। उसने क्या लिखा है कुछ पता नहीं, अतएव जो कुछ भी लिखा है वह मानो बिना सोचे समझे प्रेम-प्रवाह में बह कर लिख दिया है। उस पर ध्यान न देकर प्रियतम कृष्ण तुरन्त आवें यही प्रार्थना है।—

तथापि रहे न हूँ सकूँ बकूँ तिणि; त्रिया अनै प्रेम आतुरी।
राजा दूरि द्वारिका विराजौ दिन नेड़उ आइयौ दुरी ॥६५॥

प्रस्तुत प्रसंग की रमणीयता में वेलिकार को न तो नन्ददास ही पहुँच सके हैं और न भागवतकार ही।

आठवाँ प्रसंग है विप्र का रुक्मिणी के पास लौटना। भागवत में इस प्रसंग का वर्णन इस प्रकार दिया है :—चिन्तित रुक्मिणी ने अश्रु भरकर नेत्रों को

बन्द कर लिया। तभी शुभ शकुन के सूचक चिह्न उदित हुए और इतने में ही कृष्ण से मिलकर लौटता हुआ ब्राह्मण भी दिखाई दिया। उस ब्राह्मण को प्रहृष्ट वदन, अव्यग्र, तथा आत्मस्थित अर्थात् स्वाभाविक शान्ति से युक्त देखकर लक्षणाभिज्ञ रुक्मिणी शुचि स्मित के साथ उससे प्रश्न करने लगीं। कृष्ण को आया जानकर रुक्मिणी ने ब्राह्मण के बहाने प्रिय को प्रणाम किया।

सा तं प्रहृष्टवदनमव्यग्रात्मगतिं सती।
आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता ॥२९॥
तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा।
न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥३१॥ अ० ५३

नन्ददास की रुक्मिणी को भी विकलता में शकुन से ही शान्ति मिली। अन्य शकुनों के साथ एक और भी शकुन हुआ कि :—कंचुकि बंध तरकन लगे। प्रेम की यह उमंग केवल नन्ददास की ही सूझ है, इसका वर्णन वेलिकार ने भी नहीं किया है। नन्ददास की रुक्मिणी भी ब्राह्मण को प्रसन्न देखकर धैर्य धारण करती है, मुख फिर डहडहा आता है। किन्तु साथ ही लाज और संकोच से कहीं अधिक आशंका ने उसे ऐसा धर दबाया कि पूछने की इच्छा होने पर भी न पूछ सकी :—

पूँछि न सक मुख बात, दई, यह कहा कहैगो।
कै अमृत सों सींच, किधौं विष देह दहैगो ॥८०॥

सोच सोचकर उसके प्राण ही निकलने को हो गये और कृष्ण के आगमन की सूचना पाकर ही फिर प्राणवत्ता का अनुभव हो सका। तब लक्ष्मी-स्वरूपा रुक्मिणी ने उठकर ब्राह्मण के पैर छुए, भागवत की रुक्मिणी के समान नहीं बल्कि पूर्ण श्रद्धा पूर्वक। यह देखकर कवि का कथन है कि लक्ष्मी ही जिसके पैर छू रही हो उसे फिर किस बात की कमी है।—

सुर, नर जाकों सेवत सेवतहूँ नहि लहियै। सो लक्ष्मी जिहि पाय परत ताकी का कहिये ॥

वेलिकार इन सब से आगे बढ़े हुए हैं। उनका वर्णन एक सजीव चित्र है। भावों का जितना सुखद प्रकाशन वेलिकार ने किया है, वह इन दोनों में नहीं। रुक्मिणी को धैर्य तो एक छींक हो जाने मात्र से हो जाता है, न वाम बाहु फड़कती है और न उरु। न कंचुकि के बन्ध टूटते हैं। कारण स्पष्ट है:

वेलि की रुक्मिणी कृष्ण के शरीर पर मोहित नहीं, उनके गुणों पर रीझी है तथा जन्मान्तर से उसका सम्बन्ध है। अतएव उसमें मिलनातुरता शरीर सुख के लिये नहीं, रक्षा के लिये है। उसका शरीर विप्र को देखते ही पीपल के पत्ते की भाँति काँपने लगता है, वह अस्थिर हो जाती है। कम्प सात्विक का यह सुन्दर संकेत है। पूछने न पूछने का शंका तथा लज्जा का भाव इस रुक्मिणी में भी है। किन्तु विप्र को आते देखकर उसकी चिन्ता का जितना सुन्दर चित्र निम्न पंक्तियों; जिनसे उसकी आशा, निराशा, आशंका, उत्सुकता आदि का एक ही साथ पता लगता है; में अंकित किया गया है वह अपने सौन्दर्य में अनुपमेय है, अनन्य है।—

चळपत्र पत्र थियौ दुज देखे चित, सकै न रहति न पूछि सकन्ति।
औ आवै जिम जिम आसन्नौ, तिम तिम मुख धारणा तकन्ति ॥७१॥

वेलिकार ने ब्राह्मण की चतुराई तथा रुक्मिणी की लज्जा दिखाने के विचार से वहाँ उपस्थित सखियों का वर्णन करके बड़े कौशल से काम लिया है। ब्राह्मण ने सन्देश भी दिया किन्तु कुशल सन्देश वाहक के समान, अपना नाम न लेकर जनता की ओर से सुनी हुई बात के रूप में।—'किसन पधान्या लोक कहन्ति।' कहकर सूचना दी। पृथ्वीराज जैसे राजपरिषद् के नियमों से पूर्ण परिचित व्यक्ति के लिये इस प्रकार की युक्ति अनुभव मात्र है। काव्य में उससे रमणीयता को सहायता मिली है। वेलिकार भी रुक्मिणी द्वारा विप्र के चरणों की पूजा का नन्ददास के समान ही वर्णन करता है। किन्तु उसका सौन्दर्य इस बात में है कि उसने एक ही दोहले में भागवत का भाव भी समाहित कर लिया है। उदाहरणतः देखिये दोहला ७३।

९ तथा ११ प्रसंगों की चर्चा हम अन्यत्र प्रसंगानुसार करेंगे। शेष का विचार यहाँ कर लिया जाय। १० वाँ स्थल देवालय के समीप कृष्ण का दर्शन है। भागवतकार ने इसका अत्यन्त रोचक वर्णन किया है, जो इस प्रकार है :— वह रुक्मिणी मुनिव्रत को त्यागकर अम्बिकालय से निकली। उस समय वह देवमाया के समान लग रही थी। उसका आनन कुण्डल से मण्डित था। वह श्यामा कटि-मेखला पहने, शंकित नेत्रों से देखती चल रही थी। स्मित अत्यन्त शुभ्र और अधर बिम्बा के समान थे। जिनकी आभा

में कुन्दकली के समान शुभ्र दन्त शोणायमान से प्रतीत होते थे। उस कलहंसगामिनी को आता देख वीर मोह ग्रस्त हो गये। उसके उदार हास तथा व्रीडा को देखकर वीर राजाओं ने हृतचेत होकर अपने अस्त्र-शस्त्रों को भी हाथ से छोड़ दिया। वह यात्रा के बहाने अपनी शोभा को कृष्ण को अर्पण करती हुई जब रथ पर चढ़ने लगी तभी कृष्ण ने उसका हरण कर लिया :—

शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युतिं शोणायमानद्विजकुन्दकुड्मलाम्।
पदा चलन्तीं कलहंस- गामिनीं सिंजत्कलानूपुरधामशोभिना॥
विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः॥५२॥
यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहासव्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः।
पेतुःक्षितौ गजरथाश्वगता विमूढ़ा यात्राच्छलेन हरयेंपयतीं स्वशोभाम्॥५३॥

अध्याय ५३।

नन्ददास ने इस प्रसंग का वर्णन १३ रोला छन्दों में किया है। उनकी रुक्मिणी देवी से वर पाकर सखियों के कहने पर भी धीरे धीरे चलती है। कवि ने उसके चलने तथा अवनि पर प्रतिबिम्बित उसकी शोभा का उपमा तथा उत्प्रेक्षा से युक्त मोहक वर्णन किया है। उसे देखकर समस्त नरपति डरते हैं, किन्तु दुलहिन स्वयं तनिक भी भयभीत नहीं है। जानती है प्रियतम आए हैं, रक्षा करेंगे ही :—

निरखत नरपति सगरे डरपत नेंकु न दुलही।

उसने जो घूंघट डाल रखा था अब वह भी उठा दिया, मानो चन्द्रमा प्रकाशित हो उठा। कवि ने यहाँ मुख, दन्तादि का अलंकृत वर्णन किया है। उसे देखते ही :—

परे जहाँ तहँ मुरझि भूप सब उरझि उरेझा।
पंच सरन छिद डारि किए मनमथ को बेझा॥११४॥

इसी क्षण कृष्ण रुक्मिणी को दिखाई दिये और ऐसी विकल हुई कि :—

अरबराय मुरझाय कछू न बसाय तिया पैं।
पंख नाहिं तन बने, नतरु उड़ि जायं पिया पैं॥११६॥

धीरे धीरे रुक्मिणी रथ के समीप आई कि रुक्मिणी को कृष्ण ने ऐसे रथ में ले लिया जैसे घनश्याम के मध्य विद्युत छिप गई हो। बिछुड़ी हुई बिजली पुनः मेघ में समा गई हो।

वेलिकार ने इस स्थल पर रुक्मिणी के सौन्दर्य का बड़ा ही व्यंजना पूर्ण वर्णन करके लाघव से काम लिया है :—

आकरषण वसीकरण उनमादक, परठि द्रविण सोखण सर पंच।
चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि, सुन्दरि द्वार देहरा संच ॥१०९॥

कहकर कवि ने एक साथ समस्त अंगों की सौन्दर्य-महिमा तथा उनके मारक प्रभाव का संकेतात्मक वर्णन कर दिया है। ऐसे शरीर वाली रुक्मिणी को देखकर सारी सेना मूर्च्छित हो जाती है। वेलिकार ने उनकी मोहजन्य जड़ता का भी सुन्दर वर्णन किया है जिस तक भागवतकार अथवा नन्ददास की दृष्टि नहीं गई। उसकी उक्ति है :—किरि नीपायौ तदि निकुटी ए, मठ पूतळी पाखाण मैं ॥११०॥ वेलि के १०९ दोहले में जो सौन्दर्य और कवि-कौशल है उसकी समता में नन्ददास का ११४ वाँ रोला फीका उतरता है।

रुक्मी की पराजय और उसके दण्ड के कारण रुक्मिणी की दशा १२वाँ स्थल है। भागवत में बताया गया है कि कृष्ण को रुक्मी की हत्या के लिये उद्यत देखकर रुक्मिणी उनके चरण पकड़कर अपने भाई की रक्षा के लिये अनेक प्रकार से प्रार्थना करने लगी। त्रास के कारण उसके अंग काँपने लगे, शोक के कारण मुख सूख गया, कण्ठ रुद्ध हो गया, रुक्मिणी कातर हो उठी। उसे ऐसा देखकर कृष्ण ने रुक्मी को वस्त्र से बाँधकर उसके श्मश्रु तथा केश उतार कर उसे विरूप कर दिया। उसी समय बलराम ने रुक्मी को हतप्राय विरूप अवस्था में देखकर कृष्ण को इस कार्य के लिये समझाया कि यह उचित नहीं हुआ और यहीं एक लम्बा भाषण बन्धु-बान्धवों के अनादर न करने तथा क्षत्रिय धर्म के स्वरूप पर दे दिया। भागवत के इस वर्णन में केवल रुक्मिणी की अवस्था का वर्णन ही काव्य की दृष्टि से कथनीय है।—

तया परित्रास विकम्पितांगया शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया।
कातर्य विस्रंसितहेममालया गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत ॥३४॥अ.५४।

नन्ददास का इस सम्बन्ध का वर्णन नगण्य तथा भागवत के अपूर्ण भावग्रहण

का नमूना है। यहाँ रुक्मिणी के भय तथा त्रास आदि की तो भूलकर भी चर्चा नहीं आयी है। कृष्ण ने अपनी इच्छा से ही पहली ही बार में रुक्मी का मुण्डन करके उसे शतचोटी बना दिया। रुक्मी के आक्रमण के साम्य की कल्पना एकदम भागवत से ली गई है।—

इमि कहि रिस भरि धायौ हरि पै आयौ ऐसे।
दुरबल अंग पतंग प्रबल पावक पर जैसे॥१२८॥

यह भागवत के—कृष्णमभ्यद्रवत्क्रुद्धः पतंग इव पावकम्।—पंक्ति का ही भाषानुवाद है।

१३वाँ प्रसंग विवाह का प्रसंग है, जिसके वर्णन का श्रेय एकमात्र वेलि को ही है। भागवत तथा रुक्मिणी-मंगल दोनों ही इस क्षेत्र से दूर हैं। इस प्रसंग का माधुर्य वेलि का प्राण है। शृंगार का यह ग्रंथ वेलि इसी वर्णन पर जीवित है। इसके अतिरिक्त, षट् ऋतु-वर्णन, सखियों का हास-परिहास तथा कथा के पूर्व-भाग में सद्यस्नाता का चित्र, द्वारिका का वर्णन, वयःसन्धि, रुक्मी का रोष, रुक्मिणी की देवालय जाने के पूर्व सज्जा, आदि अन्य कई प्रसंग हैं जिनका संयोजन वेलिकार ने बड़ी सफलता से किया है। वेलिकार के वर्णन अनूठे हैं, उनका प्रसंग-निर्वाह भी सजीव तथा अधिकतर मौलिक एवं सरस है। राजकुल में उत्पन्न पृथ्वीराज का मन अधिकतर शृंगार और साज-सज्जा के विस्तृत वर्णन करने की ओर गया है। रुक्मिणी सम्बन्धी इन वर्णनों में से द्वितीय का तो उन्होंने बहुत ही लम्बा वर्णन किया है। साधारण पाठक उस वैभव की चमक से चौंधिया जायगा। इस प्रकार के शृंगार का वर्णन राजकुलोत्पन्न, वैभव में पले हुए महाराज पृथ्वीराज के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं था। उस वर्णन से, अन्य वर्णनों के ही समान, लेखक की सूक्ष्म-निरीक्षणकारिणी प्रतिभा का परिचय मिलता है। रुक्मिणी की सज्जा एक राजपुत्री के सर्वथा उपयुक्त ही कराई गई है। ऐसे वर्णनों का उक्त दोनों काव्यों में अभाव है। तात्पर्य यह कि पृथ्वीराज जहाँ भी हो सका है कथा-निर्वाह में भी अपना कौशल और अपनी मौलिकता दिखाने से नहीं चूके हैं, और उन्हें सफलता भी पूर्ण मिली है।

नरहरि कृत रुक्मिणी-मंगल

पृथ्वीराज के समकालीन तथा अकबर के ही दरबारी कवि नरहरि का भी एक रुक्मिणी मंगल उपलब्ध होता है। यह रचना अभी तक अप्रकाशित थी किन्तु काशीराज पुस्तकालय की प्रतिलिपि के आधार पर श्रीयुत डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल ने अपने निबन्ध—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—में इसे उद्धृत किया है। हम उसीके आधार पर यहाँ उक्त ग्रंथ पर विचार करेंगे।

रुक्मिणी-मंगल १५ पृष्ठों की बहुत छोटी रचना है। पहले दो छन्दों में गणपति, गौरि तथा शारदा की विनती की गई है। इन दो छन्दों के पश्चात् ही कथा का आरम्भ होता है। कथा इस प्रकार है।—

कुन्दनपुर में राजा भीष्मराय निवास करते थे जिनकी रुक्मिणी नामक एक पुत्री थी। उसके विवाह योग्य हो जाने के कारण राजा ने रुक्म को बुलाया और आपसी मित्रों, कुटुम्बियों आदि को बैठाकर विवाह के लिये मन्त्रणा की।—

लोग कुटुंब बैठाइ तो मन्त्र विचारिआ।

रुक्म ने दैत्य वंश में उत्पन्न शिशुपाल से विवाह के लिये हठ करते हुए कृष्ण की अत्यधिक निन्दा की। शिशुपाल से विवाह का निश्चय करके उसने लग्न भेजते हुए उसे दलबल सहित आने का निमन्त्रण दिया। इधर तैयारी होने लगी किन्तु माता-पिता तथा साधु-सज्जन दुखी थे। उन लोगों ने रुक्म को समझाने की व्यर्थ ही चेष्टा की। दमघोष ने लग्न पाकर राजाओं को बारात के लिये न्योता दे दिया। जरासन्धादि भूप जो कृष्ण से दैत्यकुल का नाश करने के कारण विरोध रखते थे, अपनी अपनी सेना सजाकर कुन्दनपुर आए। उन्हें आया देख रुक्म को अत्यन्त हर्ष हुआ। उसने स्वागतार्थ हाट बाट आदि की सज्जा की। दलबल तथा अपने चारों भाइयों के साथ स्वागत के लिये भी गया। सूचना पाकर बेचारी रुक्मिणी छिप कर रोने लगी—

राजकुअंरि शुकुमारि शो दुरि दुरि रोवइ। लाज न काहुनि कहे शो जन वीगोवइ॥

अत्यन्त दुखी होती और मनौती आदि मनाती हुई रुक्मिणी को एक उपाय सूझा और उसने एकान्त में विप्र को बुला कर कृष्ण के लिये मुद्रित पाती दी—

बैठि एकान्तहि रुकुमिनि विप्र बोलऐउ। देवन मान निहोर शंदेश बुझाऐउ॥
जदुपति कह कर मुदरी पाती दीन्हेउ। शजल नऐन पगु लागि शो विनती कीन्हेउ॥

पत्र लेकर विप्र सीधा द्वारिका पहुँचा। उसके अन्दर जाने से पूर्व ही पत्र यदुपति ने पढ़ लिया है, तभी उसे अन्दर जाने की आज्ञा मिल पाई।—

कुन्दनपुर शो विप्र लिखा लै आएउ। शुनि पाती तब जदुपति निकट बुलाऐउ॥

यहाँ पत्र उद्धृत किया गया है। पत्र लम्बा है पूर्व जन्म के साथ का संकेत भी दिया गया है और भागवत से प्रभावित होकर वही उपमाएँ भी रखी गई हैं। यथा,—

हरखि सिंह बलि आपनि लेइ शिधावहु। अथवा—
गाइ गहत हैं बाघ शो आनि छड़ावहु।

साथ ही यह भी निवेदन किया गया है कि कृष्ण रहते शिशुपाल जैसा असुर उसे व्याहे यह तो उचित नहीं। इस समय आर्त होने के कारण लाज छोड़कर ही रुक्मिणी को यह सब कहना पड़ा है:—

लाज छाड़ि एहि शंकट विप्र पठाएउ।

इस शिशुपाल को न केवल रुक्मिणी ही नहीं चाहती बल्कि सभी पुरपरिजन इस बात से विकल हो रो रहे हैं कि शिशुपाल से उसका विवाह क्यों किया जा रहा है।—

इह बात शुनि सब नगर रोवै, अशुर काहु न भावई।

पत्र में यह भी सूचना दी गई है कि विवाह की तिथि के तीन ही दिन रह गये हैं। उस दिन वह नगर के बाहर गौरि पूजन के लिये जायँगीं तभी उनका हरण कर लिया जाय और यदि पत्र में किसी प्रकार की धृष्टता हो गई हो तो कृष्ण बुरा न मानें। थोड़े में लिखे को ही बहुत जाने।—

मैं जो ढिठाई कीन्ह शो विलग न मानवा। हरि थोरे में लिखा बहुत करि जानवा॥

कृष्ण पत्र पढ़कर मुस्कुराए। उन्हें अपने रामावतार तथा सीता की सुधि आई। वे तुरन्त चल पड़े। इधर रुक्मिणी चिन्तित हो ही रही थी कि शुभ शकुन हुए, वाम आँख फड़की और विप्र को देखा। वह पूछने की इच्छा करते हुए

भी नहीं पूछ पा रही थी, विप्र का मुख देखती रही और हृदय में सोचती रही कि यदुनाथ कहाँ रह गये।—

चीते रही द्विज को मुख पुछन न पारही। कहाँ रहे जदुनाथ शो हृदै विचारही॥

वह हृदय में विचारती, विप्र का मुख निहारती और मन ही मन सकुच रही थी। उसे यही शंका हो रही थी कि विप्र अब क्या कहेगा। द्विज ने सैन से बताया कि वह सुन्दर पति को प्राप्त करके सुख प्राप्त करेगी। इस सूचना से रुक्मिणी इतनी प्रसन्न हो उठी मानों रत्न ही मिल गया अथवा साक्षात् कृष्ण से ही भेंट हो गई।—

हिय विचारे मुख निहारे शकुचि मन ही मै रहै।
दुख शुख मिलन विओग अब दुहु विप्र मोशो का कहै।
दिज कहा शैन बुझाय सुन्दर पाइ पति शुख पाइया।
जनु रंग पाऐउ रतन रुकुमनि प्रगट जदुपति आइया।

कृष्ण को आया जानकर नागरिकों तथा स्वयं भीष्मक ने उनका स्वागत किया। भीष्मक ने उनके सम्मुख माथा नवाते हुए, हाथ जोड़कर रुक्मिणी के उद्धार की उनसे प्रार्थना की। इससे हरि को अत्यन्त सन्तोष हुआ।—

"आएउ भीखम निकट शो माथ नवाइया॥
रहेउ दोउकर जोरि चरन चित दीन्हेउ।
मोर जन्म हरि आहू कीतारथ कीन्हेउ॥
रुकुमहि दुख न लाइ सो हरि परितोखउ।
कहेउ मरम सब भेद गोविन्दहि तोखेउ॥
हरि पुनि कीन्ह संतोख बहुत शुख मानेउ।
जरासंध शिशुपाल काल वश जानेउ॥"

कृष्ण को आया जानकर जहाँ नागरिकों को प्रसन्नता हुई, वहाँ असुर समूह के मध्य खलबली मच गई। उन्हें नींद भी न आई। प्रातःकाल शिशुपाल आदि ने मिलकर इस बात पर विचार किया कि कृष्ण बिना ही बुलाये क्यों आए हैं। जरासंध ने स्पष्ट रूप में समझाया कि उनका आना रुक्म के लिये अत्यन्त अनिष्टकारक है। किन्तु रुक्म अपनी ही हठ पर अड़ा रहा और कृष्ण को पराजित करने की डींग मारता रहा। जरासंध ने रुक्म को बढ़कर न बोलने

और हठ छोड़ने के लिये कहा। उसने दृढ़ता पूर्वक कहा कि निश्चित रूप से कृष्ण रुक्मिणी का हरण कर ले जायेंगे :—

रेखा खांचि कहत हों हरि लै जाइहै।

रुक्म सभा छोड़कर घर आया और सेना को सजने की आज्ञा दी। हाटबाट में दोहाई फेर दी गई। गौरी का मण्डप घेरने की आज्ञा भी प्रचारित कर दी गई। तब रुक्मिणी सेना की रक्षा में गौरी पूजन के निमित्त गईं। उस समय अनेक वाद्य बजे, देवताओं ने पुष्पवृष्टि की। एक सखी ने शिशुपाल का नाम लेकर रुक्मिणी को चिढ़ाया भी। गौरी के पूजन करते समय रुक्मिणी ने कृष्ण की उपलब्धि की प्रार्थना की, जिससे प्रसन्न होकर गौरी ने विहँस कर उत्तर दिया कि उसे कृष्ण की वर रूप में प्राप्ति होगी, तथा असुर कुल का नाश भी हो जायगा। रुक्मिणी पूजन के अनन्तर सखियों सहित बाहर आकर कृष्ण के लिये चकित हो इधर उधर देखने लगी। कृष्ण को न देख कर वह धीरे धीरे चलने लगी। तभी कृष्ण ने आकर उसकी बाँह पकड़कर रथ में बैठा लिया, मानो यदुपति को त्रिभुवन की शोभा ही प्राप्त हो गई हो। रुक्मिणी का हरण होते देख सैनिकों तथा अन्य दर्शकों की गति का वर्णन लेखक ने इन शब्दों में किया है :—

पायो जो शोभ शंतोख मन माह अतिहि शब देखहि खरी।
जनु जुथ जंबुक मध्य नरहरि शिध आपन बलि हरी।
शशि दूरि तजै शे तिमिर पशरै अंधु धुंधन सूझई।
लै चलै रथहि चढ़ाइ रुकमिनी एक ऐकहि बूझई॥

समस्त असुर ठगे से खड़े रह गये। कोई समीप आकर आक्रमण नहीं करता। तभी लोगों ने पुकार मचाई कि रुक्मिणी हरण हो गया। तब सज्जित होकर रुक्म आक्रमण के लिये चला, किन्तु जरासंध ने फिर भी बाँह पकड़ कर उसे समझाया :—

रुकुमिनि हरन होत हैं लोग पुकारेउ
पहिरि शंजोए रुकुम तब पाछे धाऐउ
जराशींधु तब बाँह धरी समझाऐउ

उसने यहाँ तक कहा कि तू सबका नाश करायेगा और :—

मानि ताशु शिशुपाल धाह दै रोइहै।

किन्तु रुक्म नहीं माना। उसने गोविन्द को तुच्छ समझा। वह गाली देता क्रोधित हो कृष्ण पर बाण वर्षा करके उनके रथ को ढँकने लगा। महायुद्ध की आशंका से रुक्मिणी विचलित होकर भगवान से प्रार्थना करने लगी कि कृष्ण को चोट न लगे। कृष्ण ने उनकी ऐसी दशा देख उन्हे सन्तोष दिया। उन्होंने नागपाश डालकर रुक्म की सेना को बाँध लिया। यह देखकर देवताओं ने पुष्पवृष्टि की। कृष्ण रुक्म को पकड़कर जब उसके शिर को उतारने लगे तब दुखी होकर रुक्मिणी 'भाई भाई' पुकारती हुई प्रभु के पैरों में शिर रखकर रो उठी। उसकी ऐसी दशा से दयार्द्र हो कृष्ण ने रुक्म की केवल श्मश्रु तथा शिर का मुण्डन करके उसे विरूप कर दिया। तदनन्तर हरि रुक्मिणी को साथ ले द्वारिका आए और वहाँ उससे गंधर्व विवाह किया :—

हरि रुकुमिनि लै शंग दुवारिका आऐउ। कीन्हो गंध्रप व्याह शुजस जग छाऐउ॥

यही कथा की समाप्ति है। इसके पश्चात् रुक्मिणी मंगल के पाठ करने वाले के कुल सहित उद्धार का माहात्म्य कहा गया है। अन्तिम पंक्ति में लेखक ने अपना नाम दिया है :—

नरहरि महा जो पात शब विधि परम पद शो पाइया॥

और नीचे की गद्य पंक्ति कहती है कि यह लेखक भाट था :—

इति श्री रुकुमीनी-मंगल नरहरि भाट विरचित शमाप्तं शुभमस्तु इति।

यह ग्रंथ दोहा तथा चौपाई छन्दों में लिखा गया है। तालव्य-श—का प्रयोग कवि का प्रिय प्रतीत होता है, जिसका प्रयोग दन्त्य —स— के स्थान पर सभी जगह किया गया है। इस ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य संभवतः विवाह के समय गाये जाने के योग्य होना था, जिसका संकेत कवि ने निम्न पंक्तियों में किया है :—व्याह काज कल्यान परम पद पावइ॥

नरहरि का रुक्मिणी-मंगल निश्चित रूप से एक संक्षिप्त रचना है, जिसमें घटनाओं का उल्लेख मात्र है। उनकी भावात्मक सौन्दर्योद्घाटन की मनोरम चेष्टा नहीं के बराबर ही है। वेलि की कथा में जो संघटन का सौन्दर्य है वह यहाँ इतिवृत्त मात्र रह गया है। भावपूर्ण स्थलों की कवि ने बड़ी उपेक्षा

की है। वेलिकार ने आरम्भ में रुक्मिणी के भाइयों आदि का नाम तथा उसके बाल्यकाल एवं वयःसन्धि का चित्र देकर पाठक को मुग्ध करने मे सफलता प्राप्त की है। वेलि अपने सौन्दर्य मे मोहक है। किन्तु नरहरि ने कथा को एकदम भीमक से आरंभ करके मन्त्रणा की चर्चा कर दी है। रुक्मिणी के प्रति, उसका वर्णन पढ़ते पढ़ते, वेलि में जो आकर्षण बंध जाता है, वह नरहरि के ग्रंथ में नही हो पाता। वहाँ रुक्मिणी की कथा प्रधान न होकर केवल घटना की ही प्रधानता है। वेलिकार ने अनेक मार्मिक स्थलों की योजना करके अपने कवित्व कौशल के प्रदर्शन का अवसर निकाल लिया है। उन्होंने नखशिख, सौन्दर्य, स्नान आदि के बड़े ही रमणीय चित्र अंकित किये है। किन्तु नरहरि ने उनकी ओर संकेत भी नहीं किया। रुक्मिणी की विकलता का थोड़ा सा परिचय नरहरि ने केवल ब्राह्मण के आने पर दिया है, किन्तु हरि को सूचना न दे पाने की विवशता में रुक्मिणी की दशा का विचार कवि के मन मे उठा भी नही प्रतीत होता। वेलिकार ने उस अवसर का सुन्दर उपयोग किया है। कृष्ण की आतुरता का प्रदर्शन भी नरहरि के काव्य में नही है। कृष्ण और रुक्मी के बीच होने वाले युद्ध का वर्णन भी यहाँ नहीं किया गया है। बलराम तो कथा से एकदम बाहर ही निकाल दिये गये है जिससे सखा का काम ही समाप्त हो जाता है। रुक्मिणी के सौन्दर्य अथवा भगवान की माया से सैनिक मुग्ध होते नहीं दिखाई देते, बल्कि वे जान बूझकर चुप खड़े ज्ञात होते है, क्योंकि जरासंध पहिले ही युद्ध न करने का प्रस्ताव कर चुका है। विवाह के पश्चात् का वर्णन, द्वारिका तथा कुण्डिनपुर का उत्सव-कालीन अथवा स्वभाव-सुन्दर वर्णन, प्रभात, सायं आदि का वर्णन, ऋतु-वर्णन, विवाह आदि संस्कार का वर्णन, यह कुछ ऐसे स्थल हैं जिनका कथा में कहीं संकेत भी नहीं किया गया है। यदि कथा के संक्षेप के कारण विवाह तथा उसके पश्चात् का वर्णन संभव नही भी था तब भी अन्य वर्णन तो आ ही सकते थे। किन्तु कवि की प्रतिभा के प्रकाश से यह स्थल आलोकित न हो सके। काव्य की सारी रमणीयता, कवि की भावुकता, कल्पना और सूझ-बूझ जैसे कहीं अन्तर्हित सी हो गई है। निश्चय ही वेलि की समता में यह काव्य इतिवृत्त मात्र है, ओछा है। काव्य का कोई अन्य

लक्षण भी यथा, अलंकारादि, इसमें घटित होते नहीं दिखाई पड़ते। अतएव वेलि के सामने यह एक मामूली रचना है। हाँ, एकाध स्थल पर लेखक ने नवीनता लाने का प्रयत्न किया है और इस सम्बन्ध में वह सभी रुक्मिणी-हरण साहित्य के लेखकों से अलग हैं। इस काव्य में भीष्मक की जनप्रियता तथा राज्य की सुव्यवस्था दिखाने के विचार से कवि ने विवाह के सम्बन्ध में सम्बन्धियों आदि से मन्त्रणा करने का उल्लेख किया है। रुक्म की हठ के कारण नागरिकों के दुखी होने की बात भी दो तीन बार कही गई है। यहाँ तक कि शिशुपाल को असुर भी कहा गया है। दूसरे नन्ददास के ही समान यहाँ भी मुद्रित पत्र भेजा गया है। द्वारिका में विप्र का वैसा स्वागत भी नही किया गया है जैसा अन्य ग्रंथों में कहा गया है। बल्कि राजदरबार का नियम पालन करते हुए उसे सिंहद्वार पर ही रोककर उसके आने की सूचना देने पर अन्दर पहुँचाने की आज्ञा उपलब्ध करने के पश्चात् ही उसे घुसने दिया गया है। यहाँ न कृष्ण सिंहासनासीन दिखाये गये हैं, न वह दौड़कर स्वागत करते हैं, न विप्र को मुख से कुछ भी कहने का अवसर दिया गया है। किन्तु वेलि-कार ने इसका बड़ा ही चमत्कारपूर्ण वर्णन करते हुए स्वागत–प्रश्नों के द्वारा कृष्ण की उत्सुकता का चित्र अंकित करके पाठक को मोहित कर लिया है। नरहरि ने जरासंध के चरित्र को यहाँ पर्याप्त उत्कृष्ट दिखाने की चेष्टा की है। वह बार बार रुक्मी को रोकता है और यहाँ तक कह देता है कि शिशु-पाल को रोना पड़ेगा। जरासंध सम्बन्धी यह चित्र निश्चय ही नरहरि की नवीनता है, मौलिकता है। इसी प्रकार देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि कराकर ग्रंथ की धार्मिकता की रक्षा करने का उद्योग किया गया है। अन्त में लेखक ने इस विवाह को राक्षस-विवाह न कहकर गन्धर्व विवाह कहा है। समग्र रूप में यह रचना वेलि से ओछी ही है।

रुक्मिणी परिणय

'रुक्मिणी-परिणय अर्थात् रुक्मिणी-हरण, शिशुपालादि युद्ध और श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी के विवाह का लेखक विधिवत् वर्णन, के हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध कवि

रीवा–नरेश महाराज रघुराजसिंह जू देव हैं। इस ग्रंथ के रचना-काल का उल्लेख कवि ने स्वयं ग्रंथ के अन्त में निम्न सोरठा लिखकर किया है :—

ओनइस से अरु सात भादव सित गुरु सप्तमी ।
रच्यो ग्रंथ अवदात रुक्मिणि परिणय नाम जेहि ॥

जिसके अनुसार इसकी रचना वेलि की रचना के कम से कम २५३ वर्ष पश्चात् सं० १९०७ के भाद्रपद मास की शुक्ल पक्ष की सप्तमी को गुरुवार के दिन हुई। इस ग्रंथ में कुल मिलाकर इक्कीस सर्ग हैं, जिनमें मुख्यतः दोहा चौपाई छन्दों का प्रयोग करते हुए सोरठा, छप्पय, कवित्त, सवैया, बरवै, भुजंगप्रयात, वामन, त्रिभंगी, घनाक्षरी, चौपैया, नाराच, तोटक, पद्धरी, तोमर, दंडक, रोला, वसन्ततिलका, झूलना, प्रमाणिका, मोतियदाम, चौबोला, द्रुतविल-लम्बित, चामर, आदि अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। भाषा अवधी है। फारसी तथा उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है।

ग्रंथकार ने अन्तिम सर्ग में भागवत की सम्पूर्ण कथा अत्यन्त संक्षेप में कही है, साथ ही उसका माहात्म्य-गान भी किया है, जिससे 'परिणय' का आधार भागवत ही है, इस बात में शंका नहीं रहती। किन्तु भागवत के आधार पर लिखे जाने पर भी लेखक ने कथा को ऐसा विस्तार तथा रूप दिया है कि भागवत के वर्णन की ओर से ध्यान हट जाता है और वह सर्वथा एक नवीन कथा-सी प्रतीत होने लगती है। कथा का आरंभ रुक्मिणी अथवा कृष्ण के परिणय से सम्बद्ध कथा से नहीं होता और अन्त भी परिणय मात्र के साथ नहीं किया गया है। संक्षेप में कथा का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है।

प्रथम सर्ग—केशव, गणनाथ, सरस्वती, शुकदेव, तथा गुरु की वन्दना रूप में मंगलाचरण, व्यास जी के प्रति श्रद्धा तथा ग्रंथ रचना में अपनी असमर्थता–प्रदर्शन के छन्दों के पश्चात् कृष्ण-जन्म-वर्णन किया गया है। कृष्ण अवतार हैं यह बात लेखक ने निम्न सोरठा में स्पष्ट कर दी है :—

हरण हेत भुव भार प्रकटे हरि वसुदेव गृह ।
कीन्हो चरित अपार गाय गाय जेहि जन तरत ॥

मंगलाचरण में कवि ने तुलसी की.....बन्दौं हरिपद कंज, कृपासिंधु नर-रूप हरि।...जैसी ही पंक्ति...हरि गुरु पितु विश्वनाथ पद बन्दौं बार अनेक, लिखी है तथा विनम्रता प्रदर्शित करते हुए कहा है :—

मम गति नहिं ग्रंथन रचन पै कछु मति अनुसार।
बरणहुं रुकुमिणी परिणयो लहि गुरु कृपा अपार॥

कृष्ण-जन्म, वसुदेव-स्तुति, ब्रजगमन, कंसवध, उग्रसेन को राज्य समर्पण आदि प्रसंगों को अत्यन्त संक्षेप में कहकर लेखक मथुरा में रामकृष्ण की ख्याति से क्रुद्ध जरासंध के आक्रमण की कथा पर आ जाता है। जरासंध की पराजय तथा कृष्ण तथा बलराम के मथुरा में स्वागत के साथ यह सर्ग समाप्त होता है।

द्वितीय सर्ग—मगधराज के यहाँ नारद का जाना तथा कालयवन के पास मगधराज द्वारा सहायता का पत्र भेजना, नारद का कालयवन के यहां जाना, सभा का वर्णन, कालयवन का मथुरा पर आक्रमण, युद्ध, कालयवन को भय का बहाना करते हुए कृष्ण द्वारा मुचकुन्द की गुफा में ले जाकर छिप जाना तथा मुचकुन्द की निद्रा खुलने से कालयवन का भस्म होना, मथुरा से बलराम तथा कृष्ण का द्वारिका के लिये प्रस्थान, जरासंध द्वारा पीछा करना, प्रवर्षण गिरि को, कृष्ण को मारने के लिये, जरासंध द्वारा जला डालना तथा कृष्ण को ज्वाला में जला समझ प्रसन्नचित्त मगध लौटना, इसका विषय है।

तृतीय सर्ग—में द्वारिका का विस्तृत वर्णन किया गया है।

चतुर्थ सर्ग—'बलभद्र परिणय' नाम से लिखा गया है जिसमें उग्रसेन की सभा में वसुदेव जी का यदुवंशियों सहित जाना, नारद आगमन तथा रैवत भूपति की कन्या रेवती की प्रशंसा करना, रैवत का कन्यासहित विधि के पास जाकर उसके लिये वर पूछना तथा विधि द्वारा बलराम का संकेत देना, रैवत के द्वारिका न जानने की बात कहने पर विधि की ओर से नारद की पथ-प्रदर्शक के रूप में नियुक्ति की नारद द्वारा उग्रसेन को सूचना तथा बलराम का रेवती से विवाह करके उसे लिवा लाना, यह सब कथा वर्णन की गई है।

पाँचवें सर्ग—में कृष्ण से रुक्मिणी के विवाह का प्रस्ताव कराया गया है। यदुकुल के पुरोहित गर्ग मुनि ही इस प्रस्ताव के प्रस्तावक हैं, जिन्होंने भीष्मक तथा उनकी पत्नी का यशगान किया। रुक्मिणीसम्बन्धी वास्तविक

कथा यहीं से आरंभ होती है। लेखक ने रुक्मी की क्रूरता प्रदर्शन के लिये लिखा है :—

रुक्मी भयो महाबल शूरा। पितु अज्ञा भंजक शठ क्रूरा॥
अविवेकी अज्ञान गर्ववान अति सान धर। सुनै नीति नहिं कान करत अनीति सदा रहै॥
भयो आसुरै अंश ते वीर रुक्मी। करै कोप साधून पै तीव्र हुक्मी॥
सहस्रै दशै दन्ति जोरै सदाहीं। डरैं देवता सन्मुखै होत नांहीं॥ आदि।

यहां तक कि उसके भय से नागरिक अपने बच्चों को उसका अनुसरण न करने के लिए कभी कहते भी हैं, तो छिपकर ही। रुक्मी की इस क्रूरता के वर्णन द्वारा कवि ने कुशलतापूर्वक भावी संग्राम की अनिवार्यता की ओर संकेत कर दिया, साथ ही भावी संग्राम में कृष्ण को जो विजय प्राप्त हुई उसकी महत्ता भी इससे बढ़ गई है।

इसी सर्ग में यह भी बताया गया है कि एक बार अन्तःपुर में रुक्मिणी को देखकर भीष्मक ने रानी से वर के विषय में विचार किया और कृष्ण को ही उचित वर मानकर राजसभा में रुक्मी तथा अपने अन्य पुत्रों तथा मन्त्रियों से कृष्ण के विषय में प्रस्ताव किया। रुक्मी द्वारा पिता का अनादर हो ही रहा था कि नारद पहुंच गये। रुक्मी के द्वारा विरोध की बात जानकर नारद जी ने भीष्मक से रुक्मिणी का दर्शन करने की प्रार्थना की। नारद अन्तःपुर में गये और वहां रानी तथा रुक्मिणी ने प्रणाम तथा पगवन्दन द्वारा उनका स्वागत किया।

छठें सर्ग—में नारद जी कृष्ण का यश गान करके रुक्मिणी के हृदय में उनके प्रति प्रेम उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं। उनकी शूरवीरता, दानशीलता, शारीरिक सौन्दर्य आदि का विस्तृत वर्णन किया जाता है। यहीं गोपिकाओं तथा मुरली के मोहन मन्त्र की चर्चा भी कर दी जाती है।

सातवें सर्ग—में रुक्मिणी की कृष्ण के प्रति आसक्ति, रुक्मी का शिशुपाल से विवाह-प्रस्ताव, दमघोष के पास दूत भेजना, दमघोष का प्रसन्न होकर मित्र राजाओं को निमन्त्रण, चन्देरी में कृष्ण से युद्ध की आशंका पर सबकी गर्वोक्तियां, वरयात्रा में अपशकुन, रुक्मी द्वारा स्वागत, माता के पास जाकर रुक्मिणी-विवाह के लिये तैयारी करने की प्रार्थना करना, माता द्वारा तैयारी,

रुक्मिणी की विकलता तथा सखि के द्वारा विप्र को बुलाकर द्वारिका के लिये पत्र देना, आदि घटनाओं का वर्णन किया गया है।

आठवें सर्ग—में जिस दिन ब्राह्मण पत्र लेकर चला नारद का उसी दिन द्वारिका पहुंचना तथा रुक्मिणी का नखशिख वर्णन वर्णित है।

नवें सर्ग—की कथा लम्बी है। पत्र लेकर विप्रागमन, स्वागत, ब्राह्मण-गुण-कथन, विप्र का अपने को धन्य समझना, पत्र की सूचना देकर आज्ञा पाने पर पत्र पढ़ना, पुनः स्वयं कृष्ण से अविलम्ब चलने के लिये साग्रह निवेदन करना, कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के प्रति अपने प्रेम की स्वीकारोक्ति, दारुक को आज्ञा, रथ-वर्णन, अस्त्र-शस्त्र धारण करना, विप्र से मार्ग में कृष्ण का विरह-निवेदन, कुण्डिनपुर में आगमन, शत्रुओं के डेरे से अलग दिशा में नगर से बाहर रुकना तथा विप्र को रुक्मिणी के पास भेजना, प्रातः वर्णन—इस सर्ग के विषय हैं।

दशम सर्ग—का प्रसंग एकदम नया ही है। जिस दिन कृष्ण कुण्डिनपुर गये उसी सन्ध्या को बलराम उनके दर्शनार्थ उनके पास गये और वहां उन्हें न पाकर शंकित होकर द्वारपाल को डाँटकर कृष्ण की सूचना मांगने लगे। द्वारपाल से कुण्डिनपुर की बात सुनकर बलराम ने अनुमान लगा लिया कि हो न हो रुक्मिणी के लिये कृष्ण वहां गये हैं। उन्हें शंका हुई कि कहीं वहां अन्य राजा युद्ध न करें और वे आतुर भाव से कटक-संग्रह करके तभी कुण्डिनपुर के लिये चल पड़े। इधर ये कृष्ण से मिले उधर दूतों ने इनके सेनासहित आगमन का समाचार भीष्मक को जा सुनाया। उसने स्वयं जाकर उनका स्वागत किया तथा उनसे नगर में चलन की प्रार्थना की। किन्तु बलराम तथा कृष्ण ने नगर से बाहर ही रहना चाहा और भीष्मक ने उनका अभिप्राय समझकर उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। प्रजा दर्शन के लिये उमड़ पड़ी, उनकी प्रशंसा करने लगी। इसके आगे रुक्मिणी की चिन्ता तथा विप्र का दर्शन एवं कृष्णागमन की सूचना, रुक्मिणी द्वारा विप्र का पग-वन्दन प्रसंग भी इसी सर्ग में दिये गये हैं।

ग्यारहवें सर्ग—में रुक्मी का यदुवंशियों पर क्रोध करते हुए शिशुपाल के डेरे में जाना, शिशुपाल द्वारा सहायक राजाओं से सम्मति और सबकी गर्वो-

क्तियां, भीष्मक का उन्हें समझाना और सभा छोड़ कर लौटना, रुक्मी का अन्य लोगों को युद्ध के लिये तैयार रहने की आज्ञा देकर स्वयं घर चले जाना, रुक्मिणी को रुक्मी का अम्बिकालय में जाने का आदेश, रूक्मिणी का सैनिकों के साथ अपनी सखियों तथा माता को लेकर पैदल ही अम्बिकालय जाना, शिशुपालादिक को अपशकुन, रुक्मी द्वारा पूजा, पूजा-विधि वर्णन, द्विजनारियों द्वारा दिये गये वस्त्रों को रुक्मिणी द्वारा धारण किया जाना, प्रसंग रख गये हैं। रुक्मिणी-दर्शन से मोह तथा रुक्मिणी का हरण एवं द्वारिका के लिये बलराम की आज्ञा से कृष्ण तथा रुक्मिणी के प्रस्थान तक की कथा इस सर्ग में समाप्त हो जाती ह।

बारहवें सर्ग—में शत्रुसेना की सज्जा तथा भयंकर युद्ध, (युद्ध का रूपक-मय वर्णन) दिया गया है।

तेरहवें सर्ग—में कुछ राजाओं का द्वन्द्व-युद्ध वर्णित है।

चौदहवें सर्ग—में बलराम तथा शिशपाल का युद्ध तथा बलराम का शिशुपाल को उठाकर आकाश में फेंक देना बताया गया है।

पन्द्रहवें सर्ग—में भी युद्धभूमि का ही वर्णन है, युद्ध-भूमि में मृतकों की दशा दिखाई गई है। साथ ही इसी सर्ग में शिशुपाल अपने डेरे पर आकर आश्चर्यचकित होता है कि वह वहां कैसे आ गया। दूसरे साथियों से यह जानकर कि वह आकाश मार्ग से गिरा है, वह बलराम पर क्रोध करके प्रण करता है, जरासंध उसे समझाता है, (यहां जरासंध भाग्यवादी प्रतीत होता है) इन घटनाओं के अतिरिक्त रुक्मी को भीष्मक का उपदेश, रुक्मी का क्रोध तथा शिशुपाल की प्रशंसा, रुक्मी की प्रतिज्ञा, युद्ध के लिये प्रस्थान, बलराम का सामना न करके रुक्मी का दूसरे मार्ग से कृष्ण को रेवा-तट पर घेरना, युद्ध, रुक्मी को दण्ड, बलराम का आगमन, उनका रुक्मिणी को सन्तोष देना, रुक्मी द्वारा भोजकट बसाकर वहीं रह जाने की इच्छा का वर्णन भी किया गया है।

सोलहवें सर्ग—में दूत विजय की सूचना लेकर यदुपुरी जाते हैं, उग्रसेन की आज्ञा से नर-नारियों द्वारा स्वागत की तैयारी तथा द्वारिका की शोभा, अगवानी की उत्सुकता, सूर्योदय, कृष्ण के आने पर पुरवासियों की भीड़ का

उनके पीछे ही चलते जाना तथा प्रतीहार को पुरवासियों के आने देने की कृष्ण की आज्ञा, कृष्ण तथा बलराम का जलूस में निकलना, विवाह तथा परिछन के साथ साथ केलि-गृह तक का वर्णन कर दिया है।

सत्रहवें सर्ग—में नित्य-कर्म से निवृत्त हो राज-सभा में कृष्ण तथा बलराम का जाना तथा उग्रसेन के पूछने पर बलराम द्वारा युद्ध की घटनाओं का उल्लेख, सभा से कृष्ण का लौटना, रुक्मिणी का शृंगार तथा सखि-वर्णन, सन्ध्या तथा चन्द्रोदय-वर्णन, कृष्ण का रूप-वर्णन, रुक्मिणी द्वारा कृष्ण की प्रशंसा, रास-क्रीड़ा तथा कृष्ण का अन्तर्धान होना वर्णित है।

अठारहवें सर्ग—में कृष्ण के बिना रुक्मिणी तथा सखियों की विकलता तथा रुदन और कृष्ण की खोज, कृष्ण का प्रकट होना, पुनः रास-क्रीड़ा, जल-विहार तथा अन्त में कृष्ण की आरती का वर्णन किया गया है।

उन्नीसवें सर्ग—में पर्यंक-वर्णन, सखियों तथा रुक्मिणी आदि का शयन, रात्रि तथा प्रभात, जागरण, रुक्मिणी का कृष्ण से विलग होने के कारण विरह-निवेदन, कृष्ण द्वारा समझाया जाना तथा पुनः कृष्ण द्वारा प्रत्येक ऋतु में रुक्मिणी के साथ बैठ कर ऋतु-वर्णन करना रखा गया है।

बीसवें सर्ग—में कृष्ण तथा रुक्मिणी के बीच विनोद-वार्ता दी गई है। कृष्ण रुक्मिणी से कह देते हैं कि उनसे तो किसी का सम्बन्ध ही नहीं है, रुक्मिणी का भी नहीं, बेचारी रुक्मिणी मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है, कृष्ण सचेत करते हैं। इसी प्रकार की बातचीत इस सर्ग का विषय है और इसी बातचीत से यह भी सूचना मिल जाती है कि भोजकट में विवाह के उत्सव पर बलराम ने कलिंगराज की इसी बीच हत्या भी की है।

इक्कीसवाँ सर्ग—अन्तिम सर्ग है जिसमें भागवत की संक्षिप्त कथा कही गई है।

इस प्रकार सक्षिप्त विवरण देखने से पता लग जाता है कि कवि ने कथा को नया रूप देने में स्वच्छन्दता से काम लिया है और काव्य को अपने ढंग से विस्तार दिया है। आरंभ तथा अन्त के कई सर्ग पुस्तक के नाम—परिणय—से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इसी प्रकार की कथा में आरम्भ के चार सर्ग लिखे गये हैं। मुख्य कथा पांचवें सर्ग से ही आरम्भ होती है। यहां भी कृष्ण-

विवाह का प्रस्ताव पहिले ही गर्ग मुनि द्वारा कर दिया जाता है। रुक्मिणी का पत्र तो बहुत बाद में आता है। नारद जी का कुण्डिनपुर जाना तथा रुक्मिणी के सम्मुख कृष्ण के गुणों का बखान करना भी मौलिक कल्पना ही है। नारद जी दूसरी ओर द्वारिका भी पहुंच जाते हैं और रुक्मिणी का गुण-गान करते हैं। इस दृष्टि से आठवां सर्ग कवि की कल्पना ही का सृजन है। दशम सर्ग मे बलराम का कृष्ण के समीप आना और उन्हें न पाकर द्वारपाल आदि पर क्रोध करना, युद्ध-सज्जा करना तथा उनका भीष्मक द्वारा स्वागत भी नवीन हैं। ग्यारहवें सर्ग में भीष्मक का शिशुपालादि को समझाना, रुक्मी का रुक्मिणी के लिये अम्बिकालय जाने का आदेश भी नवीन योजनाएं हैं। वेलिकार ने माता से रुक्मिणी की सखी को आज्ञा दिलाई है, रुक्मी का आदेश नहीं बताया गया है और न भागवत में ही ऐसा है। बारहवें से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक युद्ध का वर्णन ही किया गया है जो महाभारत से अधिक प्रभावित है और उसमें जहां तहां रूपक भी—वेलि के समान—सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। पन्द्रहवें सर्ग मे भीष्मक का रुक्मी को समझाना तथा रुक्मी द्वारा कृष्ण पर दूसरे मार्ग से आक्रमण करना भी नवीन सूझ है। इसी प्रकार सत्रहवें सर्ग से लेकर अन्त तक की कथा को नवीन ढंग से वर्णन किया गया है। वेलि में युद्ध-विजय करके लौटने पर बलराम सूचनार्थ दूत नहीं भेजते और न भागवत मे ही इसकी कोई सूचना दी गई है, किन्तु 'परिणय' के लेखक ने वह भी जोड़ लिया है। तात्पर्य यह कि, आदि से अन्त तक लेखक ने कथा को नवीन रूप में संवारने का प्रयत्न किया है। उसकी प्रवृत्ति युद्ध-वर्णन की ओर अधिक है, जिसके कारण उसने बलरामादि के युद्ध का वर्णन तो कई सर्गों में किया ही कालयवन, जरासन्ध आदि के अन्य युद्धों का भी वर्णन किया है। युद्ध के वर्णन में अस्त्र-शस्त्रों के नाम पर विशेष ध्यान दिया गया है। जरासन्ध आदि की कृष्ण तथा बलराम के हाथ पर्याप्त दुर्दशा कराई गई है, किन्तु साथ ही उनके न मरने का कारण भी बता दिया गया है कि अभी उसकी मृत्यु भीम अथवा कृष्ण के हाथ होनी है, इसी कारण वह बच गया है। युद्ध-वर्णन के अतिरिक्त कवि का ध्यान कृष्ण के गुणगान कराने की ओर भी विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है, इसी कारण उसने कभी

रुक्मिणी के पास से आए हुए विप्र से, कभी नारद से, कभी रुक्मिणी और कभी उनकी सखियों या पुरवासियों से उनका वर्णन कराया है और इसी से जन्म से ही उनकी कथा भी गाई है। रुक्मिणी का गुणगान तो किया गया है किन्तु वह युद्ध तथा अन्य वर्णनों के भार से दब जाता है। बलराम का रूप भी इस काव्य में निखर कर आया है। युद्ध-विजय का सेहरा तो उन्हीं के सिर बांधा गया है। रुक्मिणी के नखशिख की ओर ध्यान देने के साथ कवि न कृष्ण का नखशिख भी वर्णन किया है।

प्रस्तुत काव्य वर्णनात्मक है। इसमें एक एक छोटी से छोटी बात को विस्तार से कहा गया है। उदाहरण के लिये वह स्थल देखा जा सकता है जहां कृष्ण की आज्ञा पाकर कुण्डिनपुर जाने के लिये दारुक द्वारा रथ तैयार करने का वर्णन किया गया है। कवि ने इस स्थल पर केवल वर्णन को महत्व दिया है, यह नहीं देखा कि कृष्ण कितनी शीघ्रता में होंगे अथवा कथानक का वह अंश कितना तीव्र गतिशील होना चाहिये बल्कि बड़े धैर्य से दारुक की रथ की तैयारी, रथ का वर्णन, कृष्ण के पास जाकर सूचना देने आदि का वर्णन किया है। जिस प्रकार वेलिकार ने कृष्ण की उत्सुकता का संकेत किया है रघुराज देव इस प्रकार की उत्सुकता दिखाने की ओर ध्यान नहीं देते और बड़ी शान्ति से कृष्ण के द्वारा तैयारी कराते तथा विप्र के सम्मुख रुक्मिणी के प्रति उनके प्रेम की उनसे कथा कहलाते रहते हैं। वे मार्ग में भी कृष्ण से उनकी प्रेमगाथा ही कहलाते चलते हैं किन्तु शीघ्र पहुंचने की बात की ओर विशेष दृष्टिपात नहीं करते। 'परिणय' के लेखक ने सभी सूचनाओं का काम दूतों से लिया है। फिर भी, जैसा ऊपर दिये गये वर्णन से पता लगता है, कवि ने पर्याप्त नवीन विषयों का समावेश करके काव्य को सौन्दर्य प्रदान करने की चेष्टा की है। युद्ध का जैसा वर्णन कई सर्गों तक किया गया ह उससे वीर रस का पूर्ण परिपाक तो हुआ ही है, युद्ध-भूमि के दृश्य में वीभत्स का भी विधान किया गया है। युद्धस्थल में वीरों की ललकारें तथा गर्वोक्तियां वीर-रस में अत्यन्त सहायक हैं। शिशुपाल आदि को आकाश में फेंक देना आदि कुछ कर्म अद्भुत की भी सृष्टि करते हैं। भयानक तथा रौद्र का परिपाक भी युद्ध के इस विस्तृत वर्णन में सरल हो गया है।

शृंगार की माधुरी का अनुभव कराने में भी कवि न कम सफलता नहीं प्राप्त की है। रास, जलक्रीड़ा, रुक्मिणी तथा कृष्ण की विनोद-वार्ता आदि निश्चय ही शृंगार का रूप निखार कर सामने लाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। रुक्मिणी तथा कृष्ण का नखशिख तथा षट्ऋतुओं का वर्णन तो परम्परा के अनुकूल शृंगार का सहायक है ही। किन्तु साथ ही सखियों का सहयोग, गान-वाद्यादि तथा प्रकृति-सौन्दर्य सबने मिलकर अन्तिम सर्गों को शृंगार की महक से महका दिया है। रासक्रीड़ा द्वारा कवि ने विरह वर्णन का रूप भी खड़ा किया है। इसी प्रकार प्रातःकाल होने पर रुक्मिणी का विरह-दुख, कृष्ण की रुक्मिणी से अलग होने मे विकलता आदि का वर्णन भी वियोग पक्ष को पुष्ट करता है। सखियों का आनन्द तथा कृष्ण का विनोद मधुर हास का सुखद अनुभव कराने में सफल है। अन्तिम सर्ग मे भागवत की संक्षिप्त कथा कहकर कवि ने शान्त रस मे ग्रंथ की समाप्ति की है। तात्पर्य यह कि रसात्मक स्थलों की भी कमी प्रस्तुत काव्य मे नही है। अलंकार तथा शब्द-चयन की दृष्टि से इस काव्य को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता। अनुप्रास कवि को अत्यधिक प्रिय है। जहां तहां उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि गिने चुने अलंकारों के छींटे मिल जाते है किन्तु अलंकारों का वैसा चमत्कार-पूर्ण समावेश 'परिणय' में नहीं किया जा सका जैसा 'वेलि' मे देखने को मिलता है। शब्द-चयन तथा शब्द-शक्ति प्रयोग के विचार से यह ग्रंथ सर्वथा हल्का है। हां, सम्वादों में सजीवता दिखाई पड़ती है और प्रसाद-गुण इस काव्य की विशेषता कही जा सकती है। वर्णन की दृष्टि से कवि ने नगर, ऋतु, प्रातः, सायम्, जल-विहार, ज्योत्स्ना आदि का विस्तृत वर्णन किया है और काव्य को महाकाव्य के समान अनेक छन्दों, सर्गों आदि से भी विभूषित करने की चेष्टा की है, किन्तु बहुत कुछ नवीनता और मौलिकता होते हुए भी कलापक्ष की न्यूनता के साथ साथ भावपक्ष में भी अनेक स्थलों पर काव्य का सौन्दर्य न छिटकने के कारण इसे महाकाव्य का सम्मान नहीं मिल सकता। वेलि की तुलना में कथा-विस्तार में यह भले ही अधिक हो किन्तु उसका सा कला-विलास, उसकी-सी मर्म-व्यंजकता, अलंकार-सौष्ठव, भाषा का अधिकार आदि 'परिणय' में नहीं। वेलिकार का-सा पाण्डित्य भी परिणयकार की ओर

से कहीं प्रदर्शित नहीं किया गया है। साथ ही यह त्रुटि भी खटकने वाली है कि कवि ने वर्णनों में काल का ध्यान नहीं रखा है। इसी से उसने तृतीय सर्ग में यदुपुरी में तोप का वर्णन करते हुए कह दिया है :—

चढ़ीं तोप तिनमांह भयावनि । दगत दुवन दल द्रुतहि नसावन ॥

इसी प्रकार कालयवन के दरबारियों का वर्णन अपने समकालीन मुसलमानों से मिलता-जुलता किया है।

डाढ़िन युत मुख लसहिं घनेरे । जनु छतना मधु माखिन केरे ॥
कोइ कुरान वांचहि नृप पासै । कहुं गणिका बहु करहिं तमासै ॥
यवन लसें सब श्याम पोसाकैं । मनहु नील घन रहित बलाकैं ॥
कोइ आशिक सुनि श्रवण कुराना । उझकहि झूमहि मनहु दिवाना ॥आदि ।

अन्त में परिणय में आए हुए कतिपय प्रसंगों का उद्धरण देकर हम पाठकों पर इस बात का विचार छोड़ते हैं कि वे वेलि तथा परिणय की विस्तृत तुलना स्वयं करने का कष्ट करें।

शिशुपाल से अपने विवाह का प्रस्ताव सुनकर रुक्मिणी किस प्रकार विकल हैं यह देखिये :—

अति शोचति मोचति आंसुन को गुणि ब्याह निजै शिशुपालहि को ।
क्षण लौं रही बावरी सी तंह बाल, बिचारि दियो पुनि तालहि को ॥
तन स्वेद छयो मुख सूखि गयो को कहै रुक्मिणी के हालहि को ।
महिहौं विष सों बरिहौं शिखि को बरिहौं बिस्वे बीस गुपालहि को ॥

उनका लिखा हुआ पत्र रुक्मिणी की पीड़ा को व्यक्त करने में वैसा सहायक नहीं जैसा कवि के उक्ति-वैचित्र्य की ओर ध्यान आकर्षित करने में:—

खंजन नयनन अंजन काजर प्रेम के आंसुन की मसि कीनी ।
कोमल आंगुरी की कलमें करि कागद अंचल को करि लीनी ॥
नेह ते साने लिखे बर आखर रुक्मिणी केशव के रस भीनी ।
प्रीति भरी बतियां पतियां लिखि छिप्रहिं विप्रहिं के कर दीनी ॥

रुक्मिणी का अष्टम सर्ग में किया गया नखशिख वर्णन अत्यन्त उत्तम तथा कल्पनारंजित और सुखमय है। मुख का वर्णन देखिये :—

कै सुखमा के सरोवर को विकसो अरविन्द अनूपम भावै ।

रावरे आनन देखिबे को किधौं आरसी आनंद की छबि छावै ॥
केशव की तुव नयन चकोर को रूप सुधानिधि इंदु सुहावै ।
भाखै मुनी रघुराज किधौं मुख रुक्मिणी को सुख सिधु बढ़ावै ॥

अथवा रुक्मिणी की भुजाओं की कल्पना देखिये :—

कैधो सुधा के सरोवर के ढिग सोहैं मृणाल उभय अति भाये ।
कैधों मयंक मयूख के पान को पन्नग पीत द्वै ऊरध धाये ॥
भाखैं मुनी रघुराज किधौं युग हेम के दण्ड अखण्ड सुहाये ।
कैधों लसै सुखमा की लता किधौं रुक्मिणी के भुज द्वै छवि छाये ॥

पाटी का वर्णन और भी अद्भुत तथा रोचक है। कल्पनाएँ देखने और सराहने योग्य हैं :—

कैधो कुहू युग आय मिली किधौं माधव रैनि के ये युग भाग हैं ।
काम शिंगार अवास किधौं ये पिक के पख द्वै संग लाग हैं ॥
जान्हवी धार के दोऊ दिशै किधौं कालिन्दी धार द्वै सोहे अदाग ह्वै ।
केशव कैधौं विदर्भ सुता की सुपाटी लसैं युगमैन को बाग हैं ॥

नखशिख के इसी प्रकार के एक से एक रम्य चित्र आठवें सर्ग की सुषमा बढ़ा रहे हैं। उनका वर्णन वहीं से देखा जा सकता है। नवम सर्ग में रथ का वेग कवि ने अलंकारों के सहारे कैसा चित्रित किया है यह भी दर्शनीय है :—

चले हैं तुरंग रंग रंग के उमंग भरे गति के अभंग ढंग करत अखर्व हैं ।
लूक से लखात कहूं चंचला से चमकत हैं, अम्बर जात नहिं देखत सुपर्व हैं ॥
रघुराज भाषत सुरेश औ दिनेश हू के, बाजी बेष वेष लखि लाजि जात सर्व हैं ।
पच्छिन को पच्छिन के पति को सुगति की त्यों मारुत औ मनहूं की गंजि डारे गर्व हैं ॥

किन्तु इसमें वह चित्रोपमता नहीं, अतिशयोक्ति भले ही हो, जो वेलि के 'धरगिरि पुर साम्हा धावन्ति' पंक्ति में है। 'वेलि' में शाकुन्तल का सौन्दर्य निखर कर छलक रहा है, 'परिणय' में बौद्धिक चिन्तन अधिक है। इसी सर्ग में चन्द्रमा के विषय में की गई कल्पनाएँ भी पठनीय हैं। यथा,

जोन्ह वितान बनायन मैं यह रावरे को यश है धौं महासित ।
गौवन मध्य में मत्त महा किधौं भ्रामित है वृषभेष विभासित ॥

श्री यदुराज सुनौ रघुराज किधौं मुकुतानि में वज्र प्रकाशित ।
लोकन ताप निवारत आवत तारन मध्य मयंक हुलासित ।।

किन्तु कृष्ण की आतुरता का वर्णन केवल इतना कह कर ही समाप्त कर दिया गया है कि :—

यद्यपि पवनहु मनहु ते चपल चलो रथ जात ।
तद्यपि कुण्डिन कृष्ण को कोटिन कोस दिखात ।।

'वेलि' के ही समान 'परिणय' के लेखक ने भी युद्ध का रूपक दिया है और कभी उसका वर्षा, कभी वसन्त, कभी, संगीत, कभी फाग तथा कभी त्रिवेणी के रूप में वर्णन किया है। यहां तक कि उसे विवाह का रूपक भी दिया गया है। युद्ध-वर्षा का रूपक देखिये :—

कारे नाग मेघ राजें दुन्दुभी अवाजें गाजें बाजें वेश बांसुरी बिराजें मोर शोर है ।
चमकें कृपाण तेई दामिनी दमकें दौरि बांद वृन्द बूंदन की भई वृष्टि घोर है ।।
फहरें पताके व्योम डहरें ते बकपाँति मांगें पानी घायल ते चातृक वा ठोर है ।
इन्द्र चाप चाप झिल्ली झिलिम झनंकति हैं, फैली रण पावस की शोभा चहुं ओर है ।।

विवाह का रूपक देखिये :—बाणन के माड़ौ छाये कुम्भ मुण्ड ही के भाये, कटे केश तेई कुश शोणित सुनीर है। भटन के पीठिन की पीठि पील वेदी प्रेत और पिशाच ते पुरोहित की भीर है ।। योगिनी जमाति नारी मंगल को गान वारी दन्तन के लाजा अरु मेदन की खीर है। कोप को कृशानु त्योंही सुरुवा कृपाण ही को बधू वै वरांगणानि व्याहते प्रवीर हैं ।।

अनुप्रास की छटा में छिपे हुए वसन्त का रूप निहारिये :—
हरिना हरिनी गन ही हरष्यो हरुये हर हारन मैं डहरैं ।
छवि छाय छपाकर की सुछटा छपा मैं क्षिति छोइ छुये छहरैं ।।
पिकवाणी पियूष सी पूरति कान सु मानिन के मन मान हरैं ।
सु संयोगिनी को है बसन्त सुधा वै वियोगी त्रिचारिन को जहरैं ।।

अन्य वर्णनों के उदाहरण यहां देना संभव नहीं। इतने उदाहरण देने का एक मात्र यही उद्देश्य था कि पाठक कवि के वर्णन-कौशल, मौलिकता, तथा कला-विलास का संकेत पा सकें। हमें विश्वास है कि पाठक प्रस्तुत काव्य-

ग्रंथ की काव्यात्मकता की सराहना करते हुए भी 'वेलि' का इससे कहीं अधिक रमणीय रचना के रूपमें स्वागत करने को विवश होंगे।

मराठी रुक्मिणी-हरण काव्य

रुक्मिणी-हरण विषयक जितने काव्य हिन्दी और राजस्थानी में उपलब्ध होते हैं, उनसे कहीं अधिक मराठी-साहित्य में प्राप्त हैं। कहा जाता है कि मराठी में लगभग ३० काव्य इस विषय पर लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त नाटकों की रचना भी हुई है। हिन्दी में केवल विद्यापति तथा हरिऔध जी ने रुक्मिणी-हरण नाटक लिखा, मैथिली में महाराज नरेन्द्रसिंह के दरबारी कवि पण्डित रमापति उपाध्याय का एक रुक्मिणी-हरण नाटक प्रसिद्ध है, किन्तु मराठी में रुक्मिणी विषयक ५ नाटकों का पता चलता है। तात्पर्य यह कि रुक्मिणी-हरण पर सबसे अधिक समृद्ध साहित्य मराठी का है। इस प्रकार के साहित्य की रचना वहाँ काव्य तथा भक्ति दोनों दृष्टियों से हुई है। महानुभाव पंथ के विचारकों ने भी इस साहित्य के निर्माण में योग दिया है। इन साहित्यकारों में से अब जिनके विषय में इस सम्बन्ध में कुछ पता चलता है वे थोड़े ही हैं, किन्तु उनकी रचना मराठी ही नहीं भारतीय साहित्य में अपना महत्व रखती है। श्रव्य काव्य लेखकों में जिनका नाम लिया जाता है, वे लगभग ९ हैं। शक संवत् ११२५ से ११७५ के बीच महानुभाव पंथ के प्रवर्तक चक्रधर के अन्तेवासी महदंबा के कुछ धवल तथा गीत उपलब्ध होते हैं। उनके पश्चात् ११९० से १२५० के बीच नरेन्द्र कवि का रुक्मिणी-स्वयम्वर मिलता है। महानुभाव पंथ के श्री भास्कर कवीश्वर तथा संतोष मुनि कृष्णदास ने भी इस सम्बन्ध में काव्य लिखे। श्रीधर स्वामी तथा मराठी के महान् कवि मोरोपंत ने भी इस प्रसंग पर रचना की। किन्तु मराठी में यदि इस प्रकार के काव्य-लेखकों में सबसे अधिक प्रतिष्ठा मिली तो विट्ठल, एकनाथ तथा सामराज कवि को। मराठी-साहित्यकारों के बीच आज भी एकनाथ तथा सामराज के रुक्मिणी-स्वयम्वर तथा रुक्मिणी-हरण काव्य, महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। एकनाथ का स्वयम्वर तो भक्ति का अत्युत्तम ग्रंथ समझा जाता है और आज भी श्रेष्ठ वर की कामना करने वाली तरुणियाँ वहाँ उसका बड़ी श्रद्धा पूर्वक पाठ तथा पूजन करती हैं। विट्ठल बीडकर शिवाजी के समय के कवि हैं और

आपका रुक्मिणी स्वयम्वर शक संवत् १५९६ का माना जाता है। शिवाजी के समय में ही जयराम स्वामी नामक एक कवि ने रुक्मिणी-स्वयम्बर नामक काव्य लिखा था। इस प्रकार मराठी में इस प्रसंग को लेकर अनेक दृश्य तथा श्रव्य–काव्यों की रचना हुई है जिनमें से बहुत से लुप्त हो गये और बहुत से प्रकाश में नहीं आ सके। दृश्य काव्यों में शिवकालीन कुछ ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, यथा, शेष चिन्तामणि का रुक्मिणी-हरण जो इ० सं० १६७५ के पूर्व की रचना है। तार्किक सिंह का रुक्मिणी-परिणय, राजचूड़ामणि दीक्षित का रुक्मिणी-कल्याण, सरस्वती-निवास का रुक्मिणी नाटक, वरद कवि का रुक्मिणी परिणय नाटक भी उसी काल की रचनाएँ हैं। किन्तु यहाँ हम केवल एकनाथ तथा सामराज के काव्यों का ही अत्यन्त संक्षेप से उल्लेख कर सकेंगे।

एकनाथ का रुक्मिणी-स्वयम्वर––एकनाथ महाराष्ट्र के महान् भगवद्भक्त संतकवि माने जाते हैं। आपका जन्म शक संवत् १४५५, ई० सन् १५४८ में हुआ था। आपके पिता का नाम सूर्यनारायण तथा माता का नाम रुक्मिणी था। आपने काशी तक यात्रा करके, वहाँ रहकर अपने रुक्मिणी-स्वयम्वर काव्य की रचना की। उनका यह ग्रंथ काशी में शक संवत् १४९३, चैत्र सुदी नवमी को समाप्त किया गया। यह वह काल था जब अकबर की शासन-सत्ता देश में प्रतिष्ठापित हो चुकी थी। कहा जाता है कि अकबर इनके दर्शनों के लिये काशी आया भी था। आपके नाम से कई ग्रंथ, यथा, चतुः-श्लोकी भागवत, एकनाथी भागवत, बालक्रीड़ा, प्रह्लाद् चरित्र, शुकाष्टक, स्वात्मसुख, आनन्द लहरी, अनुभवानन्द, ज्ञानेश्वरी टीका, भावार्थ रामायण आदि प्रसिद्ध हैं।

एकनाथ का रुक्मिणी-स्वयम्वर आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्थापित करने-वाली रचना है। कृष्ण और रुक्मिणी का यह विवाह मानो आत्मा और परमात्मा का ही सम्मिलन है। यह जीव तथा शिव का ऐक्य-स्थापन है। ग्रंथ के आरंभ से ही इस रूपक का परिचय दिया जाता है और अन्त में इस आध्यात्मिक ग्रंथ के पाठ का माहात्म्य वर्णित है। एकनाथ महाराज ने इस रूपक को सभी स्थलों पर निबाहने का प्रयत्न किया है और ऐसे स्थल भी जहाँ लग्न, खाद्यपदार्थ, आतिशबाजी आदि का वर्णन किया गया है वहाँ

भी इसी रूपक को ही प्रमुख मानकर वर्णन किया गया है। इस रूपक का एक परिणाम यह हुआ है कि काव्य क्लिष्ट हो गया है। उसमें काव्यत्व के ऊपर रूपक-सिद्धि को महत्व मिला है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण को निबाहने का प्रयत्न उभर आया है। वस्तुतः इस प्रकार के रूपक का संयोजन उस काल के काव्यों का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। मानसरूपक की बात अथवा जायसी के पद्मावत का रूपक उस समय के प्रायः सभी कवियों के सम्मुख अनुकरणीय हो गया था, साथ ही सूफी काव्य का प्रभाव कम करने और कहानी के रूप में सूफी सिद्धान्तों के प्रयोग से बचाये रखने के लिये भी यहाँ के कवियों के लिये यह आवश्यक हो गया था कि वे उसी परम्परा के ग्रंथों का निर्माण करते जिससे जनता का मन रमता। अतएव इस प्रकार के रूपक का उन काव्यों में अनिवार्य रूप मे समावेश हो गया था। उसी प्रभाव के कारण एकनाथ का स्वयम्वर भी एक रूपक के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। एकनाथ जी ने जायसी का पूरा अनुकरण करते हुए खाद्यपदार्थो की एक लम्बी तालिका भी दी है।

एकनाथ जी के प्रस्तुत काव्य में कथा को १८ प्रसंगों में विभाजित किया गया है। कुल मिला कर इन १८ प्रसंगों में १७१२ ओंवी नामक छन्द है। कथा प्रसंगों में क्रमशः इस प्रकार है :—

प्रथम प्रसंग :—श्रीकृष्ण का रूप-सौन्दर्य तथा उनकी शक्तिमत्ता का वर्णन। विप्र के मुख से श्रीकृष्ण के रूप-गुणों का श्रवण करने से रुक्मिणी का तदाकार वृत्ति वाली हो जाना। माता-पिता द्वारा रुक्मिणी का कृष्ण के साथ विवाह का विचार तथा सभी भाइयों की सहमति, किन्तु रुक्मी का विरोध। उसके द्वारा कृष्ण की निन्दा।

दूसरा प्रसंग :—कृष्ण निन्दा तथा माता-पिता से विरोध करके चैद्य शिशुपाल को रुक्मिणी देने का विचार। देश-विदेश के राजाओं को लग्न-पत्र भेजकर निमंत्रित करना। रुक्मिणी द्वारा सुदेव ब्राह्मण का कृष्ण के पास भेजा जाना।

तीसरा प्रसंग :—द्वारिका का रम्य वर्णन, सुदेव द्वारा कृष्ण से भेंट तथा पत्रिका देना।

चौथा प्रसंग :—श्रीकृष्ण का आश्वासन । प्रस्थान।

पाँचवा प्रसंग :—कृष्ण तथा वसुदेव और जरासंध तथा शिशुपालादि का कुण्डिनपुर में आगमन। बलराम का युद्ध की आशंका से कृष्ण के पीछे सहायतार्थ आना। रुक्मिणी का कृष्ण को आते न देखकर चिन्ताकुल होना। वसुदेव का उसके पास जाकर चिन्ता निवारण करना।

छठा प्रसंग :—भीमक द्वारा कृष्ण तथा बलराम की अभ्यर्थना तथा नगर में उतर जाने की विनती। कृष्ण द्वारा शिशुपालादि के विरोध और उनकी उपस्थिति से युद्ध की आशंका का संकेत करके नगर में न जाने की बात का भीमक को समझाना। नागरों का कृष्ण-दर्शन के लिये उमड़ना तथा शिशुपालादि का चिन्तित हो जाना। रुक्मिणी का अम्बिकालय जाना तथा कृष्ण की वर रूप में प्राप्ति की प्रार्थना।

सातवाँ प्रसंग :—रुक्मिणी का मनोहर रूप-वर्णन तथा उसके द्वारा सब राजाओं के देखते हुए कृष्ण के गले में माला डालना। कृष्ण द्वारा उसका हरण।

आठ से ग्यारह प्रसंग तक युद्ध वर्णन किया गया है। बारहवाँ प्रसंग :—जरासंध के समझाने पर शिशुपाल का चेदि देश को लौटना। रुक्मी का अपना तथा शिशुपाल का अपमान सहन न करने के कारण युद्ध करना, रुक्मी का पराभव तथा कृष्ण द्वारा उसके वध का उद्यम। रुक्मिणी की विनती मानकर रुक्मी को केवल विरूप करके छोड देना।

तेरहवाँ प्रसंग :—बलराम द्वारा अपने साले रुक्मी के अपमान के लिये कृष्ण की भर्त्सना तथा रुक्मिणी को समझाना।

चौदह से अठारह तक विवाह का प्रबन्ध तथा गान, आतिशबाजी, भोजन आदि का वर्णन ।

इन प्रसंगों में एकनाथ ने अनेक काव्यात्मक स्थलों का विधान करके कवि-कौशल का परिचय दिया है। कृष्ण रुक्मिणी का जन्मवर्णन, कृष्ण का स्वरूप वर्णन, द्वारिका वर्णन, जरासंध शिशुपाल आदि बरातियों का वर्णन रुक्मिणी की चिन्ता, रुक्मिणी के द्वारा अम्बिका की प्रार्थना, रुक्मिणी का रूप वर्णन, कृष्ण द्वारा उसका हरण, युद्ध वर्णन, अष्टमातृकाओं की बारात यादवों की बारात की हीनता, खाद्यपदार्थों का रूपकमय वर्णन, आतिश-

बाजी के अनेक प्रकारों का वर्णन, आदि अनेक काव्यमय प्रसंगों की योजना से इस काव्य का रूप संवारने का सफलता पूर्वक प्रयत्न किया गया है। विवाह के प्रसंग का तो सविस्तर वर्णन करते हुए अनेक परिपाटियों का प्रदर्शन भी करा दिया गया है। साथ ही इन सब वर्णनों के सहारे अनेक रसों का समावेश भी कर लिया गया है। द्वारिका का वर्णन शान्तरस का उदाहरण है, रुक्मिणी की चिन्ता का करुण रस के परिपाक के लिये तथा उसके रूप का वर्णन शृंगार रस के हेतु किया गया है। युद्धवर्णन में वीर तथा करुण का संयोग एवं अष्टमातृकाओं की बारात के वर्णन में हास्यरस का सफल प्रयोग हुआ है। यादवों की बारात का चित्रण वीभत्स रसात्मक है।

एकनाथ ने अपने इस काव्य में न केवल अपनी आध्यात्मिकता का ही प्रदर्शन किया है बल्कि चमत्कारपूर्ण अनेक प्रसंगों का विधान करके काव्य की काव्यात्मकता को बनाये रखने का भी सफल उद्योग किया है। भागवत के १४६ छन्दों का आधार लेकर इतने बड़े काव्य का निर्माण करना एकनाथ महाराज की अपूर्व प्रतिभा का ही प्रमाण है। आध्यात्मिकता का निर्वाह करते हुए काव्य के स्वरूप को उतना ही रमणीय बनाये रखना उनके कौशल का परिचायक है। इन्होंने जहाँ और नवीनताओं का समावेश इस काव्य मे किया है वहाँ रुक्मिणी का विवाह भी भीमक के ही राज्य में करा दिया है। स्वयम्वर के पश्चात् कथा का अन्त हो जाता है अतएव शृंगार के संयोग पक्ष अथवा ऋतु-वर्णन का वह अवसर नहीं आ पाता जो वेलिकार को उपलब्ध है। फिर भी इस काव्य की अपनी महत्ता है। यह मंगल कृष्णकथा है अतएव सहृदय का मन इसमें रमता है, जीव-शिवैक्य का उपदेश होने के कारण ज्ञानी को इससे तृप्ति मिलती है और सुन्दर कथा योजना और प्रसंग की काव्यात्मकता से रसज्ञ रसलीन होता है। मन्दाकिनी के तरल प्रवाह सा प्रवाह तथा समुद्र सा गांभीर्य इस काव्य की विशेषताएँ हैं।

इन सब विशेषताओं के होने पर भी एकनाथ समकालीन प्रभाव से ऐसे प्रभावित हुए हैं कि उनके काव्य में अनेक कालविरुद्ध प्रसंगों का वर्णन हुआ है। उन्होंने रुक्मिणी तथा कृष्ण के विवाह का समारम्भ चार दिन तक बताया है। यह परम्परा कृष्ण के समय में भी थी या नहीं इसका कोई प्रमाण

उपलब्ध नहीं होता, किन्तु यह रीति नाथकालीन है यह असंदिग्ध है। उन्होंने विवाह में आतिशबाजी, चन्द्रज्योति, नले आदि का वर्णन किया है, जो सर्वथा उन्हीं के काल की देन है। इसी प्रकार कृष्ण तथा अन्य यादवों को शाकाहारी बताना और भोजन की सामग्री का इतना वर्णन करके भी कहीं भी आमिषाहार का वर्णन न करना तथा विदर्भराज को भागवतधर्मी तथा एकादशी आदि व्रत का पालन करने वाला मानना भी नाथ जी की अपनी कल्पना है, किसी ग्रंथ से प्रमाणित नहीं होती इसी प्रकार रुक्मिणी को रेवती बहुत देर तक ससुराल में रहने के ढंग का जो उपदेश देती है, वह भी सम्यक् प्रतीत नहीं होता क्योंकि रुक्मिणी को ससुराल में दासदासियों के बीच रहना था, अपने हाथ से काम करने का कोई प्रश्न नहीं था।

तात्पर्य यह कि नाथ जी का यह ग्रंथ मूलतः आध्यात्मिक प्रेरणा से प्रेरित है और लेखक ने उस दृष्टिकोण को प्रत्येक वर्णन में रक्षित रखने का प्रयत्न किया है। फिर भी उसके कवित्व-कौशल के दर्शन उनके इस काव्य में होते हैं। कवि के अनुरूप उन्होंने नवीन प्रसंगों की योजना करके कथा को विस्तार देने के साथ ही सरसता भी प्रदान की है। साथ ही उन्होंने अपने काल के सूफी काव्य से भी प्रेरणा ग्रहण की और उसके रूप को काव्य में रक्षित करने का सफल प्रयत्न किया। वेलिकार ने भी नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है, किन्तु इस प्रकार का विस्तार उन्होंने नहीं दिया। वेलिकार का उद्देश्य शृंगार ग्रंथ लिखना था और भक्ति उनके एक सहज गुण के रूप में उसमें समा गई है, साथ ही सूफी आदि दृष्टिकोण भी समन्वित हो गया है। इसके विपरीत नाथ जी का उद्देश्य आध्यात्मिक है, किन्तु कवित्व की भी कमी नहीं है। वे नवीन कल्पनाओं से काव्य को समृद्ध करने में कुशल हैं; कथा को विस्तार देने में सफल हैं।

सामराज कवि का रुक्मिणी हरण:—महाकाव्य के नाम से प्रसिद्ध सामराज कवि का रुक्मिणी हरण मराठी की अत्यन्त सुन्दर रचना है। इस कवि के काल-निर्णय के विषय में मराठी इतिहासकारों तथा आलोचकों के बीच बड़ा भेद है। यह कोल्हापुर से सम्बन्धित कवि थे। श्रीपंगू के अनुसार वहाँ इन्होंने शक सं० १५५०से १६६० के बीच किसी समय अपने इस काव्य की रचना की

श्री कानिटकर का विचार है कि सामराज का उद्भव काल एकनाथ, विट्ठल कलपूरकर, लोलिम्बराज आदि के पश्चात् है। यह कवि तुकाराम, समर्थ, वामन पण्डित, नागेश, जयराम तथा शिवभारतकार परमानन्द का समकालीन रहा था तथा वेणूबाई, विट्ठल बीडकर तथा आनन्द तनय इनके पश्चात् हुए। इस प्रकार इनके ग्रंथ की रचना १५७० के आसपास की होनी चाहिये। अस्तु,

सामराज कवि ने अपने काव्य के लिये नाथ के स्वयम्वर से सामग्री ग्रहण की है। कानिटकर महोदय ने यहाँ तक कह दिया है कि सामराज ने नाथ के साहित्य की चोरी की है। नाथ के अतिरिक्त इनके हरण में भागवत के दशम स्कन्द के ४१ तथा ५०, माघ काव्य के ३ तथा १३ सर्ग, नैषधचरित के सर्ग ४ तथा १५, रघुवंश के सर्ग ७ इत्यादि के कतिपय स्थलों का भी उपयोग किया है। सामराज ने स्वयं ऋण स्वीकार करते हुए कहा भी है :—

जे बोलिली भागवतीं पुराणीं। विस्तारिली जी पुरुषीं पुराणीं ॥

ऐसी कथा ही मुझे कहनी है।

सामराज का यह काव्य लौकिक दृष्टि से ही लिखा गया है। फिर भी उन्होंने अपने ग्रंथ का समर्पण भगवान की सेवा में करते हुए कहा है :—

आराधनी अन्य उपाय नाहीं। समर्पितों याच उपायनाही ॥

संस्कृत-साहित्य की पृष्ठभूमि पर पल्लवित प्रस्तुत काव्य की संस्कृत पद्धति के अनुसार ही रचना भी हुई है। संस्कृत ग्रंथों के नवीन प्रसंग, सर्गों का संस्कृत के अनुसार नाम, अमित परिमाण में संस्कृत शब्दों का प्रयोग, संस्कृतबहुल दीर्घ समास, संस्कृतानुकूल वाक्य रचना, अलंकार प्रयोग आदि सभी इस बात के प्रमाण हैं कि यह ग्रंथ संस्कृत काव्य से अत्यधिक प्रभावित है। वर्णनों के अन्तर्गत दूसरे सर्ग के आरम्भ में भीमक राजा तथा उसका प्रजा-पालन वर्णन 'रघुवंश' से प्रभावित है। रुक्मिणी की माता के गर्भ का वर्णन 'शाकुन्तल' के तृतीय अंक में किये गये वर्णन के समान है। तृतीय सर्ग में रुक्मी द्वारा कृष्ण-निन्दा 'कुमारसम्भव' में बटु द्वारा शिव-निन्दा से प्रभावित है तथा रुक्मिणी का नखशिख वर्णन पार्वती के नखशिख वर्णन से समानता रखता है। यद्यपि प्रसाद गुण की रक्षा की गई है तथापि संस्कृत पदावली के कारण कहीं कहीं दुर्बोधता भी देखी जा सकती है।

ग्रंथ के पहले सर्ग में संसार समुद्र का उत्कृष्ट रूपक उपस्थित किया गया है। दूसरे सर्ग में रुक्मिणी जन्म, उसकी बाल्यावस्था, तीसरे में तारुण्य तथा कृष्ण-वियोग जनित विरह, चौथे में सुदेव ब्राह्मण द्वारा पत्रिका-प्रेषण, सुदेव का गमन, उसकी मनःस्थिति आदि कई स्थल काव्य की दृष्टि से अत्यन्त रमणीय बने है। सातवें सर्ग में विवाह के लिये आई हुई बारात और उनका विनोद-मय चित्रण, देशदेशान्तर के रहन-सहन का परिचय, स्वभाव-वैचित्र्य का वर्णन, भिन्न भिन्न दार्शनिक मण्डलियों का परस्पर विवाद आदि की योजना जितनी ही मौलिक है उतनी ही रोचक, मोहक और आकर्षक भी। सामराज ने विनोद की जैसी योजना की है वह अनुपमेय है। इसके लिये उन्होंने विवाह के समय के अनेक ऐसे प्रसंग ढूंढ़ लिये है जो स्वाभाविक भी है और रोचक भी। किन्तु इस विनोद में कहीं भी हीनता की गंध नहीं मिलती। रुक्मिणी के विरहताप, सुदेव ब्राह्मण की पत्नी की झल्लाहट, रुक्मिणी के ससुराल जाते समय उसकी माता के हृदय की करुण स्थिति, रुक्मिणी को दिया गया उपदेश आदि प्रसंग कवि-प्रतिभा के प्रमाण है। इन प्रसंगों में सुदेव की पत्नी की तलमलाहट तो एकदम मौलिक कल्पना भी है। कवि का कल्पना-स्वातन्त्र्य, वर्णन--कौशल, रमणीय प्रसंगों की उद्भावना और निर्वाह, स्वाभाविक वर्णन आदि सभी एक से एक प्रशंसनीय है। कवि ने भिन्न भिन्न रसों की वह सरस रसधार बहाई है कि पाठक का मग्न हो जाना सहज है। रुक्मिणी की आतुरता, तल्लीनता, प्रेम, चातुर्य आदि सभी अत्यन्त कुशल लेखनी का चमत्कार है। रुक्मिणी द्वारा स्वप्न में कृष्ण के दर्शनों का शब्द-चित्र भी रमणीय है। पाँचवें सर्ग में पत्र पढ़ने का वर्णन श्रीमद्भागवत से प्रभावित है। किन्तु कवि ने इसके द्वारा रुक्मिणी के हृदय की अनन्यता प्रदर्शित करने मे सफलता प्राप्त की है। सातवें सर्ग में रुक्मिणी गौरी पूजन के लिये जाती है। उस समय उसकी माता का उपदेश अत्यन्त ग्राह्य तथा सरस है। इस स्थल पर माता की हृदयाकुलता और उसका प्रेम मुखर हो उठा है। माता ने रुक्मिणी को न केवल ऐहिक दृष्टि से ही उचित उपदेश दिया है बल्कि पारमार्थिक दृष्टि भी वह भूल नहीं पाई है।

इन प्रसंगों के अतिरिक्त कवि ने जिस सफलता से प्रातः, सायं आदि

अथवा प्रकृति का वर्णन किया है वह निश्चय ही सराहनीय है। मानव प्रकृति में सामराज की जितनी पैठ थी उसमे कम बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य का आकर्षण उन्हें न था। प्रसाद तथा माधुर्य के सम्मिलन से उनकी यह रचना एकदम अनुपम हो उठी है। आपने संध्या अथवा चन्द्रोदय का वर्णन संस्कृत कवियों के अनुसार किया है। ऐसे स्थलों पर कवि की प्रसाद गुण की योजना तथा उसका भाषाधिकार देखते ही बनता है। आपने स्थल, काल तथा प्रसंगों का वर्णन भी चतुराई से निबाहा है।

प्रस्तुत काव्य में अलंकारों का आधिक्य है किन्तु उससे काव्य की प्रकृति पराभूत नही हो सकी है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अलकारों के सौन्दर्य का संसर्ग पाकर सामराज की कविता-कामिनी खिल उठी है, उसके यौवन मे निखार और उभार आ गया है। भाषा संस्कृत-प्रचुर होते हुए भी फारसी आदि को ग्रहण करने में संकोच नहीं किया गया है। काव्य जहाँ एक ओर सस्कृत शैली का अनुकरण करता दीखता है वहाँ मराठी काव्य की श्रेणी मे बैठने की भी सामग्री उसमे है। तत्कालीन आचार विचार, रहन-सहन, शब्द, वस्त्र, आभूषण आदि का भी समावेश कर लिया गया है। कल्पना सौन्दर्य, पदलालित्य, प्रतिभा-प्रदर्शन, सरसता, रस परिपाक, बहुज्ञता, वर्णन-कौशल, आदि के विचार से मराठी में यह ग्रंथ निश्चय ही अपना विशेष महत्व रखता है। छन्दों की भिन्नता भी इस काव्य की विशेषता है जो एकनाथ के स्वयम्वर मे नही पाई जाती। प्रत्येक सर्ग के अन्त मे कवि ने निम्न छन्द दिया है :—

कथा हे कृष्णाची सकल जगदानन्दजननी, मनोभावे ईचे श्रवण करिजे नित्य सुजनीं ।
प्रसंगीं श्रोत्याचे सकलहि महादोष हरती, यदुत्तंसप्रेमे विषयरस गोडी विसरती ॥

जिससे पता चलता है कि कवि ने केवल ऐहिक दृष्टिकोण ही नहीं रखा है बल्कि वह इसके माहात्म्य से परिचित है और दूसरों को भी परिचित कराना चाहता है। केवल अन्तिम सर्ग में इसके आगे भी दो छन्द और लिखे गये है। संस्कृत पद्धति का अनुसरण करते हुए प्रत्येक सर्ग के अन्त मे प्रसंग की सूचना देते हुए एक वाक्य लिखा गया है। उदाहरणार्थ, "इति श्रीमद्भगवद्भक्तपदानुरक्त कवि सामराज विरचिते रुक्मिणीहरणकाव्ये कृष्णजन्मो नाम प्रथमः सर्गः ॥" आदि। काव्य केवल आठ सर्गों में विभाजित है और कथा केवल

रुक्मिणी-हरण तक ही सीमित है। रुक्मी तथा कृष्ण आदि का युद्ध-प्रसंग इसमें समाविष्ट नहीं है। यही कारण है कि कवि ने इसे केवल रुक्मिणीहरण नाम दिया है। इतनी छोटी कथा में जिस सफलता के साथ कवि ने अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है, वैसी काव्य-प्रतिभा प्रत्येक में नहीं पाई जाती। बहिरंग तथा अंतरंग दोनों दृष्टियों से काव्य अपनी छटा में अनूठा है। इसमें पहले सर्ग में ८५, दूसरे में ११६, तीसरे में १३४, चौथे में १३५, पाँचवे में १४३, छठे में १६६, सातवें में १७५ तथा आठवें में १७९ छन्द हैं। इस प्रकार काव्य में कुल मिलाकर १०३३ छन्द हैं।

यहाँ मराठी काव्यों से उद्धरण देना अथवा समस्त काव्यों का विवेचन करना संभव नहीं है। अतएव हमने संकेत मात्र से सन्तोष किया है। विशेष अध्ययन तथा तुलना के लिये पाठक मूल ग्रंथों का उपयोग कर सकते हैं। हमने केवल उन काव्यों के विषय में अपनी ओर से वर्णन करना उचित समझा जिनका मराठी साहित्य में विशेष सम्मान है। अन्य ग्रंथों में से सभी प्रकाशित भी नहीं हुए हैं। अतएव उनकी उपलब्धि का भी एक प्रश्न था। इतना होने पर भी हमारा विश्वास है कि पाठकों को इस सम्बन्ध में पर्याप्त निर्देश मिल जाने के कारण मराठी के एतत्सम्बन्धी अत्युत्तम काव्यों का परिशीलन करने का ही अवसर नही मिल जायगा बल्कि आध्यात्मिक तथा ऐहिक काव्यों की दृष्टि से भी तुलना करने के लिये सामग्री मिल जायगी। इतना हम अवश्य कह देना चाहते हैं कि मराठी-काव्य इस प्रसंग को लेकर हिन्दी काव्य से कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा है, उसमें हिन्दी से कहीं अधिक काव्यों की रचना हुई है। साथ ही उसका गौरव इस बात में भी है कि उसमें महा-काव्य अथवा सर्गबद्ध काव्यों की रचना करके संस्कृत काव्यों की परिपाटी का अनुसरण किया गया है और इस काम में कवियों को सफलता प्राप्त हुई है। कल्पना की सजीवता और मौलिकता भी इन काव्यों मे दर्शनीय है। जिस प्रकार संस्कृत में शिशुपालवध अथवा किरातार्जुनीय जैसे प्रसंगों पर, जो महा-काव्य की कथा के लिये अत्यन्त छोटे हैं, ऐसे अमर काव्यों की रचना की गई कि काव्य का नाम लुप्त होकर कवि के नाम से ही उनकी प्रसिद्धि हुई और इतने छोटे प्रसंग भी महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किये गये, वैसे ही मराठी

कवियो ने भी इस प्रसंग को लेकर अपनी प्रतिभा का सम्यक् प्रदर्शन किया है। इसके लिये मराठी-काव्य पठनीय है और उन कवियों की कवित्व शक्ति और कौशल भी प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है। हिन्दी में वेलि को छोड़ दूसरा कोई भी काव्य इस विषय पर उतना प्रचलित नहीं है जितना मराठी में नाथ तथा सामराज के काव्य प्रचलित हैं। वेलि का प्रचार भी उनके प्रचार को देखते हुए अभी कम है, प्राचीन काल में उसे वेद की महिमा से भले ही मण्डित किया गया हो। सूर, तुलसी की भक्ति, रीतिकालीन शृंगार-परक कविता अथवा वेलि की राजस्थानी भाषा जैसे कारणों से भी इस काव्य को विशेष पनपने का अवसर न मिला। यों कवित्व में यह ग्रंथ भी जितना है उतना अनूठा है और सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें किसी कवि का अनुकरण इस स्थिति तक नहीं पहुँचा है कि वेलिकार की मौलिक सूझ बूझ दब जाय। वेलि की यह अपनी विशेषता है कि पुराने प्रसंगों पर भी कवि ने नवीन काव्य-प्रासाद के निर्माण की अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की है। नये प्रसंगों और कल्पनाओं के साथ साथ कवि ने पुरानी वस्तु को भी अपनी नवनवोन्मेषशालिनी काव्य-प्रतिभा से भास्वर कर दिया है, उज्वल बना दिया है। अस्तु, वेलि अपनी बाह्य तथा आन्तरिक छवि में ऐसी छविमय है कि इतर भाषाओं के श्रेष्ठ काव्यों के साथ इसकी भी गणना की जा सकती है।

वेलि क्रिसन रुकमणी री

(मूल पाठ तथा सरलार्थ)

वेलि क्रिसन रुकमणी री

(मूल पाठ)

वेलि रूपक

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ,
महि थाणौ पृथुदास मुख।
मूळ ताळ जड़ अरथ मण्डहे,
सुथिर करणि चढि छाँह सुख॥

पत्र अक्खर दळ द्वाळाजस परिमळ,
नव रस तन्तु त्रिधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सु भगति मंजरी,
मुगति फूल फळ भुगति मिसि॥

अथ वेलि क्रिसन रुकमणी री

राठौड़राज प्रिथीराज री कही

अथ मंगलाचरण

परमेसर प्रणवि, प्रणवि सरसति पुणि
सदगुरु प्रणवि त्रिण्हे ततसार[1]।
मंगळ रूप गाइजै माहव
चार सु ए ही मंगळचार॥ १॥
आरम्भ मैं कियो जेणि उपायौ[2]
गावण गुणनिधि हूँ निगुण।
किरि कठचीत्र[3] पूतळी निज करि
चीत्रारै[4] लागी चित्रण॥ २॥
कमळापति तणी[5] कहेवा कीरति
आदर करे जु आदरी[6]।
जाणै[7] वाद माँडियौ जीपण[8]
वागहीण वागेसरी॥ ३॥

कथा की महत्ता और कवि की असमर्थता

सरसती न सूझै ताइ तूं सोझै[9]
वाउवौ[10] हुऔ कि वाउलौ[11]।
मन सरिसौ धावतौ मूढ़ मन
पहि[12] किम पूजै[13] पाँगुलौ[14]॥ ४॥

शब्दार्थ—१–तत्व का सार अथवा तत्व का तत्व। २–उत्पादित किया। ३–काष्ठचित्रित। ४–चित्रकार को ही। ५–प्रति, की, का। ६–स्वीकार किया, आदर किया। ७–मानो। ८–जीतने के लिये। ९–सूझ से प्रेरणार्थक अथवा अन्वेषण करना। १०–वातरोग ग्रस्त। ११–पागल, वातुलकः। १२–परन्तु। १३–पूरा होना, पहुँचना। १४–पंगु।

जिणि सेस सहस फण फणि, फणि, बि, बि[1] जीह
जीह जीह नवनवौ जस ।
तिणि ही पार न पायौ त्रीकम[2]
वयण डेडरां[3] किसौ वस[4] ॥ ५ ॥
स्त्रीपति कुण सुमति तूझ गुण जु तवति[5]
तारू[6] कवण जु समुद्र-तरै ।
पंखी कवण गयण[7] लगि पहुचै
कवण रंक करि मेरु करै ॥ ६ ॥
जिण दीध जनम जगि मुखि दे जीहा
क्रिसन जु पोखण भरण करै ।
कहण तणौ तिणि तणौ[8] कीरतन
स्त्रम कीधा विणु केम सरै ॥ ७ ॥
सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा
सुकवि अनेक ते एक सन्थ[9] ।
त्रीवरणण[10] पहिलौ कीजै तिणि
गूंथियै जेणि सिंगार ग्रन्थ ॥ ८ ॥
दस मास उदरि धरि वळे[11] वरस दस
जो इहां परिपाळै जिवड़ी ।
पूत हेत[12] पेखतां पिता प्रति
वळी विसेखै[13] मात वड़ी ॥ ९ ॥
दक्खिण दिसि देस विदरभति दीपति
पुर दीपति अति कुंवणपुर ।

शब्दार्थ :—१–द्वि, दो । २–त्रिविक्रम । ३–मेंढक । ४–वश, सामर्थ्य । ५–स्तवति, स्तुति करता है । ६–तैराक । ७–गगन । ८–के, का । ९–सन्ति, हैं । १०–स्त्री का वर्णन । ११–फिर । १२–पुत्रहित, पुत्रवत्सलता । १३–विशेष ।

राजति एक भीखमक[1] राजा
सिरहर[2] अहि नर असुर सुर ॥१०॥
पंचपुत्र ताइ छठी सुपुत्री
कुँअर रुकम कहि विमळ कथ ।
रुकमबाहु अनै रुकमाळी
रुकमकेस नै रुकमरथ ॥११॥
रामा[3] अवतार नाम ताइ रुषमणि
मानसरोवरि मेरुगिरि ।
बाळकति[4] करि[5] हंस चौ[6] बाळक
कनकवेलि बिहुँ[7] पान किरि ॥१२॥
अनि[8] वरिस वधै[9] ताइ मास वधै ए
वधै मास ताइ पहर वधन्ति ।
लखण बत्रीस[10] बाळलीलामै
राजकुँअरि ढूलड़ी[11] रमन्ति ॥१३॥
संग सखी सोळ कुळ वेस समाणी[12]
पेखि कळी[13] पदमिणी परि[14] ।
राजति राजकुँअरि रायअंगण[15]
उडीयण[16] वीरज[17] अम्ब हरि[18] ॥१४॥

शब्दार्थ :—१—भीष्मक । २—शिरधर, शिरोधार्य, श्रेष्ठ । ३—लक्ष्मी । ४—बाल-क्रीड़ा । ५—करती हुई । ६—का—मराठी प्रयोग । ७—दो । ८—अन्यत्, अन्य । ९—वर्धित होती है । १०—बत्तीस लक्षण :—१८ सत्वज अलंकार, ३ अंगज तथा ७ अयत्नज अलंकार । ११—गुड़िया । १२—समान आयु की । १३—मुग्धा नायिका अथवा कली । १४—भाँति । १५—राजप्रासाद का आँगन । १६—तारागण, उडुगन, । १७—रजहीन, निर्मल । १८—चन्द्र ।

सैसव तनि सुखपति[1] जोवण न जाग्रति
वेस सन्धि[2] सुहिणा[3] सु वरि[4] ।
हिव[5] पळपळ चढतौ जि होइसै
प्रथम ज्ञान एहवो[6] परि ॥१५॥
पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ[7] प्राची
अरुण कि अरुणोद अम्बर ।
पेखे किरि जागिया पयोहर
संझा वन्दण[8] रिखेसर[9] ॥१६॥
जम्प[10] जीव[11] नहीं आवतौ जाणे
जोवण जावणहार[12] जण[13] ।
बहु विलखी वीछड़तो बाळा
बाळ सँघातो बाळपण ॥१७॥
आगळि पित मात रमन्तो अंगणि
काम विराम[14] छिपाड़ण[15] काज ।
लाजवतो अंगि एह लाज विधि
लाज करन्तो आवै लाज ॥१८॥
सैसव सु जु सिसिर वितीत थयौ सहु
गुण गति मति अति एह गिणि ।
आप तणौ परिग्रह[16] ले आयौ
तरुणापौ रितुराउ[17] तिणि ॥१९॥

शब्दार्थ :—१—सुषुप्ति अवस्था जिस अवस्था में सोया हुआ व्यक्ति किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है। 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति, तत्सुषुप्तम्।' माण्डूक्योपनिषद्। २—वयः सन्धि। ३—स्वप्नावस्था। ४—की भाँति। ५—अब। ६—इस प्रकार का, का। ७—हुआ। ८—सन्ध्यावन्दन। ९—ऋषीश्वर। १०—शान्ति, जल्प। ११—हृदय। १२—जानेवाला, अस्थिर। १३—जान कर। १४—काम के निवास-स्थान, कुच आदि। १५—छिपाने के। १६—परिवार। १७—ऋतुराज।

दल[1] फूलि विमळ वन नयण कमळ दळ
कोकिल कण्ठ सुहाइ सर[2] ।
पाँपणि पंख सँवारि नवी परि[3]
भ्रूहाँरे[4] भ्रमिया[5] भ्रमर ॥२०॥
मळयाचळ सुतनु मळं[6] मन मौरे[7]
कळी कि काम अंकूर कुच ।
तणौ दखिणदिसि दखिण त्रिगुणमं[8]
ऊरध सास समीर उच[9] ॥२१॥
आणंद सु जु उदौ[10] उहास[11] हास अति
राजति रद रिखपन्ति[12] रुख[13] ।
नयण कमोदणि दीप[14] नासिका
मेन[15] केस राकेस मुख ॥२२॥
वधिया[16] तनि[17] सरवरि[18] वेस वधन्तो
जोवण तणौ तणौ जळ जोर ।
कामणि करग[19] सु बाण काम रा
दोर[20] सु वरुण तणा किरि डोर ॥२३॥
कामिणि कुच कठिन कपोळ करी किरि
वेस नवी विधि वाणि वखाणि ।
अति स्यामता विराजति ऊपरि
जोवण दाण[21] दिखाळिया जाणि ॥२४॥
धरधर[22] शृंग सधर[23] सुपीन पयोधर
घणीं खीण कटि अति सुघट ।

शब्दार्थ :—१—शरीरावयव। २—स्वर। ३—रीति से। ४—भौंह। ५—मलय-तरु। ६—मंजरी युक्त। ७—कहना चाहिये। ८—प्रकट हुआ। ९—प्रकाश। १०—ऋक्ष-पंक्ति, नक्षत्र समूह। ११—समान। १२—दीपशिखा। १३—मदन। १४—बढ़ना। १५—शरीर। १६—शर्वरी, रात्रि। १७—कराग्र। १८—हाथ, भुजा। १९—मदजल। २०—धराधर। २१—कठोर।

पदमणि नाभि प्रियाग तणी परि
त्रिवळि त्रिवेणी स्त्रोणि तट ॥२५॥
नितम्बणी जंघ सु करभ[1] निरूपम
रम्भ[2] खम्भ विपरीत रुख ।
जुअळि[3] नाळि[4] तसु गरभ[5] जेहवी[6]
वयणै वाखाणै विदुख[7] ॥२६॥
ऊपरि पदपलव पुनर्भव[8] ओपति[9]
न्रिमळ कमळदळ ऊपरि नीर ।
तेज कि रतन कि तार[10] कि तारा
हरिहंस[11] सावक ससिहर[12] होर ॥२७॥

रुक्मिणी की शिक्षा

व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि
वेद च्यारि खट अंग विचार ।
जाणि चतुरदस चौसठि जाणी
अनँत अनँत तसु मधि अधिकार ॥२८॥

वर प्राप्ति की इच्छा से रुक्मिणी द्वारा वन्दना

साँभळि[13] अनुराग थयो मनि स्यामा
वर प्रापति वंच्छती वर ।
हरि गुण भणि[14] ऊपनी जिका[15] हर[16]
हर तिणि वन्दे गवरि[17] हर ॥२९॥

शब्दार्थ :—१–हाथी का बच्चा। २–रम्भा, केला। ३–युगल। ४–नलिका। ५–मध्य भाग। ६–यादृशी, जैसी। ७–विद्वान्। ८–नख। ९–ज्योति। १०–प्रकाश। ११–हरि अर्थात् कपिल या ताँबे के रंग का। हंस अर्थात् सूर्य। हरिहंस—बालसूर्य। १२–बालचन्द्रमा। १३–समझ कर। १४–पढ़ना। १५–या का, जो कोई। १६–उत्कट इच्छा, वासना। १७–गौरी।

पिता द्वारा कृष्ण को वर बनाने की इच्छा

ईखें[1] पित मात एरिसा[2] अवयव[3]
विमळ विचार करै वीवाह ।
सुन्दर सूर सोळ कुल करि सुध
नाह किसन सरि सूझै नाह[4] ॥३०॥

पुत्र द्वारा पिता का विरोध

प्रभणन्ति पुत्र इम मात पिता प्रति
अम्हाँ[5] वासना वसो इसी ।
ग्याति[6] किसो[7] राजवियाँ[8] ग्वाळाँ
किसी जाति कुळ पाँति किसी ॥३१॥
सु जु करै अहीराँ सरिस सगाई
ओलाँडे[9] राजकुळ इता ।
विधपणै मति कोइ वेसासो[10]
पाँतरिया[11] माता इ पिता ॥३२॥
प्रभणै पित मात पूत मत पाँतरि[12]
सुर नर नाग करै जसु[13] सेव ।
लिखमी समी रुकमणी लाडी[14]
वासुदेव सम सुत वसुदेव ॥३३॥
मावीत्र[15] म्रजाद मेटि बोलै मुखि
सुवर न को सिसुपाळ सरि ।
अति अँबु कोपि कुँवर ऊफणियो
वरसाळू[16] वाहळा[17] वरि[18] ॥३४॥

शब्दार्थ :—१–देखकर । २–ऐसा, ईदृश । ३–चिह्न । ४–नहीं । ५–हमारे, मेरे । ६–जाति सम्बन्ध । ७–कैसी । ८–राजवंशी, क्षत्रिय । ९–उलांघ कर । १०–विश्वास करो । ११–बुद्धि भ्रष्ट होना । १२–मूर्खता मत कर । १३–जिसकी । १४–नववधू । १५–मातापिता, मातृ पितृ । १६–बरसने को तैयार । १७–बादल । १८–भाँति ।

पुत्र का विप्र के यहाँ जाकर शिशुपाल को निमन्त्रण भेजना

गुरु[1] गेहि गयौ गुरु[2] चूक जाणि गुरु[3]
नाम लियौ दमघोख नर[4] ।
हेक[5] वडौ हित हुवै पुरोहित
वरै सुसा[6] सिसुपाळ वर ॥३५॥

पुरोहित का चन्देवरी पुरी पहुँचना

विप्र विलँव न कीध जेणि आइस[7] वसि[8]
बात विचारि न भली बुरी ।
पहिलुं इ[9] जाइ लगन ले पुहतौ[10]
प्रोहित चन्देवरी पुरी ॥३६॥

शिशुपाल का प्रसन्न होकर कुन्दनपुर आना

हुइ हरख घणै सिसुपाळ हालियौ[11]
ग्रंथे गायौ जेणि गति ।
कुण जाणै सँगि हुआ केतला
देस देस चा देसपति ॥३७॥

शिशुपाल के स्वागत में कुन्दनपुर की शोभा

आगमि सिसुपाळ मण्डिजै[12] ऊछव
नीसाणे[13] पड़ती निहस[14] ।
पटमण्डप छाइजै कुंदणपुरि
कुन्दणमै[15] बाझै[16] कळस ॥३८॥

शब्दार्थ :—१–शिक्षक। २–मातापिता। ३–भारी, कठिन। ४–वीरपुत्र। ५–एक। ६–स्वसा, बहिन। ७–आयसु, आज्ञा। ८–वश में होकर। ९–ही। १०–पहुँचा। ११–चला। १२–मनाए जाते हैं। १३–नगाड़ा। १४–प्रहार। १५–स्वर्णमय। १६–बाँधे जाते हैं।

ग्रिह ग्रिह प्रति भींति सुगारि[1] हींगलू[2]
ईंट फिटकमै चुणी अचम्भ ।
चन्दण पाट[3] कपाट ई चन्दण
खुम्भी[4] पनाँ[5] प्रवाळी[6] खम्भ ॥३९॥
जोइ[7] जळद पटळ[8] दळ सांवळ ऊजळ
घुरै[9] नीसाण सोइ घणघोर ।
प्रोळि प्रोळि[10] तोरण परठीजै[11]
मण्डै[12] किरि तण्डव[13] गिरि मोर ॥४०॥
राजान जान[14] सँगि हुंता जु राजा
कहै सु दीध[15] ललाटि कर ।
दूरा नयर[16] कि कोरण[17] दीसै
धवळागिरि कि ना धवळहर[18] ॥४१॥

पुरनारियों की प्रसन्नता तथा रुक्मिणी की विकल दशा

गावै करि मंगळ चढ़ि चढ़ि गौखे
मनै सूर[19] सिसुपाळ मुख ।
पदमिणि अनि फूलै परि पदमिणि
रुखमिणी कमोदणी रुख ॥४२॥

शब्दार्थ :—१—हींगलू की गार। २—ईगुर, चीन देश में मिलने वाली चटकीली लाल मिट्टी जो बेंदी के काम में लाई जाती है। ३—छत में लगाए जाने वाले लकड़ी के तख्ते। ४—कुम्भी, खम्भे का नीचे का वह भाग जो ऊपर के भाग से कुछ बाहर निकला रहता है तथा जिस पर शिल्प भी रहता है। ५—हरे रंग का जवाहर पत्थर। ६—मूंगिया। ७—१. जो या जो भी, २. पण्डाल, ३. स्त्री। ८—१. वस्त्र, पर्दा, २. समूह। ९—घहराना। १०—प्रतोलि, प्रवेश-द्वार। ११—स्थापित किए जाते हैं, प्रस्थापित, प्रस्थीयते। १२—चित्रित। १३—आनन्द का प्रतीक ताण्डव नृत्य। १४—यान, सवारी। १५—दिए हुए या देकर, दत्त। १६—१. नगर, २. निकट। १७—श्वेत मेघ की कोर। १८—धवलगृह। १९—सूर्य।

जाळी मगि चढ़ि चढ़ि पन्थी जोवै
भुवणि[1] सुतन मन तसु भिळित[2] ।
लिखि राखे कागळ नख लेखणि
मसि काजळ आंसू मिळित ॥४३॥

रुक्मिणी को ब्राह्मण का दर्शन तथा उसके द्वारा सन्देश द्वारिका भेजना

तितरै[3] हेक दीठ पवित्र गळित्रागौ[4]
करि प्रणपति लागी कहण ।
देहि सँदेस लगी दुवारिका
वीर[5] वटाऊ ब्राहमण ॥४४॥
म म करिसि ढील हिव[6] हुए हेकमन
जाइ जादवाँ इन्द्र[7] जत्र ।
माहरै[8] मुख हुँता ताहरै मुखि
पग वन्दण करि देइ पत्र ॥४५॥

संध्या-वर्णन तथा द्विज का कुन्दनपुर में ही सो जाना

गई रवि किरण ग्रहे थई गहमह[9]
रहरह[10] कोइ वह[11] रहे[12] रह[13] ।
सु जु दुज पुरा नीसरे सूतौ
निसा पड़ी चालियौ नह[14] ॥४६॥
दिन लगन सु नैड़ो दूरि द्वारिका
भौ[15] पहुचेस्यां किसी भति[16] ।
सांझ सोचि कुन्दणपुरि सूतौ
जागियौ परभाते जगति[17] ॥४७॥

शब्दार्थ :—१–भुवन अथवा भवन में। २–भेंट करना, मिलना। ३–उतने में, तति, कति। ४–यज्ञोपवीतधारी। ५–भाई। ६–अब। ७–यादवेन्द्र, कृष्ण। ८–मेरे। ९–जगमगाहट। १०–रह जाओ कहते हुए। ११–चलना। १२–रह गये। १३–राह। १४–नहीं। १५–भय। १६–भाँति। १७–जगन्निवासी भगवान का स्थान द्वारिका।

द्वारिका-वर्णन

धुनि वेद सुणति कहुँ सुणति संख धुनि
नद[1] झल्लरि[2] नीसाण नद ।
हेका[3] कह हेका हीलोहल[4]
सायर[5] नयर[6] सरीख सद[7] ॥४८॥
पणिहारि[8] पटळ[9] दळ[10] वरण चँपक दळ
कळस सीस करि कर कमळ ।
तीरथि तीरथि जंगम तीरथ[11]
विमळ ब्राहमण जळ विमळ ॥४९॥
जोवै[12] जाँ[13] गृहि गृहि जगन[14] जागवै[15]
जगनि जगनि कीजै तप जाप ।
मारगि मारगि अम्ब मौरिया
अम्बि अम्बि[16] कोकिल आलाप ॥५०॥

ब्राह्मण का चकित होना तथा अन्तःपुर जाना

सम्प्रति[17] ए किना[18] किना ए सुहिणो[19]
आयो कि हूँ अमरावती ।
जाइ[20] पूछियो तिणि इमि जम्पियो
देव सु[21] आ दुआरामती ॥५१॥
सुनि स्रवणि वयण मन माहि थियो सुख
क्रमियो[22] तासु प्रणाम करि ।

शब्दार्थ :—१–शब्द। २–पूजा के समय बजाने का वाद्य। ३–एक ओर। ४–हिल्लोल, हल्ला। ५–सागर। ६–नगर। ७–शब्द। ८–पनिहारिन। ९–समूह। १०–१.समूह, २.पुष्पसमूह। ११–चल तीर्थ। १२–देखना। १३–जहाँ। १४–यज्ञाग्नि। १५–जगती हैं। १६–प्रत्येक आम पर। १७–प्रत्यक्ष। १८–क्या नहीं। १९–स्वप्न। २०–जिससे। २१–तो, यह तो। २२–आगे चला।

पूछत पूछत ग्यौ अन्तहपुरि
हुऔ सुदरसण तणौ[1] हरि ॥५२॥
वदनारविन्द गोविन्द वीखियै[2]
आलोचै[3] आपो आप सूं ।
हिव रुषमणी, कृतारथ हुइस्यै
हुऔ कृतारथ पहिलौ हूँ ॥५३॥

कृष्ण द्वारा स्वागत

ऊठिया जगतपति अन्तरजामी
दूरन्तरी आवतौ देखि ।
करि वन्दण आतिथ ध्रम कीधो
वेदे कहियौ तेणि[4] विसेखि ॥५४॥
कस्मात् कस्मिन् किल[5] मित्र किमर्थं
केन कार्य परियासि कुत्र ।
ब्रूहि[6] जनेन येन भो ब्राह्मण
पुरतो[7] मे प्रेषितम् पत्र ॥५५॥

पत्र देखकर कृष्ण की अवस्था, विप्र द्वारा पत्र-पाठ

कुन्दणपुर हुँता वसां[8] कुन्दणपुरि
कागळ दीधो एम कहि ।
राज लगैं[9] मेल्हियौ[10] रुषमणी
समाचार इणि माहि[11] सहि[12] ॥५६॥
आणन्द लखण रोमांचित आँसू
वाचत गदगद कँठ न वणै ।

शब्दार्थः—१–का । २–देखकर । ३–सोच विचार करता है । ४–से । ५–अवश्य । ६–कहो । ७–मेरे सम्मुख । ८–रहता हूँ । ९–आपके लिये । १०–भेजा है । ११–इसमें । १२–सभी ।

कागळ करि दीधौ करुणाकरि
तिणि तिणि होज ब्राह्मण तणे ॥५७॥
देवाधिदेव चे[1] लाधे[2] दूवे[3]
वाचण लागौ ब्राह्मण ।
विधि पूरवक कहे वीनवियौ
सरण तूझ असरण सरण ॥५८॥
बळिबन्धण मूझ स्याळ[4] सिंघ बळि
प्रासे[5] जो बीजौ[6] परण ।
कपिळ धेनु दिन[7] पात्र कसाई
तुळसी करि चाण्डाळ तणे ॥५९॥
अम्ह कजि तुम्ह छण्डि अवर वर आणे
ऐठित[8] किरि होमे अगनि ।
साळिगराम सूद्र ग्रहि संग्रहि[9]
वेदमन्त्र म्लेच्छां वदनि ॥६०॥
हरि हुए वराह हए हरिणाकस
हूं ऊधरी पताळ हू ।
कहौ तई[10] करुणामे केसव
सीख दीध किण तुम्हां सूं[11] ॥६१॥
आणे सुर असुर नाग नेत्रे[12] नहि[13]
राखियौ जई मन्दर रई[14] ।
महण[15] मथे मूं[16] लीध महमहण[17]
तुम्हां किणे सीखव्या[18] तई ॥६२॥

शब्दार्थ :—१–से। २–लब्ध करके, पाकर। ३–प्रार्थना, आज्ञा। ४–शृगाल, गीदड़। ५–खाये। ६–द्वितीय, अन्य। ७–दी। ८–उच्छिष्ट वस्तु। ९–स्थापना। १०–तदा, उस समय। ११–को, तुमको। १२–नागनेत्रै–मथानी की रस्सी। १३–नाथकर। १४–पर्वत रूपी मन्थन दण्ड। १५–महार्णव, महासमुद्र। १६–मुझको। १७–महासमुद्र का मन्थन करने वाले। १८–शिक्षा दी।

रामा अवतारि वहे[1] रणि रावण
किसो सीख करुणाकरण ।
हूँ ऊधरी त्रिकुटगढ़[2] हूँती
हरि बन्धे[3] वेळाहरण[4] ॥६३॥
चौथीआ वार वाहर करि चत्रभुज
संख चक्र धर गदा सरोज ।
मुख करि किसूं कहीजै माहव
अन्तरजामी सूं आळोज[5] ॥६४॥
तथापि रहे न हूँ सकूं बकूं तिणि[6]
त्रिया अनैं प्रेम आतुरी ।
राज दूरि द्वारिका विराजौ
दिन नेड़उ आइयौ दुरी[7] ॥६५॥
त्रिणि[8] दीह[9] लगन वेळा आड़ा[10] तैं[11]
घणूं किसूं कहिजै आ घात[12] ।
पूजा मिसि आविसि पुरखोतम
अम्बिकाळप नयर आरात[13] ॥६६॥

श्री कृष्ण का कुण्डिनपुर को प्रस्थान

सारङ्ग[14] सिळीमुख[15] साथि सारथी
प्रोहित जाणणहार पथ ।
कागळ चौ ततकाळ कृपानिधि
रथ बैठा साँभळि[16] अरथ ॥६७॥

शब्दार्थ :—१—वध किया। २—लंका। ३—बाँधा। ४—समुद्र। ५—आलोच्य, विचार। ६—तेन, इस कारण। ७—अन्य, दूसरे। ८—दुर्दिन। ९—तीन। १०—दिन। ११—बीच में। १२—उससे। १३—आ घात—यह षड्यन्त्र। १४—निकट। १५—विष्णु का धनुष। १६—बाण। १७—समझकर।

सुग्रीवसेन नै मेघपुहुप सम–
वेग बळाहक इसै वहन्ति ।
खँति[1] लागौ त्रिभुवनपति खेड़ै[2]
धर[3] गिरि पुर साम्हा धावन्ति ॥६८॥

पुर के समीप आगमन, रुक्मिणी को सन्देश भंजना ।

रथ थम्भि सारथी विप्र छण्डि रथ
औ[4] पुर हरि बोलिया इम ।
आयौ कहि कहि नाम अम्हीणौ[5]
जा[6] सुख दे स्यामा नै जिम ॥६९॥

रुक्मिणी की चिन्तातुरता तथा शकुन ।

रहिया हरि सही जाणियौ रुषमणि
कीध न इवड़ी ढील कई[7] ।
चिन्तातुर चित इम चिन्तवती
थई छींक[8] तिम धीर थई ॥७०॥

रुक्मिणी को विप्र का दर्शन और उसकी आकुलता ।

चळपत्र पत्र थियौ दुज देखे चित
सकै न रहति न पूछि सकन्ति ।
औ आवै जिम जिम आसन्नौ[9]
तिम तिम मुख धारणा[10] तकन्ति ॥७१॥
सँगि सन्ति सखीजण गुरुजण स्यामा
मनसि विचारि ए कही महन्ति[10] ।

शब्दार्थ :—१–लगन, चतुराई । २–चला रहे हैं । ३–धरिणी । ४–यह । ५–मेरा । ६–जाओ । ७–कभी भी । ८–निकट । ९–आकृति । १०–महती, महान्, महिमा ।

कुससथळी[1] हूँता कुन्दणपुरि
किसन पधार्‌या लोक कहन्ति ॥७२॥
बम्भण मिसि वन्दे हेतु सु बीजो[2]
कही स्रवणि सम्भळी कथ ।
लिखमी आप नमे पाइ लागी
अचरिज को लाधै अरथ[3] ॥७३॥

बलराम का सेना सहित आगमन ।

चढिया हरि सुणि सङ्घरखण[4] चढिया
कटकबन्ध[5] नह[6] घणा किध ।
एक उजाथर[7] कळहिं[8] एहवा[9]
साथी सहु[10] आखाढसिध[11] ॥७४॥
पिण[12] पन्थ वीर जूजुआ[13] पधार्‌या
पुरि भेळा[14] मिळि कियौ प्रवेस ।
जण दूजण[15] सहि[16] लागा जोवण[17]
नर नारी नागरिक नरेस ॥७५॥

कृष्ण तथा बलराम का दर्शन करके पुरवासियों द्वारा उनका वर्णन ।

कामिणि कहि काम काळ कहि केवो[18]
नारायण कहि अवर नर ।
वेदारथ इम कहे वेदवँत
जोग तत्त[19] जोगेसवर ॥७६॥

शब्दार्था :—१–द्वारिका । २–अन्य, द्वितीय । ३–धन । ४–बलराम । ५–सैन्य संग्रह । ६–नहीं । ७–यशस्वी, ओजस्थिर । ८–युद्ध में । ९–ऐसे । १०–सभी । ११–युद्ध में सिद्ध या युद्ध कुशल । १२–पुनः, यद्यपि । १३–भिन्न भिन्न, जुदा जुदा । १४–मिलन । १५–सज्जन दुर्जन । १६–सभी । १७–देखना । १८–कोई अन्य, केऽपि । १९–योगतत्त्व ।

वसुदेव कुमार तणौ मुख वीखें[1]
पुणै सुणै जण आपपर[2] ।
औ रुषमणी तणौ वर आयौ
हर[3] म[4] करौ अनि रायहर[5] ॥७७॥
आवासि[6] उतारि जोड़ि कर ऊभा[7]
जण जण आगं जणौ जणौ ।
राम किसन आया राजा रैं[8]
तो को अचिरज मनुहार तणौ ॥७८॥

रुक्मिणी की सखी द्वारा अम्बिकालय जाने के लिए माता से आज्ञा लेना

सीखावि सखी राखी आखैं[9] सुजि[10]
राणी पूछै रुषमणी ।
आज कहौ तो आप जाइ आवूँ
अम्ब जात्र[11] अम्बिका तणी ॥७९॥
राणी तदि दूवौ[12] दीध रुषमणी
पति सुत पूछि पूछि परिवार ।
पूजा व्याज काज प्री परसण
स्यामा आरँभिया सिणगार ॥८०॥

देवदर्शन की तैयारी में रुक्मिणी का स्नान तथा नखशिख-निरूपण

कुमकुमै मँजण[13] करि धौत[14] वसत[15] धरि
चिहुरे[16] जळ लागौ चुवण ।

शब्दार्थ :—१–देखकर, वीक्ष्य । २–परस्पर । ३–आकांक्षा, स्मर—म्हर—हर । ४–नहीं । ५–राजगृह । ६–निवासस्थान । ७–खड़ा । ८–के यहाँ । ९–कहती है । १०–वही । ११–यात्रा । १२–आज्ञा । १३–मज्जन, स्नान । १४–स्वच्छ, सफेद । १५–वस्त्र । १६–चिकुर, केश ।

छीणे जाणि छछोहा[1] छूटा
गुण मोती[2] मखतूल[3] गुण[4] ॥८१॥
लागी बिहुँ[5] करे धूपणै लीधै
केसपास मुगता[6] करण ।
मन मृग चै कारणै मदन चो
वागुरि[7] जाणे[8] विसतरण[9] ॥८२॥
बाजोटा ऊतरि गादी बैठी
राजकुँअरि स्रिंगार रस[10] ।
इतरै एक आली ले आवी
आनन आगळि[11] आदरस[12] ॥८३॥
कंठ पोत[13] कपोत कि कहुँ नीलकँठ
वडगिरि[14] कालिन्द्री वळी[15] ।
समै भागि[16] किरि सङ्ख सङ्खधर[17]
एकणि[18] ग्रहियौ अंगुळी ॥८४॥
कबरी[19] किरि गुन्थित कुसुम करम्बित[20]
जमुण फेण पावन्न जग ।
उतमंग किरि अम्बर आधो अधि
माँग समारि कुंआर मग[21] ॥८५॥
अणियाळा[22] नयण बाण अणियाला
सजि कुण्डळ खुरसाण[23] सिरि[24] ।

शब्दार्थ :—१–(१) फव्वारा, (२) शीघ्रता सहित। २–मोती का नाम। ३–महर्घ तूल, रेशम। ४–डोरा। ५–दोनों। ६–मुक्त फैलाना। ७–मृग फँसाने का जाल। ८–मानो। ९–विस्तार करना, फैलाना। १०–की कामना से। ११–सम्मुख। १२–आदर्श, शीशा। १३–गले में धारण करने की पवित्री। १४–हिमालय। १५–चारों ओर से घेरना, लिपटना। १६–बीच से, दो भाग। १७–विष्णु। १८–एक से। १९–चोटी। २०–सजाकर गूँथी हुई। २१–आकाश गंगा। २२–अनियारे, नुकीले। २३–शाण, क्षुरशाण। २४–ऊपर।

वळे[1] बाढ[2] दे सिळी[3] सिळी[4] वरि[5]
काजळ जळ वाळियौ[6] किरि ॥८६॥
कमनीय करे कूँ कूँ चौ निज करि
कलँक धूम काढे[7] बे[8] काट ।
सम्प्रति कियौ आप मुख स्यामा
नेत्र तिलक हर तिलक निलाट ॥८७॥
मुख सिख सँधि[9] तिलक[10] रतनमै मण्डित
गयौ जु हूंतौ पूठि[11] गळि[12] ।
आयै क्रिसन माँग मग आयौ
भाग कि जाणे भालियळि[13] ॥८८॥
जूँ[14] सहरी[15] भ्रूह नयण मृग जूता
विसहर[16] रासि[17] कि अलक वक्र ।
वाळी किरि वाँकिया[18] विराजे
चन्द[19] रथी ताटंक चक्र ॥८९॥
इभ[20] कुँभ अन्धारी[21] कुच सु कंचुकी
कवच सम्भु काम क कळह ।
मनु हरि आगमि मंडे मण्डप
बन्धण दीध कि वारगह[22] ॥९०॥
हरिणाखी[23] कंठ अंतरिख[24] हूँतो[25]
बिम्ब रूप प्रगटो बहिरि ।

शब्दार्थ :—१–पुनः । २–धार तेज करके । ३–अंजन शलाका, नोक । ४–शाण । ५–ऊपर । ६–गिराया । ७–काट काढ़े, निकाल कर बाहर कर दिये । ८–दोनों, द्वि । ९–मुख तथा सिर की संधि अर्थात् ललाट । १०–गहना विशेष । ११–पीछे । १२–गले के । १३–ललाट । १४–जुआ । १५–सदृश । १६–विषधर । १७–रास । १८–रथचक्र के आगे धुरी टिकाने के लिए धनुषाकार लकड़ी । १९–मुखचन्द्र । २०–हाथी । २१–आँख का पर्दा । २२–तम्बू अथवा हाथियों को बाँधने का स्थान, पायगह । २३–हरिणाक्षी, रुक्मिणी । २४–गुप्त । २५–से ।

कळ मोतियाँ सुसरि[1] हरि कीरति
कंठसरी[2] सरसती किरि ॥९१॥

बाजूबँध बन्धे गोर बाहु बिहुँ
स्याम पाट[3] सोहन्त सिरी[4] ।
मणिमै हीँडि हीँडलै[5] मणिधर
किरि साखा श्रीखंड[6] की ॥९२॥

गजरा नवग्रहीं[7] प्रोँचिया[8] प्रोँचे[9]
वळे[10] वळै[11] विधि विधि वळित ।
हसत नखित्र[12] वेधियौ हिमकरि[13]
अरध कमळ अलि आवरित ॥९३॥

आरोपित[14] हार घणौ थियो अँतर
उरस्थळ[15] कुम्भस्थळ आज ।
सु जु मोती लहि न लहै सोभा
रज तिणि सिर नाँखै गजराज ॥९४॥

धरिया सु उतारे नव तन धारे
कवि तै वाखाणण[16] किमत्र ।
भूखण पुहप पयोहर फळ भति[17]
वेलि गात्र तौ पत्र वसत्र[18] ॥९५॥

शब्दार्थ :—१—मोती की लड़ी। २—कंठी। ३—रेशम। ४—सिरा, शोभा, श्री। ५—झूलना में। ६—चन्दन। ७—नवरत्नी नाम का आभूषण। नवग्रहों के सूचक नवरत्नों से जड़ा हुआ कलाई में पहनने का आभूषण। ८—पहुँची। ९—पहुँचा (प्रकोष्ठ)। १०—धारण की। ११—वलयन सूत्र। १२—हस्तनक्षत्र। हाथ के पंजे के समान दिखाई देने वाला पाँच नक्षत्रों का संग्रह। १३—चन्द्रमा। १४—पहना हुआ। १५—वक्षस्थल। डा० टैसीटरी ने 'उरुस्थल' (अर्थात् जंघा स्थान) पाठान्तर दिया है। वह प्रसंगोपयुक्त नहीं प्रतीत होता। १६—व्याख्या करना। १७—भाँति। १८—वस्त्र।

स्यामा कटि कटिमेखला समरपित[1]
क्रिसा[2] अंग मापित[3] करल[4] ।
भावी सूचक थिया[5] कि भेळा[6]
सिघरासि ग्रहगण सकल ॥९६॥
चरणे चामीकर[7] तणा[8] चंदाणणि
सज नूपुर घूघरा सजि ।
पीळा भमर किया पहराइत[9]
कमळ तणा मकरन्द कजि ॥९७॥
दधि[10] वीणि[11] लियौ जाइ वणतौ[12] दीठौ
साखियात[13] गुणमै[14] ससत[15] ।
नासा अग्रि मुताहळ निहसति[16]
भजति कि सुक मुख भागवत ॥९८॥
मकरन्द तँबोळ कोकनद[17] मुख मझि
दन्त किञ्जळक दुति दीपन्ति ।
करि इक बीड़ौ वळे वाम करि
कीर सु तसु जाती[18] क्रीड़न्ति ॥९९॥
सिणगार करे मन कीधौ स्यामा
देवि तणा देहरा दिसि ।
होड छण्डि चरणे लागा हँस
मोती लगि[19] पाणही[20] मिसि ॥१००॥

शब्दार्थ :—१—पहनी हुई। २—कृशाङ्गी। ३—नापी हुई। ४—हथेली (करान्न)। ५—हुए। ६—एकत्र। ७—स्वर्ण, धतूरा। ८—के। ९—प्रहरी। १०—उदधि। ११—चुन लेना। १२—शोभित। १३—साक्षात्। १४—मोती विशेष। १५—निःसंदेह, ससत्य। १६—अत्यधिक हँसता सा, शोभित। १७—कमल। १८—सजातीय, चमेली। १९—मोती युक्त। २०—उपानह, जूती।

अन्तर[1] नीळम्बर[2] अबळ[3] आभरण
अंगि अंगि नग नग उदित ।
जाणे सदनि सदनि सञ्जोई
मदन दीपमाळा मुदित ॥१०१॥
किहि[4] करगि[5] कुमकुमौ[6] कुंकुम किहि करि
किहि करि कुसुम कपूर करि ।
किहि करि पान अरगजौ किहि करि
धूप सखी किहि करगि धरि ॥१०२॥

देवदर्शन के लिए प्रस्थान

चकडोळ[7] लगै[8] इणि भाँति सूं चाली
मति[9] तै[10] वाखाणण न मूं ।
सखी समूह माँहि इम स्यामा
सोळ आवरित लाज सूं ॥१०३॥
आइस्यै[11] जाइ[12] साथि सु चढ़ि चढ़ि आया
तुरी[13] लाग[14] ले ताकि तिम ।
सिलह[15] माँहि गरकाब[16] सँपेखो[17]
जोध मुकुर प्रतिबिम्ब जिमि ॥१०४॥
पदमिणि रखपाळ पाइदळ[18] पाइक[19]
हिळवळिया[20] हलिया[21] हसति[22] ।
गमे गमे[23] मदगलित गुड़न्ता[24]
गात्र गिरोवर[25] नाग गति ॥१०५॥

शब्दार्थ :—१–अन्दर। २–नील परिधान। ३–अवलि, पंक्ति। ४–किसी के। ५–कर में। ६–गंगाजल जल का पात्र। ७–पालकी। ८–की ओर। ९–बुद्धि। १०–उसकी। ११–आज्ञा। १२–जिन्हें। १३–घोड़े, तुरय। १४–योग्य। १५–कवच। १६–निमग्न। १७–दीखते हैं, संप्रेक्ष्य। १८–पैदल (पादतल) सैनिक। १९–पादातिक। २०–गमनोत्सुक, हड़बड़ाये हुए। २१–चले। २२–हाथी। २३–घमघम शब्द करते हुए। २४–झूमते हुए। २५–गिरिवर।

श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी का अनुगमन

अस[1] वेगि वहे रथ वहे अन्तरिख
चालिया चन्दाणणि मग चाहि[2] ।
किरि वैकुण्ठ अयोध्यावासी
मंजण करि सरयू नदि मांहि ॥१०६॥
पारस[3] प्रासाद सेन सम्पेखे[4]
जाणि मयंक कि जळहरी ।
मेरु पाखती[5] नखित्र माळा
ध्रू[6] माळा संकर धरी ॥१०७॥

अम्बिका दर्शन तथा प्रार्थना

देवाळै पैसि अम्बिका दरसे
घणै भाव हित प्रीति घणी ।
हाथे पूजि कियौ हाथालगि[7]
मन वञ्छित फळ रुषमणी ॥१०८॥
आकरषण वसीकरण उनमादक
परठि[8] द्रविण सोखण सर पंच[9] ।
चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि
सुन्दरि द्वारि देहरा संच[10] ॥१०९॥

सेना की मूर्छा

मन पंगु थियौ सहु सेन मूरछित
तह नह रही संपेखते ।
किरि नीपायौ[11] तदि निकुटी[12] ए
मठ पूतळी पाखाणमै ॥११०॥

शब्दार्थ :—१—अश्व । २—की ओर । ३—समीप, पार्श्व । ४—भली भाँति देखकर, सप्रेक्ष्य । ५—पास की, पार्श्वतः । ६—मस्तक, धुर । ७—हस्तगत किया । ८—स्थापित करके, ग्रहण करके । ९—कामदेव के प्रसिद्ध पाँच बाण । १०—सं-|-चर—संचार किया, प्रवेश किया, देखा । ११—उत्पन्न किया; निष्पद्यते । १२—खोदी हुई, गढ़ी हुई ।

कृष्ण द्वारा हरण

आयौ अस खेड़ि[1] अरि सेन अन्तरै[2]
प्रथिमी गति आकास पथ ।
त्रिभुवन नाथ तणौ वेळा तिणि
रव संभळी कि दीठ रथ ॥१११॥
बळिबंध समरथि रथ ले बैसारी
स्यामा कर साहे[3] सु करि[4] ।
वाहर रे वाहर[5] कोइ छै वर
हरि हरिणाखी जाइ हरि ॥११२॥

वीरों का सन्नद्ध होना तथा कृष्ण को ललकार कर युद्ध करना

सम्भळत[6] धवळ[7] सर[8] साहुळि[9] सम्भळि[10]
आळूदा[11] ठाकुर अलल[12] ।
पिंड[13] बहुरूप कि भेख पालटे
केसरिया ठाहे[14] क्रिगल[15] ॥११३॥
लारोवरि[16] अस चित्राम कि लिखिया[17]
निहषरता[18] नरवरै[19] नर ।
माँखण चोरी न हुवै माहव
महियारी[20] न हुवै महर[21] ॥११४॥
ऊपड़ी रजो मज्झि अरक एहवौ
वातचक्र सिरि पत्र वसन्ति ।

शब्दार्थ :—१—रथ चलाना। २—मध्य में। ३—कर साधकर। ४—स्व कर से। ५—आर्त्त की रक्षा। ६—सुनते हुए। ७—मांगलिक। ८—स्वर, गीत। ९—पुकार। १०—सुनकर। ११—सजे बजे। १२—आला, सुन्दर। १३—शरीर। १४—स्थान पर। १५—कवच। १६—एक दूसरे के पीछे, पंक्तिबद्ध। १७—चित्रलिखित। १८—निकलते हुए, दौड़ते हुए। १९—नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण के। २०—ग्वालिन। २१—ग्वाल।

सद[1] नोहस[2] नीसाण न सुणिजै
वरहासाँ[3] नासाँ वाजन्ति ॥११५॥
अळगी[4] ही नेड़ी[5] की ऊखवते[6]
देठाळौ[7] हुवौ दलाँ दुंह ।
वागाँ[8] ढेरवियाँ[9] वाहरुए[10]
मारकुए[11] फेरिया मुँह ॥११६॥

युद्ध-वर्षा रूपक वर्णन

कठठी[12] बे[13] घटा करे काळाहणि[14]
समुहे आमहो सामुहे ।
जोगिणि आवी आडँग[15] जाणे
वरसै रत[16] बेपुड़ी[17] वहै[18] ॥११७॥
हथनालि हवाई कुहक बाण हुवि
होइ वीरहक[19] गंगहण[20] ।
सिलहाँ[21] ऊपरि लोह लोह सर
मेंह बूँद माहे[22] महण[23] ॥११८॥
कळकळिया[24] कुन्त[25] किरण कळि[26] ऊकळि[27]
वरजित विसिख विवरजित वाउ[28] ।

शब्दार्थ :—१–शब्द। २–निर्घोष, नाद। ३–जिनका हास्य सुन्दर है ऐसे घोड़े। ४–अलग होना। ५–निकट। ६–दौड़ाकर। ७–सामना। ८–लगाम। ९–स्थिर किया हुआ। १०–बाहर करने वाले, रक्षक दल। ११–प्रहार सहने वाले। १२–निकली। १३–दोनों। १४–(१)प्रलयकारी सैनिकदल(२)काले मेघ। १५–चिह्न। १६–रक्त। १७–दोहरी, दोनो ओर से। १८–चलती हुई। १९–वीरो की हुकार। २०–आकाश को गुंजा देने वाली। २१–कवच। २२–में। २३–महार्णव। २४–कलकल शब्द करने लगे। २५–भाले। २६–युद्ध में। २७–गर्म होकर खौलना। २८–वायु।

धड़ि धड़ि[1] धबकि[2] धार धारूजळ[3]
सिहरि[4] सिहरि समखै[5] सिळाउ[6] ॥११९॥
कांपिया उर कायराँ असुभकारियौ
गाजंते नीसाणे गड़ड़ै ।
ऊजलियाँ धाराँ[7] ऊवड़ियौ[8]
परनाळे जळ रुहिर पड़ै ॥१२०॥
चोटियाळी[9] कूदे चौसठि चाचरि[10]
धू[11] ढळियै ऊकसै धड़ ।
अनँत[12] अनै सिसुपाल औझड़ै[13]
झड़ मातौ[14] माँडियौ[15] झड़[16] ॥१२१॥
रिण अंगणि तेणि रुहिर रळतळिया[17]
घणा हाथ हूँ[18] पड़ै घणा ।
ऊँधा पत्र[19] बुदबुद जळ आकृति
तरि चालै जोगिणी तणा ॥१२२॥
बेली[20] तदि बळभद्र बापूकारे[21]
सत्र[22] साबतौ[23] अजे लगि साथ[24] ।
वूठै[25] वाहवियै[26] आ वेळा
हल जोपिस्यै[27] जु वाहिस्यइ[28] हाथ ॥१२३॥

शब्दार्थ :—१–शरीर शरीर पर। २–धबक कर चमकना। ३–तलवार। ४–शिखर शिखर पर। ५–चमकती है। ६–शलाका, बिजली। ७–(१)धारा (२) शस्त्रधारा। ८–उमड़ा हुआ। ९–पिशाचिनी। १०–युद्धस्थल में। ११–सिर, धुर। १२–बलराम। १३–निरन्तर। १४–मोटा। १५–किया। १६–वर्षा की झड़ी। १७–प्रवाहित हो गया। १८–मैं। १९–पात्र (योगिनी का पात्र अर्थात् मुण्ड)। २०–सहायक। २१–'बापू' कह कहकर उत्तेजित किया। २२–शत्रु। २३–पूर्ण। २४–साहाय्य सेना। २५–वर्षा होने पर। २६–हल जोतना। २७–विजय करना। २८–चलाएँगे।

विसरियाँ विसर[1] जस बीज बोजिजै
खारी[2] हाळाहळाँ[3] खलाँह[4] ।
त्रूटै कन्ध मूळ जड़ त्रूटै
हळधर काँ वाहताँ[5] हळाँह ॥१२४॥
घटि घटि[6] घण घाउ घाइ घाइ रत[7] घण
ऊँच छिछ[8] ऊछळै अति ।
पिड़ि[9] नीपनौ[10] कि खेत्र प्रवाळी[11]
सिरा[12] हंस[13] नीसरै सति ॥१२५॥
बळदेव महाबळ तासु भुजाबळि
पिड़ि पहरन्तै[14] नवी परि[15] ।
बिजड़ां[16] मुहे[17] बेड़ते[18] बळभद्र
सिराँ[19] पुंज कीधा समरि ॥१२६॥
रिण गाहटतै[20] राम खळाँ[21] रिण
थिर निज चरण स मेढ़ि[22] थिया ।
फिरि चड़ियै[23] संघार फेरता[24]
केकाणाँ[25] पाइ सुगह[26] किया ॥१२७॥
कण[27] एक लिया किया एक कण कण
भर खञ्चे[28] भंजियौ[29] भिड़[30] ।

शब्दार्थ :—१–विगत वेला को विस्मृत करके। २–कड़वी। ३–हलाहल, विष के समान। ४–शत्रुओं को। ५–चलाते हुए। ६–प्रति शरीर में। ७–रक्त। ८–धारा, फव्वारा। ९–पिण्ड, तना। १०–उत्पन्न हुआ। ११–किसलय, मूंगा। १२–(१) सिरा (२) नाड़ी। १३–जीवात्मा। १४–नष्ट करते हुए। १५–प्रकार, भाँति। १६–(१)तलवार(२)हँसुआ। १७–धार से। १८–छिन्नभिन्न करना,भयाकुल करना। १९-(१)मुण्डों का(२)भुट्टों का। २०–नष्ट करते हुए। २१–खलिहान में। २२–मेंड। २३–आक्रमण करके। २४–चारों ओर घुमा घुमा कर संहार करना। २५–घोडे। २६–भली भाँति मन्थन। २७–कई धान्य रूपी योद्धा। २८–धान्य के भार को गाड़ियों में खींचा। २९–भगा दिया। ३०–भिड़ जाना।

बळभद्द खळै[1] खलाँ सिरि बैठो
चारौं[2] पळ[3] ग्रीधणो चिड़ ॥१२८॥
सरिखाँ सँ बलभद्द लोह साहियै[4]
वड़फरि[5] ऊछजतै[6] विरुधि[7] ।
भलाभलां[8] सति[9] तोईज[10] भंजिया
जरासेन सिसुपाळ जुधि ॥१२९॥
आडो अड़ि[11] एकाएक आपड़े[12]
वाग्यो एम रुषमणी वीर[13] ।
अबळा लेइ घणी भुँइ आयौ
आयौ हूँ पग माँडि[14] अहीर ॥१३०॥
विळकुळियौ[15] वदन जेम[16] वाकार्‌यौ[17]
संग्रहि धनुख पुणच[18] सर सन्धि ।
क्रिसन रुकम आउध छेदण कजि
वेलखि[19] अणी[20] मूठि द्रिठि बन्धि ॥१३१॥
रुकमइयौ पेखि तपत आरणि रणि
पेखि रुषमणी जळ प्रसन[21] ।
तणु लोहार वाम कर निय[22] तणु
माहव किउ साँडसो मन ॥१३२॥
सगपण[23] चौ सनस[24] रुषमणी सन्निधि
अण मारिवा तणै आलोजि ।
ए अखियात[25] जु आउधि आउध
सजै रुकम हरि छेदै सोजि[26] ॥१३३॥

शब्दार्थ :—१–खलिहान में। २–चारा। ३–माँस। ४–सहना। ५–ढाल को। ६–बचाव के लिए ऊपर उठाकर (उत्+सज्जतः)। ७–विरोध में। ८–एक कहावत। ९–सत्य है। १०–तभी। ११–बाधा देकर। १२–सामने आकर। १३–वीर, भाई। १४–ठहर। १५–तमतमा आना। १६–जैसे ही। १७–पुकारा, ललकारा। १८–प्रत्यंचा। १९–बाण का फलक। २०–नोक। २१–प्रस्रवण, बहना। २२–निज। २३–सम्बन्ध। २४–संशय, संकोच। २५–आख्यात, आश्चर्यजनक बात। २६–वही।

रुक्मी को निरायुध करके उसके केश उतारना

निराउध कियौ तदि सोनानामी
केस उतारि विरूप कियौ ।
छिणियै[1] जीवि[2] जु जीव छण्डियौ
हरि हरिणाखी पेखि हियौ ॥१३४॥

बलराम द्वारा व्यंग तथा कृष्ण की प्रसन्नता

अनुज ए उचित अग्रज इम आखै
दुसट सासना[3] भली दइ ।
बहिनि जासु पासै बैसारी
भलौ काम किउ भला भइ ॥१३५॥
सुसमित[3] सुनमित निज वदन सुव्रीड़ित
पुंडरीकाख[4] थिया प्रसन ।
प्रथम अग्रज आदेस पाळिवा
मिरिगाखी राखिवा मन ॥१३६॥
कृत करण अकरण अन्नथा करणं
सगळे ही थोके[5] ससमत्थ[6] ।
हा[7] लिया जाइ[8] लगाया हूंता
हरि साळै सिरि थापे हत्थ ॥१३७॥

विजयोपरान्त बधाई देने वालों का उत्सुक होना तथा सभी का मोदमग्न हो कृष्ण का मार्ग देखना ।

परदळ पिण[9] जीपि[10] पदमणी परणे[11]
आणँद उभै[12] हुआ एकार[13] ।

शब्दार्थ :—१–क्षण जीवी । २–दण्ड । ३–सुस्मित, मुदित । ४–पुण्डरीकाक्ष, कमलनेत्र कृष्ण । ५–सभी बातों में । ६–सामर्थ्यवाले । ७–थे । ८–जिससे । ९–भी । १०–जीतकर । ११–परिणय । १२–दोनो (विवाह तथा विजय) का आनन्द । १३–एक बार ही ।

वहतै कटकि माहि वादोवदि
वाधण[1] लागा व इहार ॥१३८॥
ग्रिह काज भूलिग्या गृहि गृहि गृहगति[2]
पूछीजै चिन्ता पड़ी ।
मन अरपण कीधै हरि मारग
चाहै प्रज ओटे चढ़ी ॥१३९॥
देखताँ पथिक उतामळा दीठा
झाँखाणा[3] उरि उठी झळ[4] ।
नीळ डाळ करि[5] देखि नीळाणा[6]
कुससयळी[7] वासो कमळ ॥१४०॥

उत्सव तथा द्वारिका वर्णन एवं स्वागत

सुणि आगम नगर सहू साऊजम[8]
रुषमिणि कृसन वधावण रेसि[9] ।
लहरिउँ लियै जाणि लहरीरव[10]
राकादिन[11] दरसण राकेसि ॥१४१॥
वधाउआँ[12] गृहे गृहे पुरवासी
दळिद्र तणौ दीधौ दळिद्र ।
ऊछव हुआ अखित[13] ऊछळिया
हरी द्रोब[14] केसर हळिद्र ॥१४२॥
नर मारगि एक एक मगि नारी
क्रमिया[15] अति ऊछाह करेउ ।

शब्दार्थ :—१–बढ़ना। २–नक्षत्र विचार। ३–कुम्हला गए। ४–चिन्ता ज्वाला। ५–हाथ में। ६–हरे हो गए, प्रसन्न हुए। ७–द्वारिका। ८–उद्यम सहित। ९–के लिए। १०–समुद्र। ११–पूर्णिमा। १२–वधाई वालों को। १३–अक्षत। १४–दूब, दूर्वा। १५–चलतेहुए।

अंकमाळ हरि नयर आपिवा[1]
बाहाँ तिकरि[2] पसारी बेउ[3] ॥१४३॥
वीजळि दुति दँड[4] मोतिए वरिखा
झालरिए लागा झड़ण ।
छत्रे[5] अकास एम औछायौ[6]
घण आयौ किरि वरण घण ॥१४४॥
मुकरमै प्रोळि[7] प्रोळिमै मारग
मारग सुरँग अबीरमई ।
पुरि हरि सेन एम पेसार्‌यो
नीरोवरि[8] प्रवसन्ति नई[9] ॥१४५॥
धवळहरे[10] धवळ दियै[11] जस[12] धवळित[13]
धण[14] नागर देखे सधण[15] ।
सकुसळ सबळ[16] सदळ सिरि सामळ[17]
पुहप वूँद लागी पड़ण ॥१४६॥
जीपे सिसुपाळ जरासिंधु जीपे
आयौ गृहि आरती उतारि ।
देखे मुख वसुदेव देवकी
वार वार वारै[18] पै वारि[19] ॥१४७॥
विधि सहित वधावे वाजित्र[20] वावे[21]
भिन भिन अभिन बाणि[22] मुख भाखि ।

शब्दार्थ :—१—अर्पण करने या लगाने के लिए। २—तुम्हारे लिए। ३—दोनों। ४—मण्डप स्तम्भ। ५—मण्डप। ६—छाया हुआ। ७—द्वार। ८—समुद्र मे। ९—नदी। १०—धवल प्रासाद। ११—मांगलिक गीत से। १२—यश। १३—धवलीकृत। १४—स्त्री। १५—सपत्नीक। १६—बलराम सहित। १७—श्यामल कान्तिवाले श्रीकृष्ण। १८—बलिहारी जाना, वारना। १९—पानी वारकर, सेवल करके। २०—वाद्ययन्त्र। २१—बजते हैं। २२—एक स्वर।

करै भगति राजान क्रिसन चौ
राजरमणि रुषमिणि गृह राखि ॥१४८॥

ज्योतिषी से विवाह का मुहूर्त्त शोधन कराना

दैवग्य तेड़ि[1] वसुदेव देवकी
पहिलौ ई पूछै प्रसन ।
दियौ[2] लगन जोतिख ग्रँथ देखे
कइ[3] परणै रुषमणी क्रिसन ॥१४९॥
वेदोगत धरम विचारि वेदविद
कम्पित चित लागा कहण ।
हेकणि[4] सुत्री[5] सरिस[6] किम होवै
पुनह पुनह पाणिग्रहण[7] ॥१५०॥
निरखे ततकाळ त्रिकाळ निदरसी
करि निरणै लागा कहण ।
सगळे दोख विवरजित साहौ
हूँतौ जई हूऔ हरण ॥१५१॥
वसुदेव देवकी सूँ ब्राहमणे
कही परसपर एम कहि ।
हुए हरण हथलेवौ[8] हूऔ
सेस संसकार हुवइ सहि ॥१५२॥

विवाह-संस्कार वर्णन

विप्र मूरति वेद रतनमै वेदी
वंस[9] आद्र[10] अरजुनमै[11] वेह ।

शब्दार्थ :—१—बुलाकर । २—दो, बताओ । ३—कब । ४—एक । ५—स्त्री । ६—के साथ । ७—पाणिग्रहण । ८—बाँम । ९—आर्द्र, गीला, हरा । १०—वृक्ष का नाम, उज्वल । ११—मंगल कलश ।

अरणी अगनि अगरमै इन्धण
आहुति घृत घणसार अछेह[1] ॥१५३॥
पच्छिम दिसि पूठ पूरब मुख परठित[2]
परठित ऊपरि आतपत्र[3] ।
मधुपर्कादि सँसकार मण्डित
त्री वर वे बैसाणि तत्र ॥१५४॥
आरोपित आँखि सहू हरि आननि
गरभ उदधि ससि मछें[4] गृहीत ।
चाहैं[5] मुख अंगणि[6] ओटे चढि
गावै मुखि मंगळ करि गीत ॥१५५॥
आगळै प्रिया प्रो[7] चौथै[8] ऑरभि
फेरा त्रिण्हि इण भाँति फिरि ।
कर सांगुष्ट ग्रहण कर सूं करि
करी[9] कमळ चम्पियौ[10] किरि ॥१५६॥
पधरावि त्रिया वामै प्रभणावे[11]
वाच परसपर यथाविधि ।
लाधी वेळा[12] माँगी लाधी[13]
निगम पाठकें[14] नवे निधि[15] ॥१५७॥

शयन--गृह का वर्णन

दूलह हुइ आगै पाछै दुलहणि
दीन्हा क्रम[16] सूणहर[17] दिसि ।

शब्दार्थ :--१-अविरत । २-सुशोभित, प्रस्थापित, प्रतिष्ठित । ३-छत्र । ४-मछली द्वारा । ५-देखने को, चावपूर्वक । ६-स्त्रियाँ । ७-प्रियपति । ८-चौथा फेरा । ९-हाथी । १०-दबाया है । ११-कहलाते हैं । १२-उपलब्ध वेला । १३-मुँह माँगा पाया । १४-वेदपाठी ब्राह्मणों ने । १५-नवों निधियाँ पाई । १६-चले । १७-शयनगृह ।

छँड़ि चौरी[1] हथलेवै छूटै
मन बन्धे अँचला मिसि ॥१५८॥
आगै[2] जाइ आलि केलि गृह अन्तरि
करि अंगण मारजण करेण[3] ।
सेज वियाज[4] खीर सागर सजि
फूल वियाज सजे तसु फेण ॥१५९॥
आभा चित्र रचित तेणि रँगि अनि अनि
मणि दीपक करि सूध मणि[5] ।
माँडि[6] रहे चन्द्रवा[7] तणै मिसि
फण सहसेई सहस फणि ॥१६०॥
मन्दिरन्तरि[8] किया खिणन्तरि मिळिवा[9]
विचित्रे[10] सखिए समावृत ।
कीधै[11] तिणि वीवाह संसक्रित[12]
करण सु तणु रति संसकृत ॥१६१॥

सन्ध्या वर्णन तथा आतुरता प्रदर्शन

संकुड़ित[13] समसमा[14] सन्ध्या समयै
रति वञ्छति रुषमणि रमणि ।
पथिक वध द्रिठि पंख पंखियाँ
कमळ पत्र सूरिज किरणि ॥१६२॥
पति अति आतुर त्रिया मुख पेखण
निसा तणौ मुख[15] दीठ निठ[16] ।

शब्दार्थ :—१–विवाह मण्डप। २–पूर्व से ही। ३–हाथ से। ४–व्याज, बहाना। ५–सौधमणि, श्रेष्ठ धवल प्रासाद। ६–चित्रित। ७–चँदोवा, चन्द्रिका (मोर पंख की)। ८–पृथक् पृथक् महलों में। ९–मिलने के लिए। १०–चतुर। ११–करने पर। १२–संस्कार। १३–सिकुड़ा, संकुचित। १४–समान अवस्था। १५–निसातणौ मख—गोधूलि वेला या रात्रि का मुख। १६–कठिनाई से।

चन्द्र किरणि कुलटा सु निसाचर
द्रवडित[1] अभिसारिका द्रिठ ॥१६३॥
अनि पँखि बन्धे चक्रवाक असन्धे[2]
निसि सन्धे इमि अहोनिसि ।
कामिणि कामि तणी कामागनि
मन लाया दीपकाँ[3] मिसि ॥१६४॥
ऊभी[4] सहु सखिए प्रसंसिता अति
क्रितारथी[5] प्री मिळण कृत ।
अटत[6] सेज द्वार विचि आहुटि[7]
स्रुति दे हरि घरि समाश्रित[8] ॥१६५॥

रुक्मिणी का आगमन, लज्जा प्रदर्शन

हँसागति[9] तणी आतुर थ्या हरि सूँ
वाधाऊआ जेही[10] वहे ।
सूँधावास[11] अनै नेउर[12] सद[13]
श्रमि आगै आगमन कहे ॥१६६॥
अवलम्बि सखी कर पगि पगि ऊभी
रहती मद वहती रमणि ।
लाज लोह लंगरे लगाए
गय[14] जिमि आणी गयगमणि ॥१६७॥

कृष्ण द्वारा आदर प्रदर्शन

देहली धसति हरि जेहड़ि दीठी
आणँद को ऊपनौ अमाप ।

शब्दार्थ :—१—दौड़ना। २—अलग हो गए। ३—लाया दीपकाँ—जले हुए दीपकों। ४—खड़ी। ५—लिए। ६—घूमते हैं। ७—आहट। ८—स्थित। ९—हंसगति वाली रुक्मिणी। १०—जैसी। ११—सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्धि। १२—नूपुर। १३—शब्द। १४—गज, हाथी।

तिण आपही करायौ आदर
ऊभा करि रोमां सूँ आप ॥१६८॥
वहि मिळी घड़ी जाइ घणा वाँछता
घण दीहाँ[1] अन्तरै घरि[2] ।
अंकमाळ आपे[3] हरि आपणि
पधरावी त्री सेज परि ॥१६९॥
अति प्ररित[4] रूप आँखियाँ अत्रिपत
माहव जद्यपि त्रिपत मन ।
वार वार तिम करै विलोकन
धण मुख जेही रंक धन ॥१७०॥
आजाति[5] जाति[6] पट घूँघट अन्तरि
मेळण एक करण अमिळी ।
मन दम्पती कटाछि[7] दूति मै
निय मन[8] सूत्र कटाछि नळी[9] ॥१७१॥
वर नारि नेत्र निज वदन विलासा[10]
जाणियौ अँतहकरण जई[11] ।
हसि हसि भ्रूहे हेक हेक हुइ[12]
गृह बाहरि सहचरी गई ॥१७२॥
एकन्त उचित क्रीड़ा चौ आरंभ
दीठौ सु न किहि देव दुजि ।
अदिठ अश्रुत किम कहणौ आवै
सुख ते जाणणहार सुजि[13] ॥१७३॥

शब्दार्थ :—१–दिनों के। २–घर में ही। ३–गोद में लेकर। ४–चलायमान। ५–आते। ६–जाते। ७–कटाक्ष। ८–कपड़े के तन्तुओं को क्रमबद्ध करने वाली। ९–नरी। १०–भाव-भंगिमा। ११–जिस समय। १२–एक एक करके। १३ बुद्धी।

पति पवन प्रारथित[1] त्री तत्र निपतित
सुरत अन्त केहवी[2] श्री[3] ।
गजेन्द्र क्रीडता सु विगलित[4] गति
नीरासइ परि कमलिनी ॥१७४॥
कोधै मधि माणिक हीरा कुन्दण
मिळिया कारीगर मयण[5] ।
स्यामा तणै लिलाट सोहिया
कुंकुम विन्दु प्रसेद कण ॥१७५॥
त्री वदन पीतता चित व्याकुलता
हियै धगधगी[6] खेद हुह ।
धरि चख लाज पगे नेउर धुनि
करे निवारण[7] कंठ कुहँ ॥१७६॥
तिणि तालि[8] सखी गळि स्यामा तेही
मिळी भमर भारा जु महि ।
वळि ऊभी थई घणा घाति वळ[9]
लता केळि[10] अवलंब लहि ॥१७७॥
पुनरपि पधरावी कन्है[11] प्राणपति
सहित लाज भय प्रीति सा ।
मुगत केस त्रूटी[12] मुगतावलि
कस[13] छूटी छुद्र घंटिका[14] ॥१७८॥
सुख लाधै केलि स्याम स्यामा सँगि
सखिए मनरखिए सँघट[15] ।

शब्दार्थ :—१—प्रार्थना की जाती हुई। २—कैसी। ३—शोभा। ४—शिथिल। ५—कामदेव। ६—धगधगी। ७—स्थगित करना। ८—कोकिल के सदृश मधुर स्वर। ९—समय में। १०—बहुत टेढ़ी होकर। ११—(१) कदली, (२) स्त्री। १२—निकट। १३—टूट गई। १४—आकर्षण। १५—करधनी। १६—समूह।

चौकि[1] चौकि ऊपरि चित्रसाळी
हुइ रहियौ कहकहाहट ॥१७९॥
राता[2] तत[3] चिन्तारत चिन्तारत
गिरि कन्दरि घरि बिन्हेगण[4] ।
निद्रावस जग एहु महानिसि[5]
जामिए[6] कामिए[7] जागरण ॥१८०॥
लिखमीवर[8] हरख निगरभर[9] लागी
आयु रयणि[10] त्रूटन्ति[11] इम ।
क्रीड़ाप्रिय पोकार[12] किरीटी[13]
जोवितप्रिय घड़ियाल जिम ॥१८१॥

(प्रभात वर्णन)

गत प्रभा थियौ ससि रयणि गळन्ति[14]
वर मन्दा सइ[15] वदन वरि[16] ।
दीपक परजळतौ इ न दीपै
नासफरिम[17] सू रतनि नरि[18] ॥१८२॥
मेली तदि साध सुरमण कोक मनि
रमण कोक मनि साध्र[19] रही ।
फूले छंडी वास प्रफूले
ग्रहणे[20] सीतळता इ ग्रही ॥१८३॥
धुनि उठी अनाहत संख भेरि धुनि
अरुणोदय थियौ जोग अभ्यास ।

शब्दार्थ :—१—आँगन। २—अनुरक्त। ३—ब्रह्म, तत्त्व। ४—दोनों प्रकार के समूह अर्थात् पुरुषवर्ग। ५—(अ) अर्धरात्रि, (ब) कल्प के अन्त में होने वाली प्रलयरात्रि। ६—संयमी पुरुष। ७—कामी पुरुष। ८—भगवान् श्रीकृष्ण। ९—हरख-निगरभर—हर्षोल्लासपूर्ण। १०—रात्रि। ११—समाप्त होती हुई। १२—बोली। १३—मुर्गा १४—नष्ट होते हुए। १५—सती, साध्वी। १६—पत्नी। १७—नाश हो गया है। १८—सू-रतनि-नरि—नरश्रेष्ठ। १९—कामना। २०—गहना।

माया पटल निसामें[1] मंजे[2]
प्राणायामे ज्योति प्रकास ॥१८४॥
संयोगिणि चोर रई कैरव श्री
घर हट ताळ भमर गोघोख ।
दिणयर ऊगि एतला[3] दीधा
मोखियाँ बंध बंधियाँ मोख ॥१८५॥
वाणिजाँ वधू गो वाछ असइ[4] विट[5]
चोर चकव विप्र तीरथ वेळ[6] ।
सूर प्रगटि एतला समपिया[7]
मिळियाँ विरह विरहियाँ मेळ ॥१८६॥

ऋतु-वर्णन (ग्रीष्म)

नदि दीह[8] वधे सर नीर घटे निसि
गाढ़[9] धरा द्रव[10] हेमगिरि ।
सुतरु छाँह तदि दीध जगत सिरि
सूर राह किय जगत सिरि ॥१८७॥
आकुळ थ्या लोक केहवो अचिरज
वंछित छाया ए विहित[11] ।
सरण हेम दिसि लीधौ सूरिज
सूरिज ही विख[12] आसरित ॥१८८॥
श्रीखंड[13] पंक कुमकुमौ सलिल सरि
दळि[14] मुगता आहरण[15] दुति ।
जळ क्रीड़ा क्रीड़न्ति जगतपति
जेठ मासि एही जुगति ॥१८९॥

शब्दार्थ :—१–रात्रि रूपी। २–हटा देता है। ३–इतनों को। ४–कुलटा स्त्री। ५–लम्पट। ६–तरंगें। ७–दिया। ८–बड़ा। ९–घनत्व, ठोसपना। १०–बहाव। ११–यथावत्। १२– (१) वृक्ष, (२) वृषराशि। १३–चन्दन। १४–शरीर पर। १५–आभूषण।

मिळि माह[1] तणी माहुटि सूँ मसि वन
तपि आसाढ तणौ तपन[2] ।
जन नूजन पणि[3] अधिक जाणियौ
मध्यरात्रि प्रति मध्याहन ॥१९०॥
नैरन्ति[4] प्रसरि[5] निरधण[6] गिरि नीझर
धणी[7] भजै धण[8] पयोधर ।
झोळै[9] वाइ किया तरु झंखर
लवळी[10] दहन कि लू लहर ॥१९१॥
कसतूरी गारि[11] कपूर ईंट करि
नवै विहाणै[12] नवी परि[13] ।
कुसुम कमळ दळ माळ अलंक्रित
हरि क्रीड़ै तिणि धवळहरि ॥१९२॥
ऊपड़ी[14] धुड़ी[15] रवि लागी अम्बरि
खेतिए[16] ऊजम भरिया खाद्र[17] ।
मृगशिर वाजि किया किंकर[18] मृग
आद्रा वरसि कोध धर आर्द्र ॥१९३॥

(वर्षा)

बग रिखि राजान सु पावसि बैठा
सुर सूता थिउ[19] मोर सर ।
चातक रटै बलाहकि[20] चंचळ
हरि सिणगारै अम्बहर ॥१९४॥

शब्दार्थ :—१—माघ मास। २—सूर्य। ३—अजनपणि—निर्जनता। ४—दक्षिण पश्चिम के बीच की दिशा। ५—चलकर। ६—स्त्री रहित। ७—स्वामी। ८—पत्नी। ९—पाला अथवा लू। १०—एक लता विशेष। ११—गारा। १२—विधि। १३—भाँति। १४—रेत उड़ना। १५—रेत। १६—किसान। १७—गड्ढे। १८—घबराए हुए। १९—हुआ। २०—बादल।

काळी करि काँठळि ऊजळ कोरण
धारं श्रावण धरहरिया[1] ।
गळि[2] चालिया दिसो दिसि जळग्रभ
थंभि न विरहिण नयण थिया ॥१९५॥
वरसतै दड्ड़ नड़[3] अनड़[4] वाजिया
सघण गाजियौ गुहिर[5] सदि ।
जळनिधि हो सामाइ नहीं जळ
जळबाळा[6] न समाइ जळदि ॥१९६॥
निहसे[7] वूठौ[8] घण त्रिणु नीलाणी[9]
वसुधा थळि थळि जळ वसइ ।
प्रथम समागम वसत्र पदमणी
लीधे किरि ग्रहणा लसइ[10] ॥१९७॥
तरु लता पल्लवित तृणे अंकुरित
नीळाणी नीळम्बर न्याइ ।
प्रथमी नदिमै हार पहरिया
पहिरे दादुर नूपुर पाइ ॥१९८॥
काजळ गिरि धार रेख काजळ करि
कटि मेखला पयोधि कटि ।
मामोलौ[11] बिन्दुलौ कुंकूंमं
पृथिमी दीध निलाट पटि[12] ॥१९९॥
मिळियै तट ऊपटि[13] बिथुरी[14] मिळिया
धण धर धाराधर धणी ।

शब्दार्थ :—१–धर धर करके गाजना। २–गल कर गिरने लगे। ३–नाले। ४–पर्वत। ५–गंभीर। ६–विद्युत्। ७–निर्घोष। ८–वर्षा की। ९–हरियाली। १०–शोभा देती है। ११–वीरबधूटी। १२–निलाट-पटि—ललाट का चौड़ा स्थान। १३–उमड़ कर। १४–बिखराना।

केस जमण गंग कुसुम करम्बित[1]
वेणी[2] किरि त्रिवेणी वणी[3] ॥२००॥
घर श्यामा सरिस स्यामतर जळधर
घेघूँचें[4] गळि बाहां घाति[5]।
भ्रमि तिणि सन्ध्या वंदन भूला
रिखिय[6] न लखे सकै दिन राति ॥२०१॥
रूठा प लागि मनावि करे रस[7]
लाधो देह तणौ गिणि लाभ।
दम्पतिए आलिंगन दीधा
आलिंगन देखे धर आभ[8] ॥२०२॥
जळजाळ[9] श्रवति[10] जळ काजळ ऊजळ
पीळा हेक राता पहल[11]।
आधोफरै[12] मेघ ऊधसता[13]
महाराज राजै महल ॥२०३॥
करि इँट नीळमणि कादो[14] कुंदण
थम्भ लाल पट[15] पाँचि[16] थिर।
मँदिरे गौख सु पदमरागमै
सिखरि सिखि[17] रमै मन्दिर सिर ॥२०४॥
धरिया तनि वसत्र कुमकुमै धोया
सौंधा[18] प्रखोलित[19] महल सुख।
भर श्रावणि भाद्रवि भोगविजै[20]
रुषमिणि वर एहवौ रुख ॥२०५॥

शब्दार्थ :—१—गुथी हुई, मिश्रित। २—(१) त्रिवेणी (२) स्त्रियों की चोटी। ३—शोभित है। ४—आलिङ्गित हो गए। ५—डाल कर। ६—ऋषि लोग। ७—प्रेम। ८—आकाश। ९—बादल। १०—गिरता है। ११—पार्श्व। १२—आधो-फरै—छज्जों पर। १३—रगड़ खा कर ऊपर चलते हुए। १४—गारा। १५—पटड़े। १६—पाँच रत्न। १७—मोर। १८—सुगन्धित द्रव्य। १९—छिड़के हुए। २०—भोगा जाता है।

(शरद)

वरिखा रितु गई सरद रितु वळतो[1]
वाखाणि सु वयणा वयणि[2] ।
नीखर[3] धर जळ रहिउ निवाणे
निधुवनि[4] लज्जा त्री नयणि ॥२०६॥
पीळाणी[5] धरा ऊखधी[6] पाकी
सरदि काळि एहवी सिरी ।
कोकिल निसुर[7] प्रसेद ओसकण
सुरति अंति मुख जिम सुत्री[8] ॥२०७॥
वितए आसोज मिळे नभि वादळ
पृथी पंक जळि गुडळपण[9] ।
जिम सतगरु कळि कलुख[10] तणा जण
दीपति[11] ग्यान प्रगटे दहण[12] ॥२०८॥
गो खीर श्रवति रस धरा उदगिरति[13]
सर पोइणिए[14] थई सुश्री ।
वळी सरद श्रगलोग[15] वासिए
पितरे ही मृत लोक प्री ॥२०९॥
बोलन्ति मुहुरमुह[16] विरह गमै बे[17]
तिसी सुकळ निसि सरद तणी ।
हँसणी ते न पासै[18] देखै हँस
हंस न देखै हंसणी ॥२१०॥

शब्दार्थ :—१—लौट कर आते ही । २—वयणा—वयणि—अनेक प्रकार के वचनों द्वारा । ३—स्वच्छ । ४—संभोगकाल में । ५—पीली हो गई । ६—वनस्पति । ७—शब्दरहित । ८—सुन्दर स्त्री । ९—गंदलापन । १०—पाप । ११—प्रकाश । १२—अग्नि । १३—निकालती है । १४—पद्मिनी । १५—स्वर्गलोक । १६—बारम्बार । १७—दोनों । १८—पास में ।

ऊजळे अदरसणि निसि उजुयाळो
घणूँ किसूँ वाखाण घणे ।
सोळह कळा समाइ गयौ ससि
ऊजासहि[1] आप आपणे ॥२११॥
तुलि[2] बैठौ तरणि[3] तेज तम तुलिया[4]
भूप कणय[5] तुलता भू भाति[6] ।
दिणि दिणि तिणि लघुता प्रामै[7] दिन
राति राति तिणि गौरव[8] राति ॥२१२॥
दीधा[9] मणि मँदिरे कातिग दीपक
सुत्री समाणियाँ[10] माहि सुख ।
भीतर थका[11] बाहिर इम भासै[12]
मनि लाजती सुहाग मुख ॥२१३॥
छवि नवी नवी नव नवा महोछव
मंडियै[13] जिणि आणंद मइ ।
कातिग घरि घरि द्वारि कुमारी
थिर चीत्रंति[14] चित्राम थई[15] ॥२१४॥
सेवन्ति नवै प्रति नवा[16] सवे सुख
जग चां मिसि वासो जगति ।
रुषमिणि रमण तणा जु सरद रितु
भुगति[17] रासि[18] निसि दिन भगति ॥२१५॥

शब्दार्थ :—१–प्रकाश। २–तुला राशि पर। ३–सूर्य। ४–बराबर हुए। ५–सोना। ६–शोभा देते हैं। ७–प्राप्त करते हैं। ८–वृद्धि। ९–जलाये गए। १०–समवयस्का सखियों में। ११–रहते हुए। १२–प्रकाशित होते हैं। १३–मनाये जाते हैं। १४–थिर-चीत्रंति—स्थिर चित्त होकर चित्रित कर रही हैं। १५–चित्राम-थई—स्वयं चित्र बनी हुई। १६–नवै प्रति नवा—नये से नये। १७–विषयोपभोग करना। १८–रासक्रीड़ा।

एहिज परि थई भोरि[1] कजि[2] आयाँ
धनंजय अने सुयोधन ।
मासे मगसिर भलउ जु मिळियौ
जागिया मींट[3] जनारजन[4] ॥२१६॥
फिरियौ[5] पछि वाउ ऊतर फरहरियौ[6]
सहुए[7] सूहव[8] उर सरग ।
भुयँग धनी प्रथमी पुड़[9] भेदे
विवरे[10] पैठा बे वरग ॥२१७॥
हुवइ घटि नदी हेम हेमाळै
विमल भृंग लागा वधण[11] ।
जोवनागमि कटि कृस थाये[12] जिम
थाये थूळ[13] नितम्ब थण[14] ॥२१८॥
भजन्ति[15] सुगृह हेमन्ति सीत भै
मिलि निसि तु न कोई वहे[16] मगि ।
कोई कोमळ वसत्रे कोइ कम्बळि
जण भारियौ रहन्ति जगि ॥२१९॥
दिन जेही रिणी रिणाई[17] दरसणि
क्रमि क्रमि लागा संकुडिणि[18] ।
नीठि[19] छुडै आकास पोस निसि
प्रौढ़ा करषणि[20] पंगुरिणि[21] ॥२२०॥

शब्दार्थः—१–कष्ट पड़ना। २–कार्य से। ३–नींद की झपकी। ४–विष्णु, कृष्ण। ५–बदला। ६–वेग से चला। ७–सभी। ८–सधवा स्त्री। ९–तह। १०–गुफा। ११–बढ़ने। १२–हुई, हुए। १३–मोटा। १४–वक्ष, कुच। १५–रहते ह। १६–चलते हैं। १७–ऋणदाता। १८–सिकुड़ना। १९–कठिनाई से। २०–खींचना। २१–वस्त्र।

उलझाया तन मन आप आपमैं
विहत सीत रुखुमिणी वरि[1] ।
वाणि अरथ जिम सकति सकतिवँत
पुहप गंध गुण गुणी परि[2] ॥२२१॥
मकरध्वज[3] वाहणि चढयौ अहिमकर[4]
उत्तर वाउ वाए[5] अउर ।
कमळ बाळि[6] विरहिणीवदन किय
अम्ब[7] पाळि संजोगि उर ॥२२२॥
पारथिया[8] कृपण वयण दिसि पवणं
विण[9] अम्बह[10] बाळिया वण ।
लागै माघि लोक प्रति लागौ
जळ दाहक सीतळ जळण ॥२२३॥
निय[11] नाम सीत जाळै वण नीला[12]
जाळै नळणी थकी[13] जळि ।
पातिग तिण द्वारिका न पैसै[14]
मँजियै[15] विणु मन तणै मळि[16] ॥२२४॥
प्रतिहार प्रताप[17] करे सो[18] पाले[19]
दम्पति ऊपरि दसै दिसि ।
अरक अगनि मिसि धूप आरती
निय तणु वारै अहोनिसि[20] ॥२२५॥

शब्दार्थ :—१—पति। २—रीति से। ३—कामदेव। ४—सूर्य। ५—चलकर। ६—प्रज्वलित करना। ७—आम का पेड़। ८—याचित। ९—बिना। १०—आम-वृक्ष के। ११—अपना। १२—हरे। १३—स्थित। १४—प्रवेश करता है। १५—धोना। १६—पाप। १७—(१) तेज धूप। (२) पराक्रम, पौरुष। १८—शीत। १९—बरजता। २०—रात-दिन।

शिशिर

रवि बैठौ कळसि[1] थियौ पालट रितु
ठरे जु डहकियौ[2] हेम ठंठ ।
ऊडण[3] पंख समारि रहे अलि
कंठ समारि रहे कळकंठ ॥२२६॥
वीणा डफ महुयरि वंस[4] वजाए
रोरी[5] करि मुख पंचम राग ।
तरुणी तरुण विरहि जण दुतरणि[6]
फागुण घरि घरि खेलै फाग ॥२२७॥
अजहुँ तरु पुहप न पल्लव अंकुर
थोड़ डाळ गादरित[7] थिया ।
जिम सिणगार अकोधै[8] सोहति
प्री आगमि जाणियै प्रिया ॥२२८॥

वसन्त

दस मास समापित गरभ दोध रित
मन व्याकुल मधुकर मुणणन्ति[9] ।
कठिण वेयणि कोकिल मिसि कूजति
वनसपती प्रसवती[10] वसन्ति ॥२२९॥
पकवाने पाने फले सुपुहपे
सुरँगे वसत्रे दरब स्रब ।
पूजियै कसटि भँगि[11] वनसपती
प्रसूतिका होळिका प्रब[12] ॥२३०॥

शब्दार्थ :–१–कुंभ राशि पर। २–पुनर्जीवित हो जाना। ३–उड़ने के लिए। ४–वीणा-डफ-महुयिर-वंस––वाद्यों के नाम। ५–रोली। ६–दुःखदायी। ७–स्थूल हो जाना। ८–नहीं किये हुए। ९–गुँजार करते हुए। १०–पैदा करती है। ११–कसिट-भंगि––प्रसव वेदना दूर होने पर। १२–पर्व।

ळागी दलि[1] कळि मळयानिळ ळागै
त्रिगुण परसतै षुधा त्रिस[2] ।
रटति पूत मिसि मधुप रूँखराइ[3]
मात श्रवति मधु दूध मिसि ॥२३१॥
वनि नयरि घराघरि[4] तरि तरि सरवरि
पुरुख नारि नासिका पथि ।
वसन्त जनमियौ देण वधाई
रमै[5] वास[6] चढि पवन रथि ॥२३२॥
अति अम्ब मौर तोरण[7] अजु[8] अम्बुज
कळी सु मंगळ कळस करि ।
वन्नरवाळ[9] बँधाणी वल्ली[10]
तरुवर एका बियै[11] तरि ॥२३३॥
फुट[12] वानरेण[13] कच[14] नालिकेर[15] फळ
मञ्जा[16] तिकरि दधि मँगळिक ।
कुंकुम अखित पराग किंजळक
प्रमुदित अति गायन्ति पिक ॥२३४॥
आयौ इळि[17] वसँत वधावण आई
पोइणि[18] पत्र जळ एणि परि ।
आणंद वणे काचमै[19] अंगणि
भामिणि[20] मोतिए थाल भरि ॥२३५॥

शब्दार्थ :—१–शरीर पर। २–प्यास। ३–वृक्षों की पंक्ति। ४–घर घर में। ५–रमण करता है। ६–सौरभ। ७–बन्दनवार। ८–और जो। ९–बन्दनवार। १०–लता। ११–दूसरे। १२–फोड़ा हुआ। १३–बन्दर द्वारा। १४–कच्चा। १५–नारियल। १६–गूदा। १७–पृथ्वी पर। १८–पद्मिनी। १९–काचमै-वणे—काँच के वने हुए। २०–सुसज्जिता स्त्री।

कामा[1] वरखन्तो कामदुधा किरि
पुत्रवती थी मन प्रसन ।
पुहप करणि[2] करि केसू[3] पहिरे
वनसपती पीळा वसन ॥२३६॥
कणियर[4] तरु करणि सेवंती[5] कूजा[6]
जाती[7] सोवन[8] गुलाल[9] जत्र ।
किरि परिवार सकळ पहिरायौ
वरणि वरणि ईए[10] वसत्र ॥२३७॥
विधि एणि वधावे वसंत वधाए
भालिम दिन दिन चढ़ि भरण ।
हुलरावणे[11] फाग हुलरायौ
तरु गहवरिया[12] थिय तरुण ॥२३८॥
मंत्री तहां मयण[13] वसँत महीपति
सिला सिँघासण धर सधर[14] ।
माथ अम्ब छत्र मंड़ाणा[15]
चलि वाइ मंजरि ढलि चमर ॥२३९॥
दाड़िमी बोज विसतरिया दीसै
निउँछावरि[16] नाँखिया[17] नग[18] ।
चरणे लुंचित खग फळ चुम्बित
मधु मुंचंति सोचन्ति मग ॥२४०॥

शब्दार्थ :—१—मनोरथ । २—चम्पा का फूल । ३—टेसू के पुष्प । ४—कनक चम्पा । ५—सफेद गुलाब । ६—वेले का पुष्प । ७—मालती, चमेली । ८—सोहना । ९—लाल पुष्प विशेष । १०—इसने । ११—प्यार । १२—सघन हो जाना । १३—कामदेव । १४—धर-सधर—पर्वत । १५—सजे है, लगे हुए है, तने हुए है । १६—प्रेमी अथवा श्रद्धाभाजन के ऊपर किसी बहुमूल्य वस्तु का उत्सर्ग करना । १७—(१) नष्ट किया (२) फेंका । १८—रत्न ।

राजति अति एण[1] पदाति[2] कुंज रथ
हँस माळ बन्धि लास हय[3]।
ढालि खजूरि पूठि[4] ढलकावै
गिरिवर सिणगारिया[5] गय[6] ॥२४१॥
तरु ताळ पत्र ऊँवा तड़ि तरला
सरळा[7] पसरन्ता[8] सरगि ।
बैठे पाटि[9] वसन्त बन्धिया
जगहथ[10] किरि ऊपरी जगि ॥२४२॥

ऋतुराज की महफिल

रूपक

आगळि रितुराय मंडियौ अवसर
मण्डप वन नीझरण[11] मृदंग ।
पंचबाण नायक गायक पिक
वसुह रंग[12] मळगर[13] विहंग ॥२४३॥
कळहंस[14] जाणगर मोर निरतकर
पवन तालधर ताल पत्र ।
आरि[15] तन्तिसर[16] भमर उपंगी[17]
तीवट[18] उघट[19] चकोर तत्र ॥२४४॥
विधि पाठक सुक सारस रस वंछक
कोविद खंजरीट गतिकार ।
प्रगलभ[20] लाग दाट[21] पारेवा
विदुर वेस चक्रवाक विहार ॥२४५॥

शब्दार्थ :—१–एक काले रंग का हरिण जिसकी आँखें बड़ी और पैर छोटे होते हैं। २–पैदल सिपाही। ३–हय-लास––सईस। ४–पीठ। ५–सजाये हुए। ६–हाथी। ७–सीधा। ८–फैलते हुए। ९–गद्दी। १०–जगहथ-पत्र––जगत को हस्तगत करने के लिए घोषणा-पत्र। ११–झरना। १२–वसुह–रंग––रङ्गभूमि। १३–मेला, दर्शक। १४–राजहंस। १५–झींगुर। १६–तार के वाद्यों का स्वर। १७–नसतरङ्ग बजाने वाला। १८–एक राग विशेष, जो दोपहर के समय गाया जाता है। १९–उघटना। २०–विज्ञ। २१–नृत्य की दो प्रकार की भाव बताने की क्रियाएँ।

आंगणि जळ तिरप[1] उरप[2] अलि पिअति
मरुत चक्र किरि लियत मरू[3] ।
रामसरी[4] खुमरी[5] लागी रट
धूया माठा[6] चन्द धरू[7] ॥२४६॥
निगरभर[8] तरुवर सघण छांह निसि
पुहपित अति दीपगर पळास ।
मौरित अम्ब रीझ रोमंचित
हरखि विकास कमळ कृत हास ॥२४७॥
प्रगटै मधु कोक[9] सँगीत प्रगटिया
सिसिर जवनिका[10] दूरि सिरि ।
निज मंत्र पढे पात्र रितु नाँखी[11]
पुहपंजळि वणराय परि ॥२४८॥
प्रज[12] उदभिज सिसिर दुरीस पीड़तौ
ऊतर[13] ऊथापिया[14] असन्त[15] ।
प्रसन वायु मिसि न्याय प्रवत्यौ[16]
वनि वनि नयरे राज वसन्त ॥२४९॥
पुहपाँ मिसि एक एक मिसि पाताँ
खाडिया[17] द्रव मांडिया ऊखेळि[18] ।
दीपक चम्पक लाखे दीधा
कोड़ि[19] धजा फहराणी केळि ॥२५०॥

शब्दार्थ :—१–नृत्य में एक प्रकार का ताल। २–एक प्रकार का नृत्य विशेष। ३–मूर्च्छना। ४–(१) एक प्रकार राग (२) एक प्रकार की चिड़िया। ५–एक चिड़िया। ६–माठा-धूया—ध्रुपद राग का एक भेद। ७–चन्द-धरु— ध्रुपद राग का एक भेद। ८–खूब सघनता में भरे पूरे हुए। ९–संगीत शास्त्र का छठा भेद। १०–नाटक का परदा। ११–गिराई। १२–प्राणी समूह। १३–लाक्षणिक अर्थ में— उत्तर दिशा का पवन। १४–उखाड़ दिया, पदच्युत कर दिया। १५–अनिष्टकारी। १६–प्रचार किया। १७–गर्त। १८–उखेलना। १९–करोड़ों।

मळयानिळ वाजि[1] सुराज थिया महि
भई निसंकित अंक भरि ।
वेली गळि तरुवराँ विलागी[2]
पुहप भार ग्रहणां पहरि ॥२५१॥
पीड़न्ति हेमन्त सिसिर रितु पहिलौ
दुख टाळ्यौ वसन्त हितदाखि[3] ।
व्याए[4] वेली तणी तरुवराँ
साखाँ विसतरियाँ वैसाखि[5] ॥२५२॥
दीजै तिहाँ डंक न दँड न दीजै
ग्रहणि मवरि[6] तरु गानगर[7] ।
करग्राही[8] परवरिया[9] मधुकर
कुसुम गंध मकरन्द कर ॥२५३॥
भरिया तरु पुहप वहे[10] छूटा भर
काम बाण ग्रहिया करगि ।
वळि रितुराइ पसाइ[11] वेसन्नर[12]
जण भुरड़ीतौ[13] रहै[14] जगि ॥॥२५४॥
वरखा जिम वरखत चातक वंचित
वंचि न को तिम[15] राज वसन्त ।
फुल्ल पंख कृत सेव[16] लबध फळ
बँदि कोलाहल खग बोलन्त ॥२५५॥

शब्दार्थ :—१–हवा के जोर से शब्द करके चलने को डिंगल में "वाजना" कहते हैं। २–लगी। ३–देख कर। ४–(१) विवाह करना, (२) सन्तान उत्पन्न करना। ५–(१) वैसाख का महीना है, (२) शाखाओं से जिसकी उत्पत्ति है। ६–मौर। ७–गायक। ८–राज्य का लगान उगाहने वाले। ९–फिरने लगे। १०–चलने से, हिलने से। ११–कृपा से। १२–अग्नि। १३–अग्नि तापते हुए। १४–(१) ताप रहे हैं, (२) तापना बंद कर दिया। १५–त्यों। १६–सेवा।

कुसुमित कुसुमायुध ओटि[1] केळि कृत[2]
तिहि देखे थिउ खीण तन ।
कन्त सँजोगणि किंसुख[3] कहिया
विरहणि कहे पळास[3] वन ॥२५६॥
तसु रंग वास तसु वास रंग तण
कर पल्लव[4] कोमल कुसुम ।
वणि वणि[5] माळिणि केसरि[6] वीणति
भूली नख प्रतिबिम्ब भ्रम ॥२५७॥
सबळ जळ सभिन्न[7] सुगंध भेट सजि
डिगमिगि पाउ वाउ क्रोध डर ।
हालियौ मळयाचळ हूँत[8] हिमाचल
कामदूत हर प्रसन कर ॥२५८॥
तरतौ नदि नदि ऊतरतौ तरि तरि
वेलि वेलि गळि गळै विलग्ग[9] ।
दखिण हूँत आवतौ[10] उतर दिसि
पवन तणा तिणि वहै[11] न पग्ग ॥२५९॥
केवड़ा कुसुम कुन्द तणा केतकी
श्रम सीकर निरझर श्रवति ।
ग्रहियौ कन्धे गन्ध भारगुरु
गंधवाह[12] तिणि मन्द गति ॥२६०॥

शब्दार्थ :—१–के लिए । २–टेसू । ३–(१) मांसाहारी, (२) टेसू । ४–कर-पल्लव–अँगुलियाँ । ५–सज सज कर । ६–(१) फूल के बीच के बाल की तरह पीले-पीले रंग के सीके, (२) एक प्रकार के फूल का केशर । ७–भींगा हुआ । ८–से । ९–लगते हुए । १०–आता हुआ । ११–चलते है । १२–गंध-वाह–(१) गन्ध को ले जाने वाला अर्थात् पवन, (२) नासिका ।

लीयै तसु अंग वास रस लोभी
रेवा[1] जळि कृत सौच रति ।
दखिणानिळ आवतौ उतर दिसि
सापराध[2] पति जिम सरति[3] ॥२६१॥
पुहपवती[4] लता न परस पमूँकै[5]
देतौ अंग आलिंगन दान ।
मतवाळौ पय[6] ठाइ[7] न मंडै[8]
पवन वमन करतौ[9] मधुपान ॥२६२॥
तोय[10] झरणि छंटि[11] ऊयसत[12] मळय तरि[13]
अति पराग रज धूसर अंग ।
मधु मद श्रवति मंद गति मल्हपति[14]
मदोनमत्त मारुत मातंग ॥२६३॥
गुण गन्ध ग्रहित गिळि[15] गरळ ऊगळित
पवण वाद[16] ए[17] उभय पख ।
स्त्रीखंड सैळ सँयोग संयोगिणि
भणि विरहिणी भुयंग भख[18] ॥२६४॥
रितु किहि दिवस सरस राति किहि सरस
किहि[19] रस सन्ध्या सुकवि कहन्ति ।
बे पख सूधति[20] विहूँ मास बे
वसन्त ताइ सारिखौ वहन्ति ॥२६५॥

शब्दार्थ :—१—नर्मदा नदी। २—अन्यत्र क्रीड़ा करके अपनी नायिका के पास आए हुए अपराधी पति को "सापराध" कहते हैं। ३—चलता है। ४—(१) फूलों वाली, (२) ऋतुमती। ५—छोड़ता है, प्रमुक्त। ६—पद। ७—स्थान। ८—स्थापित करता है। ९—वमन-करतौ—गिराता हुआ। १०—जल। ११—फैलाता हुआ। १२—रगड़ खाता हुआ। १३—मलय-तरि—चन्दन का वृक्ष। १४—आनन्द की मौज में कुछ-कुछ शब्द करते चलना। १५—निगल कर। १६—तर्क। १७—यह। १८—खाद्य पदार्थ। १९—किसी। २०—शुद्ध कर देता है।

निमिख पळ वसन्ति सारिखौ अहोनिसि
एकण एक न दाखै[1] अन्त ।
कन्त गुणे वसि थायै[2] कान्ता
कान्ता गुणि वसि थायै कन्त ॥२६६॥
गृह पुहप तणौ तिणि पुहपित ग्रहणौ
पुहप ई ओढ़ण पाथरणि[3] ।
हरखि हिँडोळि पुहपमै हिण्डति[4]
सहि सहचरि पुहपाँ सरणि[5] ॥२६७॥
पौढाड़ै[6] नाद वेद परबोधै[7]
निसि दिनि वाग[8] विहार नितु ।
माणग[9] मथण एण विधि माणै[10]
रुषमिणि कन्त वसन्त रितु ॥२६८॥

गर्भ वर्णन

अवसरि[11] तिणि प्रीति पसरि[12] मन अवसरि
हाइ भाइ मोहिया हरि ।
अंग अनंग गया आपाणा
जुड़िया जिणि वसिया जठरि ॥२६९॥

सम्बन्ध कथन

वसुदेव पिता सुत थिया वासुदे
प्रदुमन सुत पित जगतपति ।
सासू देवकी रामा सुवहू[13]
रामा सासू वहू[14] रति ॥२७०॥

शब्दार्थः—१–दिखाते है, बताते हैं । २–हो गये, हो रहे । ३–बिछौना (प्रस्तरण) ४–झूलते हैं । ५–पुहपाँ-सरिण–पुष्पों पर आश्रित हैं । ६–लिटाना । ७–(१) जगाना, (२) समझाना । ८–(१) सरस्वती, वाणी; (२) बगीचा । ९–रसिक । १०–शृंगार-रस-सम्बन्धी सुखों का उपभोग करना । ११–(१) समय; (२) अन्दर । १२–विस्तृत होकर । १३–पुत्रवधू । १४–वधू ।

लीलाधण[1] ग्रहे मानुखी लीला
जगवासग[2] वसिया जगति[3] ।
पित प्रदुमन जगदीस पितामह
पोतौ अनिरुध ऊखापति ॥२७१॥
किं कहिसुं[4] तासु जसु अहि थाकौ कहि
नारायण निरगुण निरलेप ।
कहि रुषमिणि प्रदुमन अनिरुध का
सह सहचरिए नाम सँखेप ॥२७२॥
लोकमाता सिंधुसुता श्री लिखमी[5]
पदमा पदमाळया प्रमा ।
अवर गृहे अस्थिरा[6] इन्दिरा[7]
रामा हरिवल्लभा रमा[8] ॥२७३॥
दरपक कंदरप काम कुसुमायुध
सम्बरारि रति पति तनुसार[9] ।
समर मनोज अनंग पंचसर
मनमथ मदन मकरध्वज मार ॥२७४॥
चतुरमुख चतुरवरण चतुरातमक
विग्य चनुर जुग विधायक ।
सर्वजीव विश्वकृत ब्रह्मसू
नरवर हँस देहनायक ॥२७५॥

शब्दार्थ :—१–सांसारिक लीला करने वाले। २–संसार को अपने शरीर में बसाने वाले। ३–द्वारिकापुरी। ४–कहूँगा। ५–शोभायुक्त। ६–अवर-गृहे-अस्थिरा —विष्णु के अतिरिक्त और किसी के घर में स्थिर न रहनेवाली अतएव "चंचला"। ७–प्रभुत्वशालिनी। ८–भगवान जिसमें रमण करते हैं। ९–(१) शरीर में व्याप्त होकर रहने वाला। (२) बलवान शरीरवाला।

सुन्दरता लज्जा प्रीति सरसती
माया कान्ती क्रिपा मति ।
सिद्धि वृद्धि सुचिता रुचि सरधा
मरजादा कीरति महति ॥२७६॥

माहात्म्य वर्णन

संसार सुपहु[1] करता गृह संगृह[2]
गिणि तिणि होज पंचमी गाळे ।
मदिरा रीस हिँसा निन्दा मति
च्यारे करि मूँकिया[3] चंडालि ॥२७७॥
हरि समरण रस[4] समझण हरिणाखी
चात्रण[5] खळ खगि[6] खेत्र[7] चढ़ि ।
बैसे सभा पारकी[8] बोलण
प्राणी वंछइ त वेलि पढ़ि ॥२७८॥
सरसती कंठि श्री गृहि मुखि सोभा
भावी मुगति तिकरि भुगति[9] ।
उवरि[10] ग्यान हरि भगति आतमा
जपै वेलि त्यां[11] ए जुगति ॥२७९॥
महि सुइ[12] खटमास प्रात जळ मंजै
आप अपरस[13] अरु जित इन्द्री ।
प्रामै वेलि पढ़न्तां[14] नित प्रति
त्री वंछित[15] वर वंछित त्री ॥२८०॥

शब्दार्थ :—१—श्रेष्ठ प्रभु। २—गृह-संगृह—गृहस्थ के श्रेष्ठ गुणों का संग्रह। ३—त्याग देना। ४—प्रेम, शृंगार रस। ५—अग्निमंथन-यंत्र। ६—तलवार। ७—(१) रणक्षेत्र, (२) खेत। ८—दूसरों की (परकीय)। ९—संसार में भोगने योग्य सुख। १०—अन्तःकरण। ११—उनको, उनके। १२—सोकर। १३—शुद्ध। १४—पढ़ने-वालों को। १५—इच्छित।

ऊपजै[1] अहोनिसि आप आप[2] मै
रुषमणि क्रिसन सरीख रति ।
कहै वेलि वर लहै[3] कुमारी
परणी[4] पूत सुहाग पति ॥२८१॥
परिवार पूत पोत्रे पड़पोत्रे
अरु साहुग[5] भंडार इम ।
जण रुषमिणि हरि वेलि जपंतां
जग पुड़ि[6] वाधै[7] वेलि जिम ॥२८२॥
पेखे कोइ कहति एक एक प्रति
विमळ मंगळ गृह एक वर्गि[8] ।
एणि कवण[9] सुभ क्रम[10] आचरताँ
जाणियै[11] वेलि जपन्ति जगि ॥२८३॥
चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा
ससत्र उखध मँत्र तँत्र सुवि[12] ।
काया कजि उपचार करन्ताँ
हुवै सु वेलि जपन्ति हुवि[13] ॥२८४॥
आधिभूतक आधिदेव अध्यातम
पिंड[14] प्रभवति[15] कफ वात पित ।
त्रिविध ताप तसु रोग त्रिविधिमै
न भवति वेलि जपन्त नित ॥२८५॥

शब्दार्थ :—१–उत्पन्न होती है । २–आप-आप मे—परस्पर । ३–प्राप्त करना । ४–ब्याही हुई । ५–(१) साथी (२) सेना, (३) परिषद (४) हाथी घोड़े इत्यादि विजय या सफलता प्राप्त करने के साधन । ६–जग-पुड़ि—पृथ्वीतल । ७–बढ़ते है । ८–एकत्रित, वर्गीकृत । ९–कौन कौन से । १०–कर्म । ११–ऐसा प्रतीत होता है, जानो । १२–सभी । १३–होता है । १४–शरीर । १५–होने वाले ।

मन सुद्धि जपन्तां रुषमिणि मंगल
निधि सम्पति थाइ[1] कुसल नित ।
दुरदिन दुरग्रह दुसह दुरदसा
नासै दुसुपन दुर निमित[2] ॥२८६॥
मणि मंत्र तंत्र बळ जंत्र अमंगळ
थळि जळि नभसि न कोइ छळन्ति ।
डाकिणि शाकिणि भूत प्रेत डर
भाजै उपद्रव वेलि भणन्ति ॥२८७॥
सन्यासिए जोगिए तपसि तापसिए
काँइ[3] इवड़ा[4] हठ निग्रह किया ।
प्राणी भवसागर वेलि पढ़न्तां
थिया पार तरि पारि थिया[5] ॥२८८॥
किं जोग जाग जप तप तीरथ किं
व्रत किं दानाश्रम वरणा ।
मुख कहि कृसन रुषमिणि मंगल
काँइ रे मन कलपसि[6] कृपणा ॥२८९॥
बे हरि हर भजै[7] अतारू[8] बोळै
ते ग्रब[9] भागीरथी म[10] तूँ ।
एक देस वाहणी[11] न आणाँ[12]
सुरसरि सम सरि वेलि सूँ ॥२९०॥

शब्दार्थ :—१–होता है । २–दुर-निमित—बुरे शकुन । ३–क्या । ४–ऐसा, इतना । ५–पारि थिया—पार हो गये । ६–विषाद करना । ७–सेवा करती है । ८–तैरना न जानने वाला । ९–गर्व । १०–मा (निषेधात्मक) । ११–(१) बहने वाली, (२) सेना । १२–अन्यत्र ।

वेलि रूपक

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ[1]
महि थाणौ[2] प्रिथु[3] दास मुख ।
मूळ ताल जड़ अरथ मण्डहे[4]
सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख ॥२९१॥
पत्र अक्खर दळ द्वाळा[5] जस परिमळ
नव रस तन्तु विधि[6] अहोनिसि ।
मधुकर रसिक[7] सु भगति मंजरी
मुगति फूल फळ भुगति मिसि ॥२९२॥

कवि का वक्तव्य

कळि कलप वेलि वळि कामधेनुका
चिन्तामणि सोमवल्लि चत्र[8] ।
प्रकटित पृथिमी पृथु मुख पंकज
अखरावळि मिसि थाइ एकत्र ॥२९३॥
प्रिथु वेलि कि पँचविध प्रसिध प्रणाळी
आगम[9] नीगम[10] कजि[11] अखिळ ।
मुगति तणी नीसरणी[12] मंड़ी[13]
सरग लोक सोपान इळ[14] ॥२९४॥
मोतिए विसाहण[15] ग्रहि कुण मूँकै[16]
एक एक प्रति एक अनूप ।
किल सोझण[17] मुख मूझ[18] वयण कण
सुकवि कुकवि चालणी[19] न सूप ॥२९५॥

शब्दार्थ :—१–खेत बोया। २–थाँवला। ३–पृथ्वीराज। ४–मंडप पर। ५–दोहला। ६–बढ़ना, वृद्धि। ७–काव्य मर्मज्ञ। ८–चारों। ९–शास्त्र ग्रन्थ। १०–वेद। ११–कार्य। १२–सोपान। १३–सुशोभित है। १४–पृथ्वी। १५–व्यवसाय। १६–कुण-मूंकै—कौन छोड़े। १७–संशोधन। १८–मेरे। १९–चलनी।

पिंडि नख सिख लगि ग्रहणे पहिरिए
महि मूँ[1] वाणी[2] वेलि मई ।
जग गळि लागी रहै असै जिमि
सहे न दूखण जेम सई[3] ॥२९६॥

भाषा संस्कृत प्राकृत भणंता
मूझ भारती[4] ए मरम ।
रस दायिनी[5] सुन्दरी रमताँ
सेज अन्तरिख भूमि सम ॥२९७॥

विवरण जौ वेलि रसिक रस वंछौ
करौ करणि[6] तौ मूझ कथ ।
पूरे इते प्रामिस्यौ[7] पूरौ
इअें[8] ओछें[9] ओछौ अरथ ॥२९८॥

ज्योतिषी वेद पौराणिक जोगी
संगीती तारकिक सहि ।
चारण भाट सुकवि भाखा चित्र[10]
करि एकठा तो अरथ कहि ॥२९९॥

ग्रहिया मुखि मुखा गिळित ऊग्रहिया[11]
मूँ गिणि[12] आखर ए मरम ।
मोटां[13] तणौ प्रसाद कहै महि
ऐठौ[14] आतम सम[15] अधम ॥३००॥

शब्दार्थ :—१—मेरी । २—कविता । ३—साध्वी स्त्री । ४—सरस्वती, वाणी । ५—रसदायिनी—आनन्ददायिनी । ६—कार्य (करणीय) । ७—पा सकोगे । ८—इससे । ९—न्यून । १०—भाखा-चित्र—चतुर कवि । ११—उगल दिया । १२—समझकर । १३—प्रतिष्ठित पुरुषों का । १४—स्पर्श किया हुआ; उच्छिष्ठ । १५—आतम-सम—अपने समान ।

हरि जस रस साहस करे हालिया[1]
मो[2] पंडिता वीनती मोख ।
अम्हीणा[3] तम्हीणे[4] आया
श्रवण तीरथे वयण सदोख ॥३०१॥

रमताँ जगदीसर तणौ रहसि रस[5]
मिथ्या वयण न तासु[6] महे[7] ।
सरसै[8] रुषमणि तणी सहचरी
कहिया मूँ मैं तेम[9] कहे ॥३०२॥

तूँ तणा अनै तूँ तणी तणा त्री
केसव कहि कुण सकै क्रम ।
भलौ ताइ परसाद भारती
भूंडो[10] ताइ माहरौ[11] भ्रम ॥३०३॥

रूप लखण गुण तणा रुषमिणी
कहिवा सामरथीक कुण ।
जाइ जाणिया तिसा[12] मैं जम्पिया[13]
गोविँद राणी[14] तणा गुण ॥३०४॥

रचना काल

वरसि अचळ[15] गुण अंग[16] ससी[17] संवति
तवियौ[18] जस करि श्री भरतार ।
करि श्रवणे दिन रात कंठ करि[19]
पामै[20] त्री फळ भगति अपार ॥३०५॥

शब्दार्थ :—१–चले। २–मेरा। ३–हमारा। ४–तुम्हारा। ५–रहसि-रस—एकान्त में की हुई केलि का आनन्द। ६–उसके। ७–अन्दर। ८–सरस्वती। ९–(तिमि)—वैसे। १०–अनिष्टकर। ११–मेरे, हमारे। १२–(१) उतने ही, (२) वैसा। १३–कहे हैं। १४–गोविंद–राणी—गोविन्द–(कृष्ण) की रानी—रुक्मिणी। १५–पर्वत। १६–वेदाङ्ग। १७–चन्द्रमा एक संख्या द्योतक है। १८–स्तुति की। १९–कंठस्थ करना। २०–पाता है।

सरलार्थ

सरलार्थ

प्रस्तुत दोहलें में पुस्तक की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगलाचरण करने के अतिरिक्त लेखक ने मंगलरूप श्रीकृष्ण के गुणानुवाद को अपना उद्देश्य बताया है :—

(१) परमेश्वर को प्रणाम करने के अनन्तर सरस्वती को प्रणाम करके तत्पश्चात् मंगलरूप श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन किया जाता है। परमेश्वर, सरस्वती तथा सद्गुरू, यह तीन ही सारतत्व हैं। [परमेश्वर, सरस्वती, सद्गुरू तथा श्रीकृष्ण का गुणानुवाद] यही चार प्रकार का मंगलाचरण है।

(२) जिस गुणनिधि ने आरंभ में उत्पत्ति की है उस सृष्टिकर्त्ता का मैं, गुणहीन होते हुए भी, गुणगान करना चाहता हूँ। मेरा यह कार्य ऐसा दुष्कर है मानो काठ में चित्रित प्रतिमा—जड़ होते हुए भी—अपने चित्रकार को ही अपने गुणहीन हाथों से चित्रित करने का प्रयास करती हो।

अलंकार—दृष्टान्त तथा उत्प्रेक्षा। 'चीत्रारै लागी चित्रण' में असंभव।

(३) मैंने कमलापति श्रीकृष्ण के यश का आदरपूर्वक वर्णन करना स्वीकार किया है। यह मानो मूक व्यक्ति ने वाग्देवी सरस्वती से, विजय प्राप्त करने के लिए, विवाद आरम्भ किया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा। विरोधाभास—चतुर्थपंक्ति। यमक–'आदर–आदरी'।

(४) हे मूर्ख मन, जो बात सरस्वती को भी नहीं सूझती, तू उसी की खोज करता है। तू या तो वातरोग से पीड़ित है अथवा पागल हो गया है। तू मन के समान ही—अपनी स्वाभाविक गति के अनुसार ही—अवश्य दौड़ता है, किन्तु तू पंगु होने के कारण वहाँ तक कैसे पहुँच सकता है। यह कार्य दुष्कर है।

अलंकार—सन्देह। विशेषोक्ति। अनन्वयोपमा।

(५) जिस शेषनाग के सहस्र फण हैं, प्रत्येक फण में दो-दो जिह्वा हैं तथा प्रत्येक जिह्वा में नवीन यशगान है, अर्थात् दो हजार जिह्वाओं से जो नित्य नवीन यशगान करता है, उस शेषनाग ने भी त्रिविक्रम—परमेश्वर—

के गुणों का पार नहीं पाया, तब मुझ मेंढक के समान गुणहीन तथा तुच्छ जीव के वचनों की तो सामर्थ्य ही क्या है। अर्थात् मैं उसका वर्णन अपनी एक जिह्वा से कर सकने में सर्वथा असमर्थ हूँ।

अलंकार— सार। परिकरांकुर। काव्यार्थापत्ति। पुनरुक्तिप्रकाश।

(६) हे लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण, कौन ऐसा विद्वान् है जो आपके गुणों का बखान कर सकता है। कौन ऐसा तैराक है जो समुद्र को तैरकर पार कर सकता है, कौन ऐसा पक्षी है जो उड़कर आकाश के अन्त तक पहुँच सकता है तथा कौन ऐसा रंक है जो सुमेरु पर्वत को अपन हाथ में उठा सकता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार ऐसा होना असंभव है उसी प्रकार आपके अपरिमित गुणों का उचित रीति से वर्णन करना मेरे लिए भी असंभव-सा है।

अलंकार—निदर्शना–माला।

(७) जिन कृष्ण ने हमें जन्म दिया है, जिन्होंने जन्म के साथ ही जिह्वा दी अर्थात् वाणी का वरदान दिया तथा जो हमारा पालन-पोषण भी करते हैं, उनका यश-गान करने का श्रम किये बिना कैसे रहा जा सकता है।—अतएव समर्थ न होते हुए भी मैं अपना कर्त्तव्य-पालन करने के विचार से वर्णन करता हूँ।

अलंकार—वृत्यनुप्रास।

(८) शृंगारग्रंथ के रचयिता को सर्व-प्रथम स्त्री का वर्णन करना चाहिए। शुकदेव, वेदव्यास, जयदेव आदि सुकवियों ने इसी प्रणाली का अनुगमन किया है।

(९) पुत्र का हित करने के विचार से पिता से माता ही अधिक बड़ी है, क्योंकि वह पुत्र को दस माह तक गर्भ में धारण करने के पश्चात् उसका दस मास तक संसार में पालन-पोषण करती है। इसी कारण माता का वर्णन पहले किया है।

(१०) दक्षिण दिशा में विदर्भ एक अत्यन्त शोभाशाली—दीपित—देश था। उस देश में कुन्दनपुर—कुण्डिनपुर—नाम का एक नगर था। वह नगर बहुत सुन्दर था। वहाँ नागों, नरों, असुरों और सुरों का शिरोमणि भीष्मक नामक राजा राज करता था।

(११) उस राजा के पाँच पुत्र थे और छठी सुपुत्री थी। उन पाँचों राजकुमारों के नाम क्रमशः रुक्म, रुक्मबाहु, रुक्मांगी, रुक्मकेश तथा रुक्मरथ थे। वे विमलख्यातिवाले थे।

(१२) उस राजा की रुक्मिणी नामक पुत्री लक्ष्मी का अवतार थी। वह बालक्रीड़ा में रत ऐसी शोभित होती थी जैसे मानसरोवर में हंस का बच्चा मनोहर प्रतीत होता है। वह राजकन्या सुमेरु पर्वत पर नवपल्लविता दो पत्तों-वाली कनकलता के समान सुन्दर थी, अर्थात् उसका शरीर वर्ण में स्वर्ण के समान दीप्तिमान तथा वह लता के समान कोमल थी।

अलंकार—वाचकलुप्तोपमा। यथासंख्य।

(१३) (रुक्मिणी साधारण बच्चों से भिन्न प्रकृति की थी। उसके अंग-प्रत्यंग का विकास ऐसा असाधारण था कि) अन्य बालक जितना वर्ष भर में बढ़ते थे तो उतना वह एक मास में ही बढ़ जाती थी। जितना अन्य एक मास में बढ़ पाता, उतना वह एक पल मात्र में बढ़ जाती थी। बालक्रीड़ा की दशा में ही जब वह गुड़ियों से खेलती थी तभी उसमें—यौवनवती नायिकाओं के—बत्तीसों लक्षण प्रकट हो रहे थे।

टिप्पणी—साहित्य में नायिका के २८ लक्षणों की गणना कराई गई है। इनकी संख्या तथा नामावली इस प्रकार है।—१८ सत्वज अलंकार + ३ अंगज अलंकार + ७ अयत्नज अलंकार = २८ अलंकार।

(१४) राजकुमारी की सभी सखियाँ उत्तम जाति की थीं। समान कुल, शील तथा आयुवाली वे सखियाँ कमलिनी की कलियों के समान—कोमल तथा आकर्षक—दिखाई देती थीं। राजप्रासाद के अजिर में सखियों के साथ राजकुमारी इस प्रकार शोभित हो रही है, जैसे स्वच्छ आकाश में तारागण के मध्य चन्द्रमा शोभायमान हो।

टि०—'पद्मिनी' शब्द का प्रयोग यहाँ 'उत्तम जाति की स्त्रियों' तथा 'कमलिनी' दोनों के लिए हुआ है। अति सुकुमार, लज्जावती, बुद्धिमती, उदार, प्रसन्नवदना स्वर्ण के समान कांतिवाली, पद्म की-सी गंधवाली, सर्वांग सुन्दरी नायिका को साहित्य-शास्त्र में 'पद्मिनी' नायिका कहा गया है। इस नायिका को रति-सुन्दरी, अल्परोमवती तथा गान-वाद्य-परायणा भी कहा गया है।

डा० टैसीटरी ने इस पद में प्रयुक्त 'अम्बहरि' तथा 'वीरज' के स्थान पर 'अम्बरि' तथा 'बीज' को ही उपयुक्त मानते हुए क्रमशः 'ह' तथा 'र' अक्षरों का इन शब्दों में निरर्थक प्रयोग माना है। पाठान्तर के अनुसार इसका अर्थ होगा—'गगन में तारामण्डल के मध्य द्वितीया का चन्द्रमा।'

अलंकार—उपमा।

(१५) बाल्यावस्था में यौवनोद्गम का कोई भी लक्षण लक्षित नहीं होता। इस समय यौवन सुषुप्ति की दशा में रहता है। बाल्यावस्था के समाप्त होने तथा यौवन के आरम्भ होने के संधिकाल की दशा स्वप्न की दशा के समान है। संधिकाल से निरन्तर यौवन का विकास होता रहता है। रुक्मिणी को इसी यौवनोद्गम का आभास इस प्रकार हुआ।

टि०—वेदान्त-दर्शन के अनुसार जीव की चार दशाएँ हैं—१. जागृत, २. स्वप्न, ३. सुषुप्ति तथा ४. तुरीय। इनमें से जागृत अवस्था ज्ञान की वह अवस्था है जिसमें काम अर्थात् इच्छा वर्तमान रहती है। स्वप्नावस्था में न तो पूर्ण अज्ञान ही रहता है और न जागने का ही बोध रहता है। तीसरी अवस्था सुषुप्ति में पदार्थबोध तनिक भी नहीं रहता। यह अवस्था गहरी निद्रा के समान है। उपरिलिखित पद में कवि ने बाल्यावस्था को यौवन की सुषुप्ति अवस्था केवल इसी समानता के कारण कहा है कि जिस प्रकार सुषुप्ति में बोध नहीं रहता, उसी प्रकार बाल्यावस्था वह अबोध अवस्था है जब यौवनागम का कोई ज्ञान ही नहीं होता। वयःसन्धिकाल तक आते-आते यौवन का बोध जागृत होने लगता है, किन्तु तब भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता। अतएव वह अवस्था स्वप्न दशा के सदृश है। धीरे-धीरे यौवन के विकास के साथ-साथ जागृति के समान बोध की स्थिति आती है। यौवनागम और उससे अंगों का विकास-बोध अधिकाधिक बढ़ता जाता है।

अलंकार—वाचकलुप्तोपमा।

(१६) वयःसन्धि के आरम्भ होते ही—प्रथम रुक्मिणी का मुख अरुण हो गया, मानों पूर्वदिशा में सूर्योदय के समय लालिमा छा गई हो। कुचयुगल भी ऐसे उन्नत हो गये हैं, मानों उस राग को देखकर—उसे पूर्वदिशा में उदित सूर्य का राग समझकर—ऋषिगण भी सन्ध्या-वन्दन के हेतु जाग उठे हों।

टि०—इस पद में यौवनागम पर मुख के राग को प्रातःकालीन सूर्य का राग कहकर यह ध्वनित किया गया है कि बाल्यावस्था रात्रि के समान थी और यौवन दिन के समान है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(१७) बाल्यावस्था के सहचर बालपन को जाता हुआ जानकर बाला—रुक्मिणी—अत्यन्त व्याकुल हुई। किन्तु यौवनागम जानकर भी उसके हृदय को शान्ति नहीं मिली।

अलंकार—अनुप्रास तथा हेतु।

(१८) अपने माता-पिता के सामने अजिर में विचरण करते समय काम के निवास-स्थानों को छिपाने के लिए रुक्मिणी के अंगों में लज्जा का प्रादुर्भाव हुआ। इस स्वाभाविक लज्जा के कारण रुक्मिणी को लाज करने में भी लज्जा लग रही है।

टि०—रुक्मिणी के शरीर में अब यौवन की झलक आ गई है। कुच, नितम्ब आदि उन्नत तथा पीन हो गये हैं। उसे ऐसी दशा में अपने माता-पिता के सामने जाने में लज्जा का अनुभव हो रहा है। साथ ही यह सोचकर कि कहीं मेरी लज्जा के कारण ही माता-पिता मेरे यौवनागम की बात न जान लें, वह और भी अधिक संकुचित हो उठती है और ऐसा प्रतीत होता है, मानों उसे लज्जा करने में भी लज्जा आ रही है। लज्जानुभव का यह एक बहुत ही मधुर चित्र है। संकोच की स्वाभाविकता दर्शनीय है।

अलंकार—स्वभावोक्ति, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, अत्युक्ति।

(१९) शिशिर ऋतु के समान शैशव पूर्णतया समाप्त हो गया है। ऐसा जानकर यौवन-रूपी-वसन्त ने अपने सम्पूर्ण परिवार—गुण, गति तथा मति को लेकर पदार्पण किया है, अर्थात् रुक्मिणी के अंगों में सौन्दर्य विकास पाने लगा है, चंचलता एवं स्फूर्ति का भाव उत्पन्न हो गया है तथा उसके हृदय में नवीन भाव एवं उमंगें उठने लगी हैं।

टि०—प्रस्तुत पद में कवि ने यौवन और वसन्त का रूपक बाँधा है। जिस प्रकार वसन्त अपने गति, मति तथा गुण इन तीनों गुणों के साथ प्रस्फुट होता है, उसी प्रकार यौवन में भी यह तीनों गुण पाये जाते हैं। यौवन में

गुण सौन्दर्य का, मति आनन्द की निस्सीम तरंगों तथा गति चंचलता का बोधक है।

अलंकार—सांगरूपक।

(२०) प्रसंग—प्रस्तुत पद में यौवनागम के कारण रुक्मिणी के अंगों के विकास की तुलना वसन्तागम पर प्रकृति के अंगों के विकास से की गई है। वसन्त में पुष्प विकसित होते हैं, पिक अपने कलकण्ठ से मधुर गान करती हुई श्रोता को रिझा लेती है, मधुप मधु-संचय के हेतु पुष्प से पुष्प पर उड़ान भरते हैं। इसी प्रकार रुक्मिणी के अंगों में भी नवीन विकास के लक्षण प्रकट हो रहे हैं :—

यौवन-रूपी-वसन्त के आगमन के कारण रुक्मिणी के शरीर के अंग-प्रत्यंग पुष्प के सदृश विकसित हो गये हैं। उसका शरीर पुष्प-युक्त सुन्दर वन है। नेत्र-रूपी-कमल खिले हैं तथा उसका सुहावना शब्द ही कोयल का मधुर स्वर है। पलक-रूपी-पंखों को नवीन विधि से सजाकर चपल—भौंह-रूपी-भ्रमर उड़ने लगे हैं, अर्थात् उसके पलक झाँपने में भी विचित्रता आ गई है।

अलंकार—सांगरूपक।

(२१) रुक्मिणी का शरीर ही मलयाचल पर्वत है। मलयतरु की मंजरी के समान ही उसके मन-रूपी-मलयतरु में उमंग तथा नवीन इच्छाओं-रूपी-मंजरी उत्पन्न हो रही है। कामदेव के नवीन उन्नत अंकुरस्वरूप कुच ही मलय-वृक्ष की कलियाँ हैं। उसकी तीव्र श्वास को ही दक्षिण दिशा से आती हुई त्रिगुण—शीतल, मन्द, सुगन्ध—मलयज वायु कहना चाहिये।

अलंकार—सांगरूपक।

(२२) इस पद में कवि ने रुक्मिणी जी के मुख की पूर्णिमा के चन्द्रमा से तुलना करते हुए रात्रि का रूपक बाँधा है।—

रुक्मिणी जी का मुख पूर्णिमा का चन्द्र है। उनके हृदय में विकसित आनन्द ही चन्द्र का उदय है। उनका सहजभाव से हँसना ही चन्द्रमा की ज्योत्स्ना है। उनके नेत्र कुमुदिनी हैं। तारों की कान्ति के सदृश उनके दाँत शोभित हैं। अन्धकार में ज्योति विकीर्ण करनेवाली दीपशिखा के समान उनकी दीर्घ नासिका है।

अलंकार—सांगरूपक, पूर्णोपमा।

(२३) आयु की वृद्धि के साथ-साथ शरीर-रूपी-रात्रि भी बढ़ती गई अर्थात् समस्त अवयव बढ़ते और पुष्ट होते गये। रुक्मिणी के यौवन का विकास ही—पूर्ण चन्द्र के प्रभाव से—जल का वेगपूर्वक उमड़ना है। सुन्दरी रुक्मिणी के हाथ का पंजा ही कामदेव का पुष्पधनु है। उसके दोनों बाहु ही वरुण के पाश की डोरी हैं। तात्पर्य यह कि रुक्मिणी का रूप-लावण्य अत्यन्त मोहक तथा चित्त को पाश में फँसा लेनेवाला है। उसके बाहुओं का सुन्दर गठन मानों आकर्षण का आमन्त्रण देता है।

अलंकार—रूपक तथा सहोक्ति।

(२४) कवि की वाणी ने यौवन का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। कामिनी के कठोर स्तन ही मानों हाथी का गण्डस्थल है और उन पर शोभित श्यामलता मानों मदमत्त हाथी के गण्डस्थल से स्रवित मद है।

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा।

(२५) प्रस्तुत पद में रुक्मिणी की नाभि को प्रयाग का रूप दिया गया है तथा उसके कुचयुगल की सुमेरु-पर्वत के शिखरों से उपमा दी है।

रुक्मिणीजी के कठिन, सुडौल स्तन—अत्यन्त उन्नत होने के कारण—सुमेरु पर्वत की चोटियों के समान प्रतीत होते हैं। उनकी सुन्दर कटि अत्यन्त कृश तथा सुगठित है। पद्मिनी स्त्री के उपयुक्त उनकी नाभि प्रयाग के सदृश है। त्रिवली—पेट पर पड़नेवाली तीन रेखाएँ—ही नाभि-रूपी-प्रयाग की त्रिवेणी है। नितम्ब ही उसके तट हैं।

अलंकार—उपमागर्भित रूपक।

(२६) विद्वान् कविगण सुन्दर नितम्बोंवाली रुक्मिणी की करभ के समान अनुपम जंघाओं और बाहुओं का वर्णन करते हुए उन्हें कदली के उल्टे किये गये खम्भों के समान बताते हैं। उनकी दोनों पिण्डलियाँ कदली वृक्ष के गूदे के सदृश कोमल तथा सचिक्कण हैं।

अलंकार—प्रतीप तथा उपमा।

(२७) स्वच्छ कमल के पत्ते पर जलकण के सदृश रुक्मिणी के पद-रूपी पल्लव पर नख-रूपी-जलकण सुशोभित हैं। उन नखों की कान्ति को देखकर इस

प्रकार का सन्देह बना रहता है कि वह हीरों का तेज है अथवा तारों का प्रकाश है या बालसूर्य है किंवा बालचन्द्र है अथवा हीरे ही हैं।—

अलंकार—रूपक तथा सन्देह।

(२८) रुक्मिणीजी ने ८ व्याकरण, १८ पुराण, १८ स्मृतियाँ, ४ शास्त्र-रीति, चारों वेद तथा ६ वेदांगों का अध्ययन और मनन करके १४ विद्याएँ एवं ६४ कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया और उनके मध्य में अनन्तशायी भगवान् विष्णु की ही अनन्त, अपरिमित व्याप्ति पाई।

टि०:—४ शास्त्र—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, अर्थशास्त्र।

६ अंग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष।

१४ विद्या—४ वेद, १ मीमांसा, १ न्याय, १ धर्मशास्त्र, १ पुराण।

विचार—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त यह ६ दर्शन।

अलंकार—पर्याय।

(२९) श्रीकृष्णजी के इतने अधिकार का स्मरण करके रुक्मिणी के हृदय में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम स्थापित हो गया। वह उत्तम वर को प्राप्त करने की इच्छा करने लगी। भगवान् के गुणों का मनन करके रुक्मिणी के हृदय में उनको प्राप्त करने की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई। उस इच्छा को पूरा करने के लिए वह शिव-पार्वती की आराधना करने लगी।

अलंकार—यमक तथा पदार्थावृत्ति दीपक।

टि०—श्यामा नारी का लक्षण—१. सुन्दरी स्त्री जिसके सन्तान न हुई हो, २. साँवली स्त्री, ३. मधुरभाषिणी, ४. १६ वर्ष की नायिका, ५. शीत में उष्ण तथा ग्रीष्म में शीत एवं मध्यकाल में मध्यस्थिति के शरीरवाली नायिका। वेलि के संस्कृत टीकाकार ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है:—

श्यामा च श्यामवर्णा स्यात् श्यामा मधुरभाषिणी।
अप्रसूता भवेत् श्यामा श्यामा षोडशवार्षिकी॥
या शीते चोष्णशरीरा उष्णे शीतशरीरिणी।
मध्यकाले भवेन्मध्या सा श्यामा इत्युदाहृता॥

(३०) पूर्वोक्त पदों में वर्णित रुक्मिणी के शरीर में, प्रकट यौवनागम-सूचक चिह्नों को देखकर उसके मातापिता ने उसके विवाह का पवित्र विचार

किया। उनको कृष्ण के सदृश सुन्दर, शीलवान्, वीर और कुलीन अन्य कोई वर न दिखाई दिया।

अलंकार—उपमा।

(३१) कृष्ण के साथ रुक्मिणी के विवाह-सम्बन्ध की बात सुनकर—रुक्मि अपने माता-पिता से कहने लगा कि मेरा विचार है कि राजवंशियों का अहीरवंश के साथ जाति-सम्बन्ध कैसा ? हम राजवंशियों की तुलना में कृष्ण की जाति ही क्या है ? और उनके कुल की मर्यादा भी क्या है ? विवाह आदि सम्बन्ध बराबर जाति के लोगों से ही हो सकते है।—अर्थात् कृष्ण हमसे हर बात में ओछे है, अतएव उनसे सम्बन्ध होना असम्भव है।

(३२) रुक्मि ने कहा कि वृद्धावस्था में वृद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण माता-पिता इतने राजकुलों को छोड़कर अहीरकुल से विवाह-सम्बन्ध कर रहे हैं। इनका कोई विश्वास न करे।

(३३) रुक्मिणी के माता-पिता ने रुक्मि से कहा :—हे पुत्र, तू मूर्खता मत कर। प्रिय रुक्मिणी साक्षात् लक्ष्मीरूपा है और वसुदेव के पुत्र कृष्ण विष्णु के समान हैं, जिनकी देवता, मनुष्य, तथा नाग सभी पूजा करते हैं।

अलंकार—उपमा।

(३४) यह सुनकर रुक्मि माता-पिता की मानमर्यादा का तिरस्कार करता हुआ बोला :—शिशुपाल के सदृश कोई भी उत्तम वर नहीं है। जिस प्रकार वर्षाकाल में बादल अकस्मात् तीव्र जलवर्षण करने लगते हैं, उसी प्रकार रुक्मि भी एकदम आवेश में भरकर उबल पड़ा। अथवा राजकुमार रुक्मि कुपित होकर इस प्रकार उफन पड़ा, जैसे बरसात का क्षुद्र नाला अथवा क्षुद्र नदी—वाहला—उमड़कर तट से बाहर हो सीमा लांघकर बहने लगती है।

टि०—तुलना कीजिये :—क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई।
जस थोरेइ धन खल बौराई॥—तुलसी।

दोहले का अर्थ अन्य लेखकों ने इस प्रकार किया है :—"कुँवर रुक्मि कुपित होकर इस प्रकार उफन पड़ा जिस प्रकार बरसात का क्षुद्र नाला अथवा नदी। परन्तु जिस प्रकार बरसाती नाले वा नदी का जल थोड़े समय तक रहता है वैसे ही रुक्मि के क्रोध को समझना चाहिये।"

प्रकार का सन्देह बना रहता है कि वह हीरों का तेज है अथवा तारों का प्रकाश है या बालसूर्य है किंवा बालचन्द्र है अथवा हीरे ही हैं।—

अलंकार—रूपक तथा सन्देह।

(२८) रुक्मिणीजी ने ८ व्याकरण, १८ पुराण, १८ स्मृतियाँ, ४ शास्त्र-रीति, चारों वेद तथा ६ वेदांगों का अध्ययन और मनन करके १४ विद्याएँ एवं ६४ कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया और उनके मध्य में अनन्तशायी भगवान् विष्णु की ही अनन्त, अपरिमित व्याप्ति पाई।

टि०:—४ शास्त्र—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, अर्थशास्त्र।

६ अंग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष।

१४ विद्या—४ वेद, १ मीमांसा, १ न्याय, १ धर्मशास्त्र, १ पुराण।

विचार—सांख्य, योग, न्याय, वैशेपिक, मीमांसा और वेदान्त यह ६ दर्शन।

अलंकार—पर्याय।

(२९) श्रीकृष्णजी के इतने अधिकार का स्मरण करके रुक्मिणी के हृदय में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम स्थापित हो गया। वह उत्तम वर को प्राप्त करने की इच्छा करने लगीं। भगवान् के गुणों का मनन करके रुक्मिणी के हृदय में उनको प्राप्त करने की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई। उस इच्छा को पूरा करने के लिए वह शिव-पार्वती की आराधना करने लगी।

अलंकार—यमक तथा पदार्थावृत्ति दीपक।

टि०—श्यामा नारी का लक्षण—१. सुन्दरी स्त्री जिसके सन्तान न हुई हो, २. साँवली स्त्री, ३. मधुरभाषिणी, ४. १६ वर्ष की नायिका, ५. शीत में उष्ण तथा ग्रीष्म में शीत एवं मध्यकाल में मध्यस्थिति के शरीरवाली नायिका। वेलि के संस्कृत टीकाकार ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है:—

श्यामा च श्यामवर्णा स्यात् श्यामा मधुरभाषिणी।
अप्रसूता भवेत् श्यामा श्यामा षोडशवार्षिकी॥
या शीते चोष्णशरीरा उष्णे शीतशरीरिणी।
मध्यकाले भवेन्मध्या सा श्यामा इत्युदाहृता॥

(३०) पूर्वोक्त पदों में वर्णित रुक्मिणी के शरीर में, प्रकट यौवनागम-सूचक चिह्नों को देखकर उसके मातापिता ने उसके विवाह का पवित्र विचार

किया। उनको कृष्ण के सदृश सुन्दर, शीलवान्, वीर और कुलीन अन्य कोई वर न दिखाई दिया।

अलंकार—उपमा।

(३१) कृष्ण के साथ रुक्मिणी के विवाह-सम्बन्ध की बात सुनकर—रुक्मि अपने माता-पिता से कहने लगा कि मेरा विचार है कि राजवंशियों का अहीरवंश के साथ जाति-सम्बन्ध कैसा ? हम राजवंशियों की तुलना में कृष्ण की जाति ही क्या है ? और उनके कुल की मर्यादा भी क्या है ? विवाह आदि सम्बन्ध बराबर जाति के लोगों से ही हो सकते हैं।—अर्थात् कृष्ण हमसे हर बात में ओछे हैं, अतएव उनसे सम्बन्ध होना असम्भव है।

(३२) रुक्मि ने कहा कि वृद्धावस्था में बुद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण माता-पिता इतने राजकुलों को छोड़कर अहीरकुल से विवाह-सम्बन्ध कर रहे हैं। इनका कोई विश्वास न करे।

(३३) रुक्मिणी के माता-पिता ने रुक्मि से कहा :—हे पुत्र, तू मूर्खता मत कर। प्रिय रुक्मिणी साक्षात् लक्ष्मीरूपा है और वसुदेव के पुत्र कृष्ण विष्णु के समान हैं, जिनकी देवता, मनुष्य, तथा नाग सभी पूजा करते हैं।

अलंकार—उपमा।

(३४) यह सुनकर रुक्मि माता-पिता को मानमर्यादा का तिरस्कार करता हुआ बोला :—शिशुपाल के सदृश कोई भी उत्तम वर नहीं है। जिस प्रकार वर्षाकाल में बादल अकस्मात् तीव्र जलवर्षण करने लगते हैं, उसी प्रकार रुक्मि भी एकदम आवेश में भरकर उबल पड़ा। अथवा राजकुमार रुक्मि कुपित होकर इस प्रकार उफन पड़ा, जैसे बरसात का क्षुद्र नाला अथवा क्षुद्र नदी—वाहला—उमड़कर तट से बाहर हो सीमा लांघकर बहने लगती है।

टि०—तुलना कीजिये :—क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई।
जस थोरेइ धन खल बौराई॥—तुलसी।

दोहले का अर्थ अन्य लेखकों ने इस प्रकार किया है :—"कुँवर रुक्मि कुपित होकर इस प्रकार उफन पड़ा जिस प्रकार बरसात का क्षुद्र नाला अथवा नदी। परन्तु जिस प्रकार बरसाती नाले वा नदी का जल थोड़े समय तक रहता है वैसे ही रुक्मि के क्रोध को समझना चाहिये।"

किन्तु अर्थ के साथ जो थोड़े समय की बात कही गई है वह हमें संगत प्रतीत नहीं होती। यहाँ सीमोल्लंघन ही कवि द्वारा व्यंजित है। क्रोध का काल निश्चय नहीं किया है।

(३५) रुक्मि अपने माता-पिता की असह्य चूक समझकर अपने गुरु के घर गया। वहाँ जाकर उसने गुरु से दमघोष के वीर पुत्र शिशुपाल के सम्बन्ध में कहा कि हे पुरोहित! यदि मेरी बहिन रुक्मिणी नरश्रेष्ठ शिशुपाल से विवाह कर सके तो अत्यन्त अनुग्रह हो।

अलंकार—यमक।

(३६) रुक्मि की आज्ञा के आधीन होकर ब्राह्मण ने यह भी न सोचा कि क्या करना भला है और क्या बुरा, उसने आज्ञा पालन करने में तनिक भी विलम्ब न किया। विचार करने से भी पहिले वह विप्र लग्न लेकर चंदेवरी नगरी जा पहुँचा।

अलंकार—अत्यन्तातिशयोक्ति।

(३७) निमन्त्रण पाने पर शिशुपाल, जिसकी गति का वर्णन अन्य ग्रंथों में अथवा प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है, अत्यन्त उल्लसित होकर विवाह करने के लिए चला। उसके साथ चलनेवाले राजाओं की अपरिमित संख्या थी। यह कौन जानता है कि देश-विदेश के कितने राजा-महाराजा उसके साथ चले।

(३८) शिशुपाल के आगमन की सूचना पाकर राजा भीष्मक के घर अनेक उत्सव मनाए जा रहे हैं। नगाड़े पर प्रहार हो रहा है। कुण्डिनपुर नगर भर में वस्त्रों के मण्डपों की रचना की जा रही है। उन मण्डपों पर स्वर्ण-कलश बाँधे जा रहे हैं।

अलंकार—यमक।

(३९) घर-घर में प्रत्येक दीवार स्फटिक की ईंटों से चुनी गई और ईंगुर के गारे से लीपी गई है। यह दृश्य अत्यन्त अद्भुत तथा आकर्षक है। प्रत्येक घर की छत में चन्दन के तख्ते तथा किवाड़ भी चन्दन के ही लगे हुए हैं। उनके खम्भे मूंगे के बने हुए हैं, जिनके नीचे का भाग पन्ने का बना हुआ है।

अलंकार—उदात्त ।

(४०) श्याम और श्वेत रंग के वितान-रूपी-बादल तने हुए हैं। अनेक प्रकार के बजते हुए बाजों का शब्द भी मानों बादलों का घनघोर गर्जन है। द्वार-द्वार पर स्थापित महराबों में चित्रित मयूर मानों पर्वतों पर नृत्य करते हुए मोर ही हैं।

टि०—ठा० जगमालसिंहजी ने 'पटल' का अर्थ 'वस्त्र' मानते हुए यह अर्थ किया है—"जो श्वेत और श्याम रेशमी कपड़ों के समूह हैं, जो मण्डप बनाने में लगाये गये हैं, वे ही बादल हैं।" किन्तु संस्कृत टीकाकार ने 'जोइ' शब्द का अर्थ 'स्त्री' मानते हुए इसका निम्नलिखित अर्थ किया है।...."स्त्रियों ने श्यामल, उज्ज्वल इत्यादि रंग-बिरंगे जो वस्त्र पहने हैं वही मानो रंग-बिरंगे बादलों के समूह हैं। 'जोइ' के मेल में अगली पंक्ति में आये हुए 'सोइ' के कारण इसका अर्थ योषित—स्त्री—मानने पर 'सोइ' के मेल का सौन्दर्य नहीं रहता, अतएव संस्कृत टीकाकार का अर्थ ग्राह्य नहीं प्रतीत होता।

अलंकार—उत्प्रेक्षा-संयुक्तरूपक ।

(४१) शिशुपाल के साथ बारात में सम्मिलित राजाओं ने कुण्डिनपुर के समीप पहुँचने पर अपने हाथों को मस्तक पर रखकर दूर तक देखते हुए कहा :—दूर पर यह नगर है अथवा श्वेत बादल का छोर है। धवलगिरि है है या ऊंचे-ऊंचे सफेद प्रासाद ही हैं।

अलंकार—स्वभावोक्ति, संदेह ।

(४२) बारात को आती देखकर कुण्डिनपुर की नारियाँ झरोखों में चढ़-चढ़कर धवल-मंगल—मांगलिक गान—गाती हैं। उस समय उनकी प्रसन्नता से ऐसा प्रतीत हुआ मानों शिशुपाल का मुख सूर्य है और जिस प्रकार सूर्य को देखकर कमलिनी विकसित होती है, उसी प्रकार अन्य पद्मिनी नारियाँ शिशुपाल को देखकर प्रफुल्लित हो रही हैं। केवल रुक्मिणी ही कुमुदिनी-सदृश—उदास—हो रही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, उपमा, व्याघात ।

(४३) रुक्मिणीजी महलों पर चढ़-चढ़कर, जाली से, मार्ग में चलते हुए पथिकों को देखती हैं। उनका शरीर घर पर होते हुए भी मन उस श्रीकृष्ण से

मिल गया है—उन्हीं के स्मरण में लीन है। रुक्मिणीजी न कृष्णजी के लिए एक कागज़—पत्र—लिख रखा है। यह पत्र अश्रु-मिश्रित कज्जल-रूपी-स्याही तथा नाखून-रूपी-लेखनी द्वारा लिखा है।

अलंकार—रूपक।

(४४) इसी बीच रुक्मिणीजी को पवित्र यज्ञोपवीतधारी एक ब्राह्मण दिखाई दिया। प्रणाम करने के अनन्तर आतुर रुक्मिणी उससे कहने लगीं—हे भाई, पथिक, ब्राह्मण, मेरा यह सन्देश द्वारिका तक पहुँचा दो।

टि०—रुक्मिणी की आतुरता के प्रदर्शन के लिए एक साथ तीन सम्बोधनों का प्रयोग किया गया है।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

(४५) रुक्मिणीजी ने उस ब्राह्मण से कहा कि विलम्ब मत करो और एकाग्र-चित्त से, जहाँ यादवेन्द्र कृष्ण हैं, वहाँ जाओ। मेरे मुख से कही हुई पग-वन्दना को अपने मुख से कहने के उपरान्त उनको यह पत्र देना।

(४६) ब्राह्मण के द्वारिका जाते समय सूर्य की किरणें विलीन हो गईं अर्थात् सूर्यास्त हो गया। घर-घर में दीप जगमगा उठे। कोई-कोई पथिक ठहर जाओ! ठहर जाओ! कहते हुए मार्ग में ही रुक गये। वह ब्राह्मण भी कुन्दनपुर से बाहर आने पर रात्रि हो जाने के कारण आगे नहीं गया और सो गया।

(४७) "विवाह का दिन निकट ही है और द्वारिका नगरी दूर है। यही भय है कि वहाँ किस प्रकार पहुँच सकूँगा।" इस प्रकार चिन्ता करता हुआ वह विप्र सन्ध्या होने पर कुन्दनपुर में ही सो गया। प्रातःकाल जागने पर उसने अपने आपको द्वारिका में पाया।

अलंकार—विभावना।

(४८) जागने पर उसे कहीं तो वेदपाठ का स्वर सुनाई दिया, कहीं शंखनाद सुनाई दिया तथा कहीं झालरों की झनकार तथा नगाड़ों का घननाद भी उसने सुना। इस प्रकार एक ओर तो उसे नगर का कोलाहल सुनाई पड़ रहा था और दूसरी ओर—द्वारिका के समीपवर्ती—समुद्र की लहरों का शब्द सुनाई पड़ता था। नगर तथा समुद्र दोनों में समान रूप से

कोलाहल हो रहा था। तात्पर्य यह कि द्वारिका नगरी भी इतनी दीर्घकाय तथा जन-संकुल थी कि उसके कोलाहल की तुलना समुद्र के गंभीर नाद से की जा सकती थी।

अलंकार—देहरी दीपक, सार तथा तुल्ययोगिता।

(४९) चंपा-पुष्प की पँखड़ियों के सदृश स्वर्ण वर्ण वाली पनिहारिनों के वृन्द शीश पर स्वर्ण के कलश लिये कमल के समान अपने कोमल हाथों से उन्हें पकड़े हुए हैं। पवित्र ब्राह्मण ही स्वच्छ जलवाले जलाशयों पर चलते-फिरते तीर्थ हैं। अर्थात् उनके साथ रहने का पुण्य-फल तीर्थ-निवास के समान ही है।

टि०—तीर्थ तीन प्रकार के माने गये है :—

१—ब्राह्मण आदि के चलते-फिरते—जंगम तीर्थ।

२—सत्य, क्षमा, दया, ब्रह्मचर्य, मधुरभाषणादि—मानस तीर्थ।

३—स्थल विशेष:—काशी, प्रयाग, द्वारिका आदि—स्थावर तीर्थ।

अलंकार—उपमा, रूपक, लाटानुप्रास, स्वभावोक्ति।

(५०) विप्र ने देखा कि घर-घर में यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है। प्रत्येक यज्ञस्थल में तप-जप किया जा रहा है। प्रतिमार्ग में मंजरी से लदे आम के वृक्ष सुशोभित है। और उनमें से प्रत्येक पर कोकिल मधुर आलाप कर रही है।

अलंकार—एकावलि।

(५१) उपर्युक्त कार्यकलापों को देखकर ब्राह्मण बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और सोचने लगा कि यह, जो कुछ मैं देख रहा हूँ, प्रत्यक्ष है अथवा यह स्वप्न मात्र है। क्या मैं इन्द्रपुरी में आ गया हूँ? ब्राह्मण ने जिससे भी जाकर पूछा, उसने यही कहा कि हे ब्राह्मण! यह सुन्दर द्वारिकापुरी है।

अलंकार—संदेह।

(५२) अपने को द्वारिका में आया हुआ सुनकर ब्राह्मण का मन प्रसन्न हुआ। ऐसा बतानेवाले व्यक्ति को प्रणाम करके वह आगे चला। पूछते-पूछते कृष्णजी के अन्तःपुर म पहुँचा जहाँ उसे भगवान् की छबि का दर्शन हुआ।

(५३) कृष्णजी के कमलमुख को देखकर ब्राह्मण विचारने लगा कि रुक्मिणी तो अब—मेरे पश्चात् ही—भगवान् का दर्शन करके कृतार्थ होगी, मैं उससे भी पूर्व इनके दर्शन करके अनुगृहीत हो गया।

अलंकार—हेतु।

(५४) ब्राह्मण को दूर से ही आता हुआ देखकर अन्तर्यामी जगदीश्वर उठे और उसको प्रणाम करके शास्त्रोक्त अतिथि-सत्कार से भी अधिक उसका आदर किया।

टि०—'अन्तर्यामी' शब्द के प्रयोग द्वारा यह व्यंजित कराने का प्रयत्न किया गया है कि कृष्ण ब्राह्मण के हृदय की बात भी जानते थे।

अलंकार—परिकर।

(५५) श्रीकृष्ण ने विप्र से पूछा कि, हे मित्र, आप किस नगर से आए हैं, किस नगर में आपका निवास स्थान है, और आपके आगमन का प्रयोजन क्या है? आप बतायें कि आपका किस व्यक्ति से काम है और आप कहाँ जा रहे हैं? जिस व्यक्ति ने यह पत्र भेजा है उसका नाम बताइये।

अलंकार—यथासंख्य अथवा क्रम।

(५६) 'मैं कुन्दनपुर से आया हूँ और वहीं का निवासी हूँ।' यह कहकर विप्र ने श्रीकृष्णजी को पत्र दिया। यह भी बताया कि रुक्मिणी ने उनके लिए ही यह पत्र भेजा है और इसी में सम्पूर्ण समाचार लिखे हैं।

अलंकार—यथासंख्य।

(५७) पत्र हाथ में लेते ही श्रीकृष्णजी ऐसे आनन्दमग्न हुए कि रोमांच हो आया, अश्रु प्रवाहित होने लगे तथा कण्ठ गद्गद् हो गया जिसके परिणाम-स्वरूप श्रीकृष्णजी से पत्र न पढ़ा जा सका। अतः करुणानिधान श्रीकृष्ण ने वह पत्र ब्राह्मण को ही दे दिया।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

(५८) देवाधिदेव कृष्ण की आज्ञा प्राप्त होने पर ब्राह्मण पत्र पढ़ने लगा। पत्र में निवेदित—प्रार्थना—को वह विधिपूर्वक—अर्थात् जिस प्रकार लिखा था वैसा ही—पढ़ने लगा। "हे अशरणशरण, मैं आपकी शरण हूँ।"

टि०—डा० टैसीटरी ने इस दोहले में दो स्थानों पर पाठान्तर बताया है:—

(१) 'तूझ' के स्थान पर 'तूं जि' तथा 'असरण सरण' के स्थान पर संयुक्त 'असरणसरण'। एक टीका में 'असरणसरण' का अर्थ किया गया है :—"वीजउ सरण कोई न थी," अर्थात् श्रीकृष्ण की शरण के अतिरिक्त सभी शरण अरक्षित हैं।

अलंकार—परिकर।

(५९) हे बलि के बाँधनेवाले, मुझसे यदि कोई दूसरा विवाह करेगा तो मानो सिंह की बलि को गीदड़ भोग करेगा, कपिला गौ कसाई जैसे क्रूर के हाथ दी जायगी अथवा मानो चाण्डाल को तुलसी दी जायगी।

अलंकार—परिकर तथा निदर्शना।

(६०) आपके अतिरिक्त मेरे लिये अन्य वर को लाना होम की पवित्र अग्नि में उच्छिष्ट वस्तु को डालने के समान बुरा है। ऐसा करना शालिग्राम की मूर्ति को शूद्र के यहाँ स्थापित करने के समान है तथा म्लेच्छ के मुख से वेदमन्त्र के उच्चारण के समान अनुचित है।

अलंकार—निदर्शना।

(६१) हे हरि, आपने वाराहावतार लेकर हिरण्याक्ष को मारा तथा पृथ्वीरूप में पाताल से मेरा उद्धार किया। हे करुणांमय केशव, उस समय आपको ऐसी—रक्षा-यत्न करने की—सीख किसने दी थी।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति।

(६२) हे महासागर के मन्थनकर्ता, आपको तब किसने सीख दी थी जब आपने देवता तथा राक्षसों को एकत्र करके मन्दराचल को मन्थन-दण्ड तथा शेषनाग को मंथन-रज्जु बनाकर महासागर का मंथन करके मेरा—लक्ष्मी का—उद्धार किया था।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति तथा रूपक।

(६३) हे करुणाकर हरि, आपने किस सीख के कारण रामावतार में समुद्र को बाँधकर युद्ध में रावण का वध करके मुझ सीतारूपा का लंकागढ़ से उद्धार किया था।

अलंकार—वक्रोक्ति।

(६४) हे शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण करनेवाले चतुर्भुज, इस चौथी बार भी आप मेरा उद्धार करें। हे माधव, आप स्वयं अन्तर्यामी हैं, फिर आपसे अपने विचार कैसे प्रकट करूँ। आप स्वयं ही जानते हैं कि मेरे मन में क्या विचार हैं।

अलंकार—वक्रोक्ति तथा परिकर।

(६५) आप स्वयं जानते ही हैं तथापि विवाह का दुःखदायी दिन निकट आ गया है और आप दूर हैं। मैं एक तो नारी हूं—अर्थात् अबला हूं—दूसरे प्रेमातुर भी हूँ। आपसे कहे बिना नहीं रह पाती, इसी कारण प्रार्थना कर रही हूँ।

अलंकार—समुच्चय।

(६६) लग्न-तिथि में अब केवल तीन ही दिन का अन्तर शेष है।—ऐसी अवस्था में षड्यंत्र के विषय में अधिक कथा क्या कहूँ, केवल इतना ही संकेत करती हूँ कि मैं नगर के निकट अम्बिकालय में पूजा के बहाने अवश्य आऊँगी।

(६७) पत्र के आशय को समझकर कृपानिधि श्रीकृष्ण शार्ङ्गधनुष, बाण, सारथी, पुरोहित तथा मार्गदर्शक के साथ अविलम्ब रथ में जा बैठे।

(६८) श्रीकृष्णजी के रथ के चारों घोडों के नाम क्रमशः सुग्रीवसेन, मेघपुष्प, समवेग तथा बलाहक हैं। त्रिलोकीनाथ श्रीकृष्ण उन्हें इतने वेग से हाँक रहे हैं कि पृथ्वी, नगर और पर्वत सामने दौड़ते आते-से प्रतीत होते हैं।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

(६९) कुन्दनपुर के समीप पहुँचने पर कृष्ण ने कहा :—यह नगर आ गया। हे सारथी, रथ रोक दो। हे ब्राह्मण, रथ छोड़कर आप—रुक्मिणी के पास—जायँ। रुक्मिणी को सुख हो इसलिए आप हमारा नाम लेकर उसे हमारे आगमन की सूचना दें।

(७०) चिन्तातुर रुक्मिणी सोच-विचार कर ही रही थी कि वस्तुतः श्रीकृष्ण रुक ही गये हैं, अन्यथा उन्होंने इतनी ढील कभी नहीं की। उसी समय शुभ-सूचक छींक हुई जिससे उसका धैर्य बँधा।

अलंकार—हेतु।

(७१) विप्र का दर्शन करते ही रुक्मिणी का चित्त—शंका के कारण पीपल के पत्ते के सदृश—चंचल (विह्वल) हो गया। वह न तो कृष्ण का संवाद पूछे बिना रह पा रही थी और न संकोच के कारण पूछ ही पा रही थी। ब्राह्मण ज्यों-ज्यों निकट आता गया, त्यों-त्यों रुक्मिणी—उसके भाव ज़ानने के लिए—उसकी मुख-मुद्रा को ध्यान-पूर्वक देखती गई।

टि०—अन्य टीकाओं में 'धारणा' का अर्थ कान्ति, नूर तथा निर्मलता लिया गया है। यथा :—'मुख नी धारणा नूर'—मारवाड़ी टीका में। संस्कृत में—'मुखस्य धारणां कान्तिं तर्कयति सविशेषं पश्यति दूतस्य मुखे निर्मलता कार्यसिद्धिलक्षणं प्रतीतम्।'

(७२) विप्र ने रुक्मिणी के साथ सखीजनों तथा गुरुजनों को देखकर—स्पष्ट कहने पर भेद खुलने के भय से—विचारकर सूचना देते हुए कहा :—'लोग कहते हैं कि श्रीकृष्ण द्वारिकापुरी से कुन्दनपुर में पधारे है।'

(७३) विप्र की बात को सुन तथा उसका अभिप्राय समझकर रुक्मिणी ने ब्राह्मण के बहाने उसको प्रणाम किया, किन्तु उसका कारण वस्तुतः दूसरा ही था। (अर्थात् रुक्मिणी ने ब्राह्मण को प्रणाम किया जिससे कोई यह समझे कि वह विप्र के प्रति, उसके ब्राह्मण होने के नाते, प्रणाम कर रही है। किन्तु वास्तविक बात यह थी कि वह श्रीकृष्ण को ले आया था।) रुक्मिणी के रूप में स्वयं लक्ष्मी ही ने जिस ब्राह्मण के पैर छुए, उसके अर्थ-लाभ करने में कौन-सा आश्चर्य है। अर्थात् उसे अर्थलाभ तो साधारण बात है। (लक्ष्मी की तो कृपा ही पर्याप्त थी, फिर लक्ष्मी स्वयं जिसके पैर छुए उसे तो अत्यन्त सौभाग्य-शाली ही समझना चाहिये।)

अलंकार—काव्यार्थापत्ति।

(७४) श्रीकृष्ण को ससैन्य कुन्दनपुर गया हुआ सुनकर बलरामजी ने भी युद्ध के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने अधिक सेना एकत्र नहीं की, क्योंकि एक तो स्वयं बलराम पराक्रमी थे दूसरे उनके साथी भी रण-कुशल थे।

अलंकार—समुच्चय।

टि०—डा० टैसीटरी ने—'एक उजाथर कलहि अेवाहा,' पाठ स्वीकार किया है। भिन्न-भिन्न टीकाओं में उक्त पाठ का अर्थ इस प्रकार किया गया

हैं। १—जिके उजाथर संग्रामधीर ते साथइ वळी जे कळहे अेवाहा अग्रेसरी आगइ चालिइ स्वामिभक्त ते साथइ लीधा। २—अेक अद्वितीय उजाध[र]इ क°ओज संग्रामइँ धीर ते साथइँ लीधा वळी जिके कळह संग्रामइं अेवाहा अग्रेसरी छइ अथवा दुबाहा क° कळहइ वळी। ३—अेके ये ओजाथरइ इति संग्रामेधीराः पुनर् अेवाहा इत्यग्रेसरणयोग्याः स्वामिभक्ताः।

(७५) यद्यपि दोनों भाई भिन्न-भिन्न मार्गों से आए तथापि दोनों ने मिलकर ही नगर में प्रवेश किया। स्त्री तथा पुरुष, नागरिक तथा राजा, सज्जन तथा दुर्जन सभी उनको देखने लगे।

अलंकार—देहरीदीपक।

(७६) कुन्दनपुर के निवासियों ने अपनी भावनानुसार श्रीकृष्ण को भिन्न-भिन्न रूप में देखा। कामिनियों ने उन्हें साक्षात् कामदेव बताया। दुर्जनों ने उन्हें काल समझा। ईश्वरभक्तों ने उन्हें नारायण कहा। वेदज्ञों ने वेदार्थ माना तथा योगीश्वरों ने उन्हें योगतत्व समझा।

अलंकार—उल्लेख।

(७७) वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण का मुख देखकर लोग परस्पर कहने लगे कि यह रुक्मिणी के पति आ गए हैं। अन्य राजाओं को अब रुक्मिणी के प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिये।

(७८) उनको जनवासे में उतारकर प्रत्येक अतिथि के सम्मुख एक-एक व्यक्ति हाथ जोड़कर सत्कार करने के लिए खड़ा हो गया। बलराम तथा श्रीकृष्ण जैसे प्रतिष्ठित अतिथि राजा के घर आए हैं तो ऐसी मनुहार होने में आश्चर्य ही क्या। वह तो आवश्यक ही थी।

अलं०—काव्यार्थापत्ति।

(७९) रुक्मिणी की सिखाई हुई सखी ने रानी से कहा कि, हे महारानी, राजकुमारी रुक्मिणी पूछ रहीं हैं कि यदि आपकी अनुमति हो तो मैं आज अम्बिका की यात्रा कर आऊँ।

(८०) तब पति, पुत्र तथा परिवार—कुटुम्बीजनों—से पूछकर रानी ने रुक्मिणी को आज्ञा दी। आज्ञा पाकर श्यामा रुक्मिणी ने देवी की पूजा के बहाने प्रियतम श्रीकृष्णजी से मिलने के लिए शृंगार आरम्भ कर दिया।

(८१) गुलाबजल में स्नान करने के अनन्तर उन्होंने स्वच्छ वस्त्र पहिने। स्नान के कारण भींगे बालों से टपकते हुए जल की बूंदें ऐसी शोभित हो रहीं थीं मानो काले रेशम के धागे टूट जाने से सुन्दर गुणमोती गिरते हुए सुशोभित हों।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

टि०—'छछोहा' का कुछ टीकाओं में 'उतावला' अर्थ है, कुछ में 'ढीला'।

(८२) रुक्मिणी अपने केशों को, धूप देने के लिये, दोनों हाथों से मुक्त करने लगीं। वह दृश्य ऐसा था मानो मनरूपी मृग को फँसाने के हेतु कामदेव का पाश फैलाया गया हो।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

(८३) वे शृङ्गार करने के लिए स्नान-पट्ट से उतरकर गद्दी पर आकर बैठ गईं। इतने में एक सखी दर्पण लेकर उनके सम्मुख खड़ी हो गई।

(८४) प्रसंग—रुक्मिणीजी के गले में बँधे काले डोरे की भिन्न-भिन्न उत्प्रेक्षाएँ कवि कर रहा है :—

रुक्मिणी के गले में बँधी काली रेशमी डोरेवाली कण्ठी के कारण उन्हें कपोतकण्ठ कहूँ अथवा नीलकण्ठ कहूँ। उन्हें यमुना से परिवेष्टित हिमालय कहा जाय अथवा यह कहूँ कि मानो शंखधर भगवान् विष्णु ने एक अँगुली से शंख को मध्यभाग से पकड़ रखा है।

अलं०—सन्देह तथा उत्प्रेक्षा।

(८५) बीच-बीच में पुष्पों से गूँथकर सजाई हुई उनकी चोटी ऐसी शोभित होती है मानो संसार को पवित्र करनेवाली यमुना के फेन शोभित हो रहे हैं। उनके मस्तक के बीचोबीच निकाली गई माँग मानो आकाश-गंगा है।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

टि०—संस्कृत टीकाकार ने "जमुण फेन पावन्न जग" पंक्ति का अर्थ किया है :—जगत्पावनी गंगा से मिली हुई फेनयुक्त यमुना के समान।—'उत्प्रेक्ष्यते जगत्पावन्यागंगायाः फेनयुक्ताः यमुना इव।'

(८६) रुक्मिणी के नुकीले नेत्र ही तीक्ष्ण बाण हैं जो कुण्डलरूपी शाण पर तेज़ किए गये हैं। शलाका रूपी सिल्ली पर काजल रूपी जल डाल-डालकर बार-बार तीक्ष्ण करने के लिए मानो वह नयन-बाणों को बाढ़ दे रही हैं।

अलंकार—रूपक तथा उत्प्रेक्षा।

(८७) श्यामा रुक्मिणी ने अपने हाथों से अपने मुख पर शिवजी के ललाट पर स्थित नेत्र के रूपवाला कुंकुम का सुन्दर तिलक बनाकर फिर शिवजी के ललाट के अर्द्धचन्द्र के आकार का तिलक बनाया, किन्तु शिव के ललाट-स्थित चन्द्र तथा नेत्र के कलंक तथा धूम्र को उन्होंने काटकर निकाल बाहर किया। (उनके मुख पर बनाये गये दोनों प्रकार के तिलक इन दोनों दोषों से रहित हैं। न उनमें शिवजी के ललाटस्थ तीसरे नेत्र में क्रोधाग्नि के कारण धुंआ ही है और न शिवजी के अर्द्धचन्द्र में दीखनेवाली कालिमा ही है।)

अलंकार—व्यतिरेक।

(८८) रुक्मिणीजी के मुख तथा मस्तक के सन्धिस्थल अर्थात् ललाट पर लगा हुआ रत्न-जटित टीका मानों रुक्मिणी का भाग्य है जो शिशुपाल के आने से उससे भयभीत होकर ग्रीवा के पृष्ठ-भाग में जा छिपा था। वही अब श्रीकृष्णजी के आने से निर्भय होकर माँग के मार्ग से आकर ललाट पर सुशोभित हो गया है।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

(८९) रुक्मिणी के नेत्ररूपी मृग जुवे के सदृश भौंहों द्वारा जुते हुए हैं और उनकी वक्र अलकें मानों सर्पमयी रास हैं। रुक्मिणी का मुखरूपी चन्द्रमा ही रथ का सारथी है, उनके कानों की बालियाँ ही मानों रथ के बाँकिये हैं, और कर्णफल ही रथ के पहिये हैं।

अलंकार—उपमा, रूपक, सन्देह, उत्प्रेक्षा।

(९०) रुक्मिणीजी के पयोधरों पर बँधी कंचुकी मानो हाथी के कुम्भस्थल की अँधेरी अर्थात् जालीदार आवरण है। अथवा ऐसा प्रतीत होता है, मानो कामदेव से युद्ध करने के लिए उससे बचाव के हेतु शम्भु ने कवच पहन रखा है। अथवा मानो श्रीकृष्ण के स्वागत हेतु मण्डप सुसज्जित किया गया है और कंचुकी को कसे हुए बन्धन बाँधकर उनके लिए वितान ताना गया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, उल्लेख तथा रूपक।

टि०—'वारगह' शब्द के तम्बू तथा पायगह दोनों अर्थ किये जाते हैं। तम्बू का अर्थ करते हुए ही संस्कृत टीकाकार ने—पटकुटीयुगल रचितमिव—

कहा है। दूसरे अर्थ के अनुसार पंक्ति का अर्थ यह होगा: —मानो कुच-रूपी हाथियों को उनके स्थान में गजबन्धिनी डोरों अथवा साँकलों से बाँध दिया है। पाठा० 'मन हरि आगे मण्डे मण्डप,' का अन्य अर्थ एक टीकाकार ने निम्न प्रकार से किया है :—श्रीकृष्णजी का मन कै ताँईं मण्डप छायौ छै जु मन आय बैसिसी।

तुलना—जाली की आँगी कसी यों उरोजनि, मानो सिपाह सिलाह किये द्वै।—मन्नालाल

(९१) मृगेक्षिणी रुक्मिणीजी के कण्ठ में पहनी हुई कण्ठी मानो हृदय-स्थित अथवा अदृश्य सरस्वती है जो कण्ठी के रूप में बिम्ब की भाँति प्रकट हो गई है। गले में पड़ी हुई मोतियों की माला मानो सरस्वती-कृत विष्णु का यशगान है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—अत्यन्त रमणीय उत्प्रेक्षा है। यश का रंग श्वेत माना गया है तथा सरस्वती की श्यामल कण्ठी श्याम रंग की है और मोती श्वेत रंग के हैं। अतएव कण्ठी को सरस्वती तथा मोतियों को यशगान कहना युक्तियुक्त है। साथ ही यह व्यंजना भी अत्यन्त रमणीय है कि सरस्वती का वास हृदय में होता है और वह कण्ठ द्वारा मुखरित होती है। रुक्मिणीजी के हृदय में श्रीकृष्णजी का निवास है जिनका रुक्मिणी यशगान करना चाहती हैं। वही मानो माला रूप में यशगान करती है।

(९२) रुक्मिणी की गौर भुजाओं में बँधे हुए भुजबंधों के काले रेशमी सिरे ऐसे सुशोभित हैं, मानो चन्दन की शाखाओं से बँध हुए मणिजटित हिन्दोलों में मणिधर झूल रहे हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(९३)—रुक्मिणीजी अपनी गौर कलाइयों में गजरे तथा नवरत्नी पहुँचियाँ धारण किये हैं। पहुँचियाँ काले रेशमी डोरे से भली प्रकार परिवेष्टित हैं। उन पहुँचियों तथा गजरों को पहने हुई रुक्मिणीजी के कर ऐसे शोभित हो रहे हैं मानो हाथ-रूपी-हस्त-नक्षत्र ने गोलाकार गजरे और पहुँची-रूपी-चन्द्रमा को बेध लिया है अथवा मानो भ्रमराच्छादित अर्द्धविकसित कमल हैं।

टि०—'वळे वळे विधि विधि वळित' पंक्ति का अर्थ संस्कृत तथा मारवाड़ी टीकाओं में निम्न प्रकार दिया गया है।—वळी वळय श्याम पाटकउ विधइ बिधइ आँपापण स्थानक बाँध्या। २—तथा च वलयः श्यामपट्टसूत्रग्रथितो विधि विधि यथास्थानं निवेशिताः। अर्थात् यह टीकाकार विधि-विधि का अर्थ भली प्रकार न करके यथास्थान करते हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(९४) वक्षस्थल पर मोतियों का हार धारण करने के कारण आज कुम्भस्थल तथा वक्षस्थल में समानता ही है, किन्तु फिर भी दोनों में बड़ा अन्तर है, क्योंकि मोती धारण करके भी हाथी वैसी शोभा प्राप्त नहीं करता, जिसके कारण ही वह लज्जित होकर अपने मस्तक पर धूल चढ़ा रहा है।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा।

(९५)—पहले वस्त्रों को उतारकर नवीन वस्त्र धारण किए रुक्मिणी का, कवि किस प्रकार वर्णन करे, उसकी शोभा अकथनीय है। तथापि एक यह उपमा दी जा सकती है कि यदि रुक्मिणी का शरीर लता है तो उनके वस्त्र वेलि के पत्ते और आभूषण पुष्प तथा पयोधर फल हैं।

अलंकार—उपमा।

(९६) श्यामा रुक्मिणी ने मुट्ठी से नापी जानेवाली क्षीण कटि पर करधनी पहन रखी है। उसकी ऐसी शोभा है मानो सम्पूर्ण ग्रहसमूह सिंह राशि पर एकत्र हुए हैं, जिनसे रुक्मिणी के भाग्योदय की सूचना मिलती है।

अलंकार—अत्युक्ति तथा उत्प्रेक्षा।

टि०—कटि की क्षीणता की उपमा सिंह की कटि से देने की रूढ़ि है। करधनी में नौ रंग के रत्न जड़े हुए हैं, जो नक्षत्रों के समान हैं। अतएव सिंह राशि पर ग्रहसमूह एकत्र है, ऐसी कल्पना की गई। ज्योतिष के नियमानुसार ऐसी स्थिति भाग्योदय की सूचक है। अतः पता लगता है कि रुक्मिणी को कृष्ण की प्राप्ति होकर मनोवांछित वस्तु मिल जायगी। इस प्रकार की कल्पना द्वारा लेखक ने अपना ज्योतिष-ज्ञान प्रकट किया है।

संस्कृत टीकाकार ने 'भावीशोचका' पाठ की कल्पना करके एक अन्य अर्थ देते हुए लिखा है:—एकस्यां राशौ स्थिताः सर्वे ग्रहा जन्मसंज्ञका भावीशोचका

इति पाठे दुर्दशादर्शकास्तस्या राशेः क्षीणत्वप्रतिपादकोऽ तः कटी क्षीणा जातेती-दमपि वितर्कणं न्यायं।

(९७) चन्द्रवदनी रुक्मिणीजी ने अपने पगों में स्वर्ण के नूपुरों से सजी हुई पायजेब धारण की है जिसके कारण उनके पग ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कमल के मकरन्द की भ्रमरों से रक्षा के निमित्त पीले वस्त्रवाले रक्षक नियुक्त किये गये हों।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—अत्यन्त रमणीय कल्पना के सहारे पदकमल तथा स्वर्ण-नूपुर-रूपी पहरेदारों का वर्णन करके एक सजीव तथा व्यंजक चित्र खींचा गया है।

(९८) जिस गुणमोती को समुद्र से चुन लिया वही नासिका के अग्रभाग में स्थित होकर वस्तुतः गुणमय मोती बन रहा है और हँसता या झूलता है, मानो नासिकारूपी शुकदेव मुनि मोतीरूपी श्रीमद्भागवत का पाठ कर रहे हैं अथवा शुक भगवान् का जप कर रहा है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा तथा रूपक।

टि०—मोती समुद्र से खोजकर लिया गया था, अतः स्वयं अत्यन्त गुणमय रहा होगा, किन्तु उसके पहनने से रुक्मिणी की शोभा उतनी नहीं बढ़ी जितना कि मोती का 'गुणमोती' नाम सार्थक हो गया। इससे रुक्मिणी के स्वाभाविक सौन्दर्य की श्रेष्ठता सिद्ध है।

उत्तरार्ध का अन्य अर्थ भी दिया जाता है :—

इस प्रकार सौन्दर्य को बढ़ाता हुआ वह गुणमोती रुक्मिणीजी की नासिका में क्या झूल रहा है मानो रुक्मिणी की नासिका के समान सुन्दर कोई तोता अपने मुख से मोती के समान उज्ज्वल भगवान् के गुणों का बारम्बार गुण- गान कर रहा है। बार-बार उसके मुख से हरे कृष्ण, हरे कृष्ण की ध्वनि हो रही है।

(९९) रुक्मिणीजी के मुखरूपी रक्त-कमल में पानरूपी मकरन्द सुशोभित है और दाँतों की कान्ति केशर के सदृश दीप्त हो रही है। एक बीड़ा बनाकर उन्होंने बाएँ हाथ में ले रखा है। वह ऐसा प्रतीत होता है मानो शुक चमेली पर क्रीड़ा कर रहा है।

अलंकार—उपमा तथा उत्प्रेक्षा।

टि०—'करि इक बीड़ौ', का अन्य अर्थ संस्कृत टीकाकार ने निम्न रूप में भी किया है:—रुक्मिणी का हाथ चमेली की कोमल डाल के सदृश है, उस पर अँगुलियाँ-रूपी श्वेत पुष्प लगे हैं, जिनके पास में बैठा हुआ बीड़ा-रूपी तोता नासिका-रूपी-तोती के साथ प्रेमक्रीड़ा कर रहा है।

(१००) श्यामा रुक्मिणीजी ने शृंगार करने के अनन्तर देवी के मन्दिर जाने की इच्छा की। उन्होंने मुक्ता-जटित जूतियाँ पहनीं जो ऐसी शोभित हैं मानो मुक्ताजटित जूतियों के बहाने हंस रुक्मिणी की चाल से स्पर्धा छोड़कर उनके चरणों में लिपट रहे हैं।

अलंकार—कैतवापह्नुति।

(१०१) रुक्मिणीजी के अंग-प्रत्यंग पर विविध प्रकार के रत्नों से कान्तिमान् आभूषण-पंक्ति उनके नील परिधान के अन्दर ऐसी झलक दे रही है मानो कामदेव ने प्रसन्नचित्त होकर घर-घर को दीपमाला से सुसज्जित किया हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(१०२) रुक्मिणीजी की सखियाँ अपने हाथों में अनेक पूजा-सामग्री लिये हुई हैं, उसीका वर्णन है:—किसी के हाथ में गुलाबजल है और किसी के हाथ में कुंकुम। कोई अपने हाथों में पुष्प लिये है, तो कोई कपूर। किसी के हाथों में पान है तो किसी के हाथ में अरगजा शोभित है। किसी-किसी के हाथ में धूप रखा है।

अलंकार—उल्लेख।

टि०—संस्कृत तथा अन्य टीका में 'पान' का अर्थ 'पान का डब्बा' किया गया है।

(१०३) रुक्मिणीजी सखियों सहित जिस प्रकार पालकी की ओर चलीं उसका वर्णन करना मेरी बुद्धि की शक्ति नहीं। सखियों से घिरी हुई रुक्मिणी ऐसी प्रतीत होती हैं मानो लज्जा से घिरा हुआ साक्षात् शील ही हो। अर्थात् रुक्मिणीजी अपने शील के आधिक्य के कारण साक्षात् शीलरूप ही हैं और लज्जा शील का आवरण है, अतएव सखियाँ लज्जा के सदृश हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(१०४) जिन योद्धाओं को रुक्मिणीजी के साथ जाने की आज्ञा थी, वह योग्य घोड़ों को देख-देखकर उनपर चढ़-चढ़कर रुक्मिणी के साथ चलने के लिए आ गये। कवच में समाया हुआ उनका शरीर ऐसा प्रतीत होता था, जैसे दर्पण में समाया हुआ प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

अलंकार—उपमा।

(१०५) पद्मिनी रुक्मिणी के अंगरक्षक पैदल सैनिक उत्साहपूर्वक प्रसन्न होते हुए पर्वत के सदृश शरीरवाले मदमत्त हाथी की गति से मस्त होकर चले।

अलंकार—उपमा तथा अनुप्रास।

(१०६) अश्व अत्यन्त शीघ्र चल रहे हैं और उनके मध्य में रथ चल रहा है। सैनिक चन्द्रबदनी रुक्मिणीजी का मार्गानुसरण कर रहे है। यह दृश्य ऐसा दिखाई देता है मानो अयोध्यानिवासी बैकुण्ठ जाने के हेतु सरयू नदी में स्नान कर रहे हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—जगमाल सिंहजी ने प्रथम दो पंक्तियों का अर्थ दूसरे प्रकार से किया है। उनका अर्थ है :—"घोड़े वेग से चल रहे हैं, रथ अन्तरिक्ष में—के मार्ग से—चल रहा ह। और श्रीकृष्ण बड़े चाव से चन्द्रमुखी रुक्मिणी के मार्ग का अनुसरण कर रहे है।"

इस अर्थ का समर्थन करने के लिए सम्पादकोंने टिप्पणी लिखते हुए कहा :—

आकाश-मार्ग से चलते हुए भगवान् के रथ की और उसके नीचे पृथ्वीतल पर मार्ग म चलती हुई रुक्मिणी की सवारी की कैसी मनोहर छटा है, मानो मार्ग-रूपी सरयू नदी में, बैकुण्ठ जाने के निमित्त, रुक्मिणी की सवारी के साथ चलनवाले अंगरक्षक-रूपी अयोध्यावासी स्नान कर रहे हैं। उनके ऊपर आकाश-मार्ग से अदृश्यरूप में चलता हुआ भगवान् कृष्ण का रथ क्या है, मानो भगवान श्रीरामचन्द्र, अपने पुष्पक विमान में बैठे हुए, अयोध्यानिवासी को सदेह बैकुण्ठ पहुचाने के लिए विमान रोककर उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

हमारे विचार से संस्कृत तथा अन्य टीकाकारों ने जो पहला अर्थ किया है, जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है, उसमें इस अर्थ के समान कष्ट-कल्पना नहीं है। जगमाल सिंहजी को अदृश्य रथ की कल्पना का सहारा लेना पड़ा है। पहले अर्थ में यह स्पष्ट हो जाता है कि रुक्मिणी की रक्षा के लिए उन्हें सैनिकों के बीच रखा गया है और सब उसीका अनुसरण कर रहे हैं।

(१०७) अम्बिकालय के पार्श्व में पड़ी हुई सेना ऐसी दीख पड़ती है मानो चन्द्रमा के चारों ओर जलहरी अथवा चक्राकार मण्डल है। या ऐसा प्रतीत होता है मानो सुमेरु पर्वत के चारों ओर नक्षत्रों की माला हो अथवा शिवजी के कण्ठ में मुण्डमाल हो।

टि०—(१) चन्द्रमा के चारों ओर जलहरी का दिखाई ेना वर्षा का सूचक होता है। इस स्थल पर रक्तवर्षा होने की सूचना दी गई है।

(२) 'पारस' शब्द के भिन्नभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ लगाए हैं:-(१) चारों ओर, (२) दोनों पार्श्व में, (३) परितः, (४) पारस पाखाण (कौ देहरौ)।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(१०८) रुक्मिणीजो ने देवालय में प्रविष्ट होकर अत्यधिक श्रद्धा, हित तथा प्रीतिपूर्वक देवी का दर्शन किया तथा स्वयं अपन हाथों से देवी की पूजा करके उसके बदले म इच्छित फल अपने हाथ में किया, अर्थात् फल प्राप्त किया।

(१०९) चितवन-रूपी आकर्षण, मोहिनी मुस्कान-रूपी वशीकरण, अंगभंगी-रूपी उन्मादक, गति-रूपी-द्रविण और संकोच-रूपी-शोषण, इन पाँचों काम-देव के शरों को धारण करके सुन्दरी रुक्मिणीजी ने देव-मन्दिर के द्वार में प्रवेश किया।

टि०—(१) कामदेव अपने इन पाँचों शरों द्वारा मनुष्य को जीत लेता है। इसी प्रकार रुक्मिणीजी के इन पाँचों व्यापारों में कामदेव के पंचबाणों के सदृश शक्ति थी। रुक्मिणीजी की चितवन में हृदय आकर्षित करने, मुस्कान में हृदयवश में करने, लास्यपूर्वक अंगभंगी में उन्माद उत्पन्न करने, गति में

हृदय पिघलाने तथा संकोचपूर्ण शील तथा लज्जा में हृदय की चेतना हर लेने की शक्ति है। इससे प्रतीत होता है कि रुक्मिणीजी श्रीकृष्णजी पर विजय प्राप्त कर लेंगी।

(२) तृतीय पंक्ति में 'गति' के स्थान पर 'मन' पाठान्तर भी है। तीन टीकाओं में उसका अर्थ 'स्वतः दर्शन द्वारा' किया गया है।

(३) 'संच' का अर्थ 'उद्यम किया' अथवा 'प्रपञ्चः कृतः' भी लिया गया है।

(४) कामदेव के प्रसिद्ध पाँच वाणों की संख्या निम्नप्रकार बताई जाती है :—

(अ) संमोहनोन्मादौ च शोषणस्तापनस्तथा।
स्तंभनश्चेति कामस्य पंच बाणाः प्रकीर्तिताः॥

अथवा (ब) अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलं च पञ्चैते पंचबाणस्य शायकाः॥

संभवतः कवि ने 'सम्मोहन' के स्थान पर 'वशीकरण', 'तापन' के स्थान पर 'द्रविण' तथा 'स्तम्भन' के स्थान पर 'आकरसण' का प्रयोग किया है।

अलंकार—यथासंख्य।

(११०) (रुक्मिणीजी के ऐसे व्यापार तथा अंगभंगी को) देखते ही सम्पूर्ण सेना मूर्च्छित हो गई। उन (सैनिकों) का मन निश्चल हो गया। उन्हें यथाथ ज्ञान नहीं रहा (अथवा निःशक्त-से हो गए)। (उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता था) मानों देवालय निर्माण के साथ ही साथ यह प्रस्तर-प्रतिमाएँ भी खोदकर बनाई गई थीं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—(१) संस्कृत टीकाकार ने 'तह' का अर्थ 'शक्ति' माना है। पारीक-जी के अनुसार यह फारसी शब्द है और इसका अर्थ 'चेतना' अथवा 'यथार्थ ज्ञान' होना चाहिए।

(२) संस्कृत टीकाकार के अनुसार 'निकुटीए' का अर्थ 'सूत्रधारिभिः' होना चाहिए।

(१११) त्रिभुवनपति कृष्ण अश्वों को हाँकते हुए शत्रु सेना के मध्य इतनी तीव्र गति से अचानक आ गए कि पता ही न चला कि वे पृथ्वी पर

अथवा आकाश में से किस मार्ग से होकर आए हैं। ज्योंही उनके रथ का घर्घर शब्द सुनाई पड़ा वैसे ही रथ भी दिखाई पड़ा।

अलंकार—चपलातिशयोक्ति, भ्रान्तिमान्।

टि०—जगमाल सिंहजी ने उक्त दोहले का निम्न अर्थ दिया है :—"आकाश-मार्ग से घोड़ों को चलाते हुए वैरियों की सैन्य के बीच में (भगवान्) पृथ्वी पर आए। उस समय त्रिलोकीनाथ के रथ का शब्द सुनाई दिया कि (इतने ही में) रथ भी दिखाई पड़ा।"

हमने संस्कृत तथा अन्य टीकाओं का अर्थ ग्रहण किया है। उसमें आश्चर्य का भाव अधिक व्यक्त होता है। सिंहजी के अर्थ में भगवान् की अलौकिक लीला पर श्रद्धा अधिक है।

(११२) बलि को बाँधने में समर्थ श्रीकृष्णजी ने रुक्मिणीजी के हाथों को अपने हाथों का सहारा देकर उन्हें रथ में बैठा लिया। (उस समय कोला-हल मचा अथवा स्वयं कृष्ण ने व्यंगपूर्वक ललकारा कि) यदि कोई रुक्मिणी का वर हो तो उसकी रक्षा के लिए दौड़े, क्योंकि हरिणाक्षी को हरि हरण करके लिए जा रहे हैं।

अलंकार—परिकर।

(११३) धवलमंगल गीत सुनते हुए आला-आला (एक से एक बढ़कर) सजे हुए सरदारों ने पुकार सुनते ही अपने शरीर पर पहने हुए केसरिया वस्त्रों के स्थान पर कवच पहिन लिए, मानो बहुरूपियों ने वेश बदल लिया हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—(१) संस्कृत तथा ढूँढाड़ी टीकाओं में प्रथम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार दिया गया है :—जहाँ मंगल-सूचक धवल गीत सुनाई पड़ते थे, वहाँ अब पुकार सुनाई पड़ती है।

(२) 'साहुलि' का दोनों टीकाओं में 'कूक' या 'पुकार' अर्थ किया गया है। संस्कृत टीकाकार ने 'आलूदा' का 'सज्जीभूताः' तथा 'बहुरूप' का 'योगीन्द्ररूपाः' अर्थ किया है। इस अर्थ से वह व्यंग्य और हास्य-ध्वनि प्रकट नहीं होती जो जगमाल सिंहजी के अर्थ से प्रकट होती है। अतएव हमने उसी का अनुसरण किया है।

(११४) नर-श्रेष्ठ श्रीकृष्णजी का पीछा करते हुए वीरों के अश्व चित्रलिखित से दिखाई देते थे। (पीछा करनेवाले चिल्लाकर कहते जाते थे) हे माधव! यह माखन-चोरी नहीं है। हे ग्वाले! यह ग्वालिन नहीं है कि इसकी चोरी किए ले जाते हो।

टि०—(१) उक्ति व्यंग्य-गर्भित है। 'माखनचोरी', 'ग्वालिन की चोरी' या 'ग्वाला' आदि उक्तियाँ स्थलोपयुक्त हैं। कवि ने यह प्रकट करना चाहा है कि शत्रु ललकारकर यह बता देना चाहते थे कि 'कृष्ण! यहाँ से बचकर न जा सकोगे, क्योंकि यहाँ साधारण काम नही है और न नीच जाति से ही संघर्ष है।' कवि ने पूर्व दोहले में बहुरूपिया कहकर शत्रु की ललकार को निरर्थक सिद्ध कर दिया और इस प्रकार हास्य की सफल सृष्टि की है। व्यंग यह है कि भला बहुरूपियों को देखिए कि व्यर्थ ही पुकार मचाए हुए हैं।

(२) पाठान्तर—अन्य टीकाओं में 'नह खरता नर वरै नर' पाठ दिया गया है जिसका अर्थ संस्कृत तथा अन्य टीका में इस प्रकार किया गया है :— (१) तीरवइ नरवइ करी घोड़ो घोड़ा नइँ नर नर नइँ प्रेरइ छइ (२) नखैः खरतरैरुत्पत्यमानैरश्वैर्नरानरं वृन्वते प्रेरयन्ति स्मेति स्वस्ववेगाधिक्यदर्शनम।

अलंकार—अत्युक्ति तथा वक्रोक्ति।

(११५) घोड़ों की टापों से उखड़ी हुई धूल के मध्य सूर्य इस प्रकार प्रतीत होता है, मानो बवण्डर की चोटी पर पीला पत्ता हो। अश्वों के नथनों के शब्द के कारण नगाड़ों का निर्घोष भी नही सुनाई पड़ता।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।

(११६) दोनों सेनाएँ अब तक दूर थीं, अतएव (पीछा करनेवालों ने) घोड़े दौड़ाकर अपनी सेना को कृष्ण की सेना के निकट किया। प्रहार सहनेवाले (कृष्ण के) दल ने मुँह फेरा और आक्रमणकारी दल ने घोड़ों की बाग रोक लीं। इस प्रकार दोनों दलों में आमना-सामना हुआ।

टि०—संस्कृत टीकाकार ने 'ढेरवीयाँ' का अर्थ 'शिथिलं मुक्ता' किया है जो ठीक नहीं प्रतीत होता।

(११७) काली अथवा प्रलयकारी-घटारूपी दोनों सेनाएँ आमने-सामने से आई हैं। रक्त-वर्षा का आसार जानकर दोनों ओर से रणदेवी योगिनियाँ

चलीं, मानो दोनों ओर से चलती हुई बरसने को उद्यत अथवा वर्षा-सूचक योगिनियों की भेंट हुई है।

अलंकार—रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष।

टि०—(१) संस्कृत टीका में 'काळाहणि' का अर्थ 'कृष्णवर्ण' किया गया है।

(२) 'बेपुड़ी' शब्द का किसी-किसी ने 'नदी' अर्थ करते हुए पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है:—"रक्त तथा जल की दो सरिताएँ प्रवाहित हो रही हैं।"

(३) ज्योतिष के अनुसार आषाढ़ कृष्ण एकादशी को वर्षायोग के आरम्भ होने पर योगिनियों का एक चक्र दिखाई दिया करता है, वही योगिनी-चक्र है।

(४) 'आड़ँग जाणे' का अर्थ एक टीका में 'अन्धकार जाणी' भी किया गया है। दूसरी में 'लोही वरिसवउ जाणी' लिखा गया है।

(५) बेपुड़ी, जोगिणी, आड़ँग तथा काळाहणि शब्दों के प्रयोग द्वारा राजस्थानी वर्षा का चित्र उपस्थित किया गया है।

(११८) बन्दूकें, तोपें तथा (हवाई) बाण चलने लगे। शूरवीरों की गगन-भेदी ललकार सुनाई दी। समुद्र में वर्षा की बूंदों के समान वीरों के लौह-कवचों पर लौह-बाण प्रहार करने लगे। अर्थात् जिस प्रकार बूंद समुद्र में गिरकर विलीन हो जाती है और कोई परिवर्तन प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार लोहे के कवचों पर लोहे के शरों के प्रहार का कोई प्रभाव नहीं होता था।

टि०—(१) 'गैगहण' शब्द का अर्थ ढूंढ़ाड़ी टीका में "गैय हस्ती त्याँ की गहणि हुई। गहण कहताँ भीड़ हुई।" दिया गया है।

(२) संस्कृत टीकाकार न प्रथम पंक्ति में आए नामों को आतिशबाजी के नाम बताया है और 'गैगहण' शब्द में 'गहण' का 'ग्रहण' अर्थ में प्रयोग मानकर लिखा है कि 'रणभूमि वीरों द्वारा ले ली गई', "ग्रहणमिति रणभूमिः सूरैर्गृहीता"।

(११९) भाले-रूपी-सूर्य की किरणें युद्ध में तप्त होकर चमचमाने लगीं। बाणों का चलना बन्द हो गया, वही वायु का बन्द होना है। शरीर-शरीर पर खड्गधार चमक रही हैं, वही शिखर-शिखर पर विद्युत् चमक रही हैं।

टि०—(१)वर्षा के पूर्व सूर्य की संतापकर किरणों का प्रसार होन पर वायु

बन्द हो जाती है। मेघमण्डल में दामिनी दमकने लगती है। यहाँ भी धीरे-धीरे सेनाएँ पास आ गई हैं, अतएव बाणों का चलाना बन्द करके भाले चल रहे हैं। बाणों का चलना बन्द होना एक प्रकार से वायु का बन्द हो जाना था। भालों का चमकना सूर्य-किरणों के समान था। और भी निकट से युद्ध करने पर भाले छोड़कर तलवारों का सहारा लेना पड़ा। लौह-कवच पर पड़कर चमकती हुई तलवारों की धारें ऐसी प्रतीत हुई मानों वर्षा के लिए उद्यत बादलों के शिखरों पर विद्युत् चमक रही है।

(२) शब्द-योजना, सजीव चित्रण, स्वाभाविक वर्णन के लिए यह दोहला परम प्रसिद्ध है। दूर तथा समीप से होते हुए युद्ध का लाघव से रमणीय वर्णन किया गया है।.शब्दों में ओज की प्रधानता है।

अलंकार—रूपक तथा अनुप्रास।

(१२०) रणभीरु-रूपी अशुभचिन्तकों के हृदय नगाड़ों की गड़गड़ाहट-रूपी-गर्जना से कम्पित हो गए। अस्त्रशस्त्रों की उज्ज्वल धाराओं से उमड़ते हुए रक्तरूपी जल के परनाले बहने लगे।

अलंकार—रूपक।

टि०—संस्कृत तथा अन्य टीका में 'असुभकारियौ' का अर्थ यह लिया गया है कि "कायर कहने लगे कि अकाल ही यह उत्पात खड़ा हो गया है।" यथा—१—कायर इम कहिवा लागा जे असुभकारियौ क° अकाळइ असुभकारी उतपात ऊपनउ। २—तैर्ज्ञातमयं समयोऽकालिकसमेतमेघवदशुभकार्युत्पातिकः।

(१२१) लम्बी-लम्बी चोटीवाली चौंसठ योगिनियाँ युद्धस्थल में कूद रही हैं। मुण्डों के गिरने पर धड़ उभर रहे हैं। बलराम तथा शिशुपाल ने निरन्तर शस्त्र-प्रहार रूपी भारी वर्षा की झड़ी लगा रखी है।

अलंकार—रूपक तथा यमक।

(१२२) रणभूमि में बहुत-से हाथों के प्रहार से बहुत-से व्यक्ति कट-कटकर गिर रहे हैं, जिसके फलस्वरूप रुधिर प्रवाहित हो रहा है। उसमें जल बुद्बुद् की आकृति के समान, रणचण्डियों के हाथ से गिरकर खोपड़ी-रूपी पात्र उलटकर तैर चले हैं।

(१२३) बलरामजी ने अपने साथियों को उत्तेजित करते हुए कहा कि शत्रुदल अभीतक साबित है—बचा हुआ या रक्षित है। वर्षा होने पर जो हल जोतता है वही विजयी होता है, उसी प्रकार जो अब हाथ चलायेंगे (प्रहार करेंगे) वही जीतेंगे।

टि०—'हल' के स्थान पर 'हव' पाठ देकर 'शीघ्र' या 'अविलम्ब' अर्थ भी किया जाता है, किन्तु हल तथा वर्षा एवं 'वाहिस्यइ' शब्दों का संयोजन अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। हलधर बलराम की उक्ति होनी भी ऐसी ही चाहिए।

अलंकार—रूपक।

(१२४) (हे वीरो!) विगत समय को विस्मृत करके यशरूपी बीज बोना चाहिए जो शत्रुओं को विष के सदृश कड़वा लगे। अर्थात् ऐसा भयंकर युद्ध करना चाहिए कि शत्रु विध्वस्त हो जाय। (ऐसा कहकर) बलराम के चलाए गए हलों के प्रहार से शत्रुओं के कन्धे रूपी डालों की जड़ें ऐसी टूटने लगीं जिस प्रकार किसान के हल चलाने से (खेत में छूटी हुई) जड़ें टूट जाती हैं।

अलंकार—श्लेष, मुद्रा एवं रूपक।

टि०—(१) कृषि-सम्बन्धी शब्द-परिज्ञान—बीज, बीजिजै, खारी, खलाँह, हलाँह, कन्ध, मूल, जड़, हलधर, वाहताँ।

(२) 'खारी' शब्द का पूर्वोक्त १२३ दो० में आए 'आवेळा' से सम्बन्ध स्थापित करने पर इसके स्त्रीप्रत्ययान्त होने में अनौचित्य नहीं है।

(१२५) योद्धाओं के शरीरों में अनेक घाव हो गए हैं। प्रत्येक घाव से अत्यधिक रक्त के ऊँचे-ऊँचे फव्वारे छूट रहे हैं। मानो खेत में पेड़ियों पर लाल कोंपल उत्पन्न हो रही हैं तथा धान के बाल-रूपी-शत्रुओं के शिरों से प्राण निकल रहे हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, शब्दश्लेष।

टि०—संस्कृत टीकाकार ने निम्न अर्थ करते हुए 'सिरा' का अर्थ 'सिरोनामानि फलानीव' किया है:—ततो हंसा जीवा निःसरन्ति किमिति तत्र सिरोनामानि फलानीव तत्रापि धान्याविर्भावे शिरा निःसरन्ति कथं सत्त्वेन सारवत्तया।

(१२६) महाशक्तिशाली बलरामजी अपने भुजा-बल द्वारा (शत्रुदल रूपी) धान्य की पेड़ी को प्रहार करते हुए चमत्कारपूर्वक नष्ट कर रहे हैं। उन्होंने अपने (तलवार रूपी) हँसुआ की धार से (रणक्षत्र रूपी) खेत में बालों रूपी शत्रुओं के सिरों रूपी बालों का ढेर लगा दिया है।

अलंकार—यमक, रुपकातिशयोक्ति, श्लेप तथा रूपक।

(१२७) रणक्षेत्ररूपी खलिहान में शत्रुदल-रूपी-धान्य का गाहटन करते हुए बलराम-रूपी-किसान के स्थिर चरण ही उस खलिहान की मेड़ हैं। उन्होंने घोड़ों पर चढ़-चढ़कर, उनको घुमा-घुमाकर घोड़ों के पैरों से कुचलकर शत्रुदल-रूपी-धान्य का भली प्रकार गाहटन किया है।

अलंकार—श्लिष्ट रूपक।

(१२८) कृषक-रूपी बलराम ने रणक्षेत्र-रूपी-खलिहान में कितने ही योद्धा-रूपी-कणों को चुन लिया है—पकड़ लिया है। कितनों के ही कण-कण—टुकड़े-टुकड़े—कर दिए हैं। योद्धाओं के जो दल भाग गए हैं, वही मानो धान से भरी हुई गाड़ियाँ जा रही हैं। मृत शत्रु-रूपी-धान्य के शिरों पर बैठी हुई गीधनी ही मानो चिड़ियाँ हैं तथा शवों का माँस ही उनका चारा है।

अलंकार—रूपक।

(१२९) बलभद्र अपने सदृश वीरों से लोहा लेते हैं और उनके विरोध में ढाल उठाते हैं। 'भलाभली' (पृथ्वी पर एक से एक बढ़कर वीर हैं) वाली कहावत सत्य है, (तभी तो) बलरामजी ने जरासन्ध तथा शिशुपाल जैसे प्रसिद्ध योद्धाओं को युद्ध में परास्त कर दिया।

टि०—द्वितीय पंक्ति का अर्थ ढूँढाड़ी टीका में इस प्रकार दिया गया है:—"अनै वडै विरध उपजतै भागा छै।" संस्कृत टीकाकार ने 'विरुधि' का अर्थ 'यमराज' बताते हुए अर्थ किया है:—"वडफरि ऊछजीइ इति हृदया-ग्रन्यस्तखेटके गृहीतेषु परमुक्तलोहेषु सत्सु विरुद्धो यमो भूत्वा लग्नः यत एवं ज्ञायते।"

(१३०) श्री रुक्मिणीजी का भाई रुक्मि अकस्मात् कृष्ण के सामने अड़कर इस प्रकार बोला, "तू निर्बल स्त्री को लेकर बहुत दूर चला आया है। हे अहीर! अब खड़ा रह। मैं आ गया हूँ।"

(१३१) रुक्मि के ललकारते ही कृष्णजी का मुख तमतमा आया। उन्होंने हाथ में धनुष लेकर, रुक्मि के अस्त्रों को काटने के लिए, प्रत्यञ्चा पर बाण चढ़ाकर, बाण के फर को मुट्ठी में तथा उसकी नोक को दृष्टि में बाँधा।

अलंकार—क्रम तथा दीपक।

(१३२) रणक्षेत्र-रूपी-एरण पर लौह के सदृश तप्त क्रोधावेश में लाल रुक्मि को देखकर स्वयं क्रोध करते हुए और रुक्मिणी को आँसू बहाते देखकर, दयार्द्र हो श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को लोहार का बाँया हाथ तथा अपने मन को साँडसी बनाया।

अलंकार—रूपक।

टि०—जिस प्रकार लोहार का हाथ साँडसी के गर्म हो जाने पर जलने लगता है और वह ठंडा करने के लिए पास रखे जल में साँडसी डुबोता है, उसी प्रकार क्रुद्ध रुक्मी-रूपी तप्त लोहे को अपने मन-रूपी साँडसी से पकड़कर मार डालने की इच्छा से क्रोधित मन कृष्ण भी रुक्मिणी को देखकर अपने मन-रूपी-साँडसी को उनके अश्रुजल से ठंडा कर लेते हैं। शेष रूपक का विस्तार स्पष्ट ही है। लोहार के कार्य का सूक्ष्म निरीक्षण कवि की मौलिक सूझ में सहायक हुआ है।

(१३३) कैसा आश्चर्य है कि (कृष्ण दोनों काम निबाह रहे हैं) रुक्मि से सम्बन्ध होने की लज्जा तथा उसे रुक्मिणी के निकट (सम्मुख) न मारने के विचार से युद्ध में वह जिन अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करता है, श्रीकृष्ण उन्हें ही काट देते हैं।

(१३४) तब स्वर्णनाम रुक्मि को अस्त्रशस्त्रहीन करके कृष्ण ने उसके केश उतारकर कुरूप बना दिया। क्षणमात्र ही जीवित रह सकनेवाले रुक्मि को श्रीकृष्ण ने हरिणाक्षी के हृदय के भाव समझकर जीवित ही छोड़ दिया।

(१३५) श्रीकृष्ण के अग्रज बलरामजी ने व्यंग्यपूर्वक कहा कि, हे भाई! यह क्या उचित है कि जिसकी बहिन को पास बैठाया है उसी को दुष्ट के योग्य दण्ड भी खूब दिया है। वाह भाई! तुमने भी भला (विचित्र) काम किया।

अलंकार—वक्रोक्ति।

(१३६) प्रथम तो, बड़े भाई की आज्ञा पालन के लिए, दूसरे मृगेक्षिणी रुक्मिणी का मन रखने के लिए राजीवनयन श्रीकृष्ण मन्द-मन्द मुस्कराते हुए, नीचे को मुख किए, लजाते हुए प्रसन्न हुए।

अलंकार—स्वभावोक्ति तथा समुच्चय।

(१३७) असम्भव को संभव करनेवाले, किए हुए को नष्ट करनेवाले, सभी बातों में समर्थ श्रीकृष्ण ने रुक्मी के जिन बालों को उतार लिया था, उनको साले के सिर पर हाथ रखकर फिर लगा दिया।

अलंकार—व्याघात।

टि०—डा० टैसीटरी ने 'हालिया जा इलगाया हूँता' पाठान्तर के आधार पर 'हालिया' का 'पुनः प्राप्त' अर्थ करते हुए 'हालणो' (चलना) क्रिया से इसका सम्बन्ध मानने की चेष्टा की है। वस्तुतः 'हा' का अर्थ भूतकालिक 'था' होता है। संस्कृत टीकाकार ने तो 'हा इति खेदमाकलय' कहकर अर्थ का अनर्थ ही कर दिया है। वे 'हालिया' का अर्थ 'हाथी लीया' (हाथ से लिया) भी करते हैं।

(१३८) एक ही बार में दो प्रकार का आनन्द हुआ कि कृष्ण ने युद्ध में शत्रुदल पर विजय प्राप्त करने के साथ पद्मिनी रुक्मिणी से विवाह भी किया। सैन्यसमूह में होड़ करते हुए बधाई देनेवाले बढ़ने लगे।

(१३९) द्वारिकापुरी के घर-घर में चिन्ता फैली हुई है। अपने-अपने काम भूलकर लोग ग्रहों की दशा पूछ रहे हैं। (उत्सुक) प्रजा कृष्ण के आगमन मार्ग में मन लगाए अट्टालिकाओं पर चढ़ी हुई मार्ग देख रही है।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

टि०—उत्सुकता का सजीव चित्रण है।

(१४०) उनके देखते-देखते शीघ्रता से आते हुए पथिक दृष्टिगोचर हुए। देखते ही उनके हृदय में चिन्ता-ज्वाला प्रज्ज्वलित हुई, वे दुःखी होकर पश्चात्ताप करने लगे। किन्तु पथिकों के हाथों में हरी डालियाँ देखकर कमलरूपी द्वारिकावासी पुनः हरे (प्रसन्न) हो गए।

अलंकार—रूपक।

(१४१) नगर में श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणीजी का शुभागमन सुनकर सभी नगरनिवासी उनकी स्वागतपूर्वक अगवानी करने के लिए उद्यत हुए। उस समय नगर ऐसा शोभित था, मानो पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्रमा के दर्शन के लिए समुद्र लहरें ले रहा हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(१४२) नगरनिवासियों ने घर-घर से बधाईदारों को उनकी दरिद्रता की दरिद्रता दी, अर्थात् इतना दिया कि उनकी दरिद्रता का नाश हो गया। हरी दूब से मंगलसूचक केसर और हल्दी उछाली गई। इस प्रकार अनवरत उत्सव मनाया जाने लगा।

(१४३) श्रीकृष्ण के स्वागतार्थ एक मार्ग से पुरुष तथा दूसरे से नारी समूह अत्यन्त उमंग में भरकर चला। वह दृश्य ऐसा था मानो द्वारिकापुरी अपने दोनों बाहु फैलाकर श्रीकृष्ण का आलिंगन करने के लिए चली हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—'तिकरि' के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। मारवाड़ी तथा संस्कृत टीकाकारों ने इसे 'त्वत्करे' का रूपान्तर माना है। डा० टसीटरी ने 'अतिकरि' रूप की कल्पना की है। हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित वेलि के सम्पादक इसका सम्बन्ध 'त्वत्कृते'—(तुम्हारे लिए) से मानते हैं।

(१४४) (स्वागतार्थ ताने गए मण्डपों के रत्नजटित) दण्ड ही मानो बिजली की चमक हैं। उनकी झालरों से झड़ते हुए मोती ही वर्षा की बूंदें हैं और उनके गगनचुम्बी छत्रों से आकाश ऐसा छाया हुआ है मानो वर्ण-वर्ण के मेघ घिरे हैं।

अलंकार—रूपक तथा उत्प्रेक्षा।

(१४५) राजमार्ग अनेक द्वारों से सुशोभित हो रहा है। द्वार मुकुरमय ह अथवा दपण से सुसज्जित हैं। मार्ग रंग-बिरंगे गुलाल से छाया हुआ है अथवा सुन्दर गुलाल मार्ग में फैला है। कृष्ण ने सेना को नगर में इस प्रकार प्रविष्ट कराया जिस प्रकार नदी समुद्र में प्रवेश करती है।

अलंकार—एकावलि तथा उपमा।

(१४६) नागरिकों की स्त्रियाँ यशोज्ज्वल कृष्ण को वधू के साथ देखकर ऊँचे-ऊँचे प्रासादों पर चढ़कर मांगलिक धवल-मङ्गल गीत गाने लगीं। श्यामल श्रीकृष्णजी को बलभद्र तथा सैन्य समूह के साथ सकुशल देख उनपर पुष्प-रूपी-बूंदें बरसने लगीं अर्थात् नागरी नारियों ने स्वागत में पुष्पवृष्टि की।

अलंकार—रूपक तथा यमक।

(१४७) वसुदेव तथा देवकी ने यह देखकर कि श्रीकृष्णजी शिशुपाल तथा जरासन्ध को पराजित करके विजयी होकर आए हैं, उनकी आरती उतारी, उनका (जल वारकर) सेवल किया तथा उनका मुख देखकर उनकी बलिहारी गए।

अलंकार—लाटानुप्रास तथा यमक।

टि०—डा० टैसीटरी 'वारै पै वारि' का अर्थ 'ऊपर जल वारते हैं' करते हैं। उनके विचार से 'पै' 'ऊपरि परि' से सम्बन्धित है। 'पै' का 'पय' से सम्बन्ध मानने में उनकी आपत्ति है कि तब 'वारि' (जल) शब्द व्यर्थ हो जायगा। वस्तुतः जल-सेचन द्वारा सेवल की यह विधि डा० टैसीटरी के ध्यान में नहीं आई। वस्तुतः 'वारै' का अर्थ 'बलिहारी जाना' तथा 'वारि' का अर्थ 'वारकर' करना चाहिए।

(१४८) श्रीकृष्णजी के स्वागत में विधिपूर्वक स्वागतकृत्य हो रहे हैं। बाजे बज रहे हैं। भिन्न-भिन्न मुखों द्वारा वर्णन किए जाने पर भी कृष्ण भगवान् का एक-सा ही यशगान हो रहा है। राजा लोग श्रीकृष्णजी का सत्कार करते हैं तथा रानियाँ रुक्मिणीजी को अन्तःपुर में लाकर सत्कार कर रही हैं।

(१४९) ज्योतिषियों को बुलाकर वसुदेव तथा देवकी सबसे पहले यही प्रश्न पूछते हैं कि ज्योतिष ग्रंथों को देखकर बताओ कि कृष्ण तथा रुक्मिणी का किस शुभलग्न में विवाह हो।

(१५०) वेदोक्त धर्म का विचार करके वेदज्ञ पण्डित काँपते (सशंक) चित्त से कहने लग कि एक ही स्त्री के साथ बार-बार पाणिग्रहण कैसे हो सकता है? (एकबार पाणिग्रहण (हाथ पकड़) कर तो श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी को रथ में बैठाया ही था, फिर पाणिग्रहण की क्या आवश्यकता रही?)

(१५१) त्रिकालज्ञ ब्राह्मणों ने (तत्काल) लग्न-समय देखकर निर्णय करके कहा कि सर्वदोष विवर्जित लग्न तो वही था जब हरण हुआ था।

(१५२) परस्पर सलाह करके ब्राह्मणों ने वसुदेव-देवकी से कहा कि हरण होने से ही पाणिग्रहण तो हो चुका, शेष सभी संस्कार अब होंगे।

(१५३) विवाह-संस्कार के लिए रत्नजटित वेदी बनाई गई है। विवाह-मण्डप के हरे बाँस हैं और उसमें सोने-चाँदी के मङ्गल-कलश रखे हैं। ब्राह्मण

ही साक्षात् वेदमूर्ति हैं। अरण्याग्नि में अगरमय ईन्धन है और उसमें कपूर तथा घृत की निरन्तर आहुति दी जा रही है।

(१५४) मधुपर्कादि संस्कारों से मण्डित, छत्र से सुसज्जित मण्डप में वर तथा वधू को पश्चिम दिशा में पीठ और पूर्व की ओर मुख करके बैठाया।

(१५५) सभी की दृष्टि श्रीकृष्ण के मुखारविन्द पर इस प्रकार लगी हुई है, मानो समुद्र के गर्भ में मछलियों से घिरा हुआ चन्द्रमा हो। ऊँचे-ऊँचे स्थानों पर चढ़कर नारियाँ श्रीकृष्ण का मुख देख रही हैं तथा अपने मुख से मङ्गल-गीत गा रही हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(१५६) स प्रकार आरम्भ में तीन भाँवरे भरकर चौथे फरे में प्रियपति श्रीकृष्ण प्रिया रुक्मिणीजी के आगे हो गए। अपने पूरे हाथ (सांगुष्ठ) से श्रीकृष्ण ने रुक्मिणीजी का हाथ पकड़ रखा है। वह ऐसा शोभित होता है, मानो हाथी ने अपनी सूँड में कमल दबा रखा हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(१५७) तदनन्तर वधू रुक्मिणीजी को श्रीकृष्णजी की बाँई ओर बैठाकर पण्डितों ने उनसे परस्पर विधिपूर्वक वचन कहलाए। उपलब्ध सुकाल में वेदपाठी ब्राह्मणों ने इच्छानुकूल नवनिधियाँ प्राप्त कीं।

(१५८) पाणिग्रहण छूटने पर, विवाह-मण्डप को छोड़कर बँधे हुए अंचल के बहाने मन बाँधे हुए (प्रेमानुरक्त) आगे वर तथा पीछे दुलहिन धीरे-धीरे शयनगृह की ओर चले।

अलंकार—कैतवापह्नुति।

(१५९) सखियों ने पहिले से ही क्रीड़ा-भवन में जाकर उसके आँगन को अपने हाथों से धोया। तत्पश्चात् शय्या के बहाने क्षीरसागर तथा पुष्पों के बहाने फेन सजाए। अर्थात् क्षीरसागर के सदृश निर्मल तथा उज्ज्वल शय्या बिछाकर उसपर फेन के सदृश सफेद पुष्प फैला दिए।

टि०—'करेण' संस्कृत तृतीया विभक्ति है।

अलंकार—कैतवापह्नुति।

(१६०) श्रेष्ठ प्रासाद अनेक प्रकार के रंगों से रँगे हुए चित्रों से चित्रित

हैं और वे चित्र मणिदीपकों से सुशोभित या दीपित हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो चित्रित चँदोवों के बहाने सहस्र फणों सहित शेषनाग हो। (कवि का संकेत इस बात की ओर है कि कृष्ण विष्णु के अवतार हैं। वह शेषनाग की शय्या पर क्षीरसागर में शयन करते हैं तथा उनपर शेषनाग के फण की छाया है)।

अलंकार—कैतवापह्नुति।

(१६१) विवाह-संस्कार करने के कुछ ही समय पश्चात् रतिसंस्कार के लिए मिलने के हेतु चतुर सखियों ने एकत्र होकर उन्हें अलग-अलग महलों में किया।

टि०—सखियों को 'विचित्र' विशेषण देना सारगर्भित है। उन्होंने दूती का कार्य बड़ी चतुराई से निबाहा है। पति-पत्नी को क्षणभर के लिए अलग करने में उनके हृदय में मिलनोत्सुकता बढ़ाने की चतुराई छिपी है। कवि का वर्णन अत्यन्त मधुर तथा सारगर्भ है।

(१६२) सन्ध्या-काल में पथिक वधू की दृष्टि, पक्षियों के पंख, कमल-पँखुड़ियाँ तथा सूर्य की किरणों के समान ही रति की इच्छा करती हुई रमणी रुक्मिणी संकुचित-सी हो रही हैं।

टि०—(१) सन्ध्या का स्वाभाविक तथा मनोरम संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के व्यापारों में मिलनोत्सुकता, विश्रान्ति की इच्छा का दर्शन कराकर रुक्मिणी के हृदय की स्थिति का संकेत किया गया है। प्राकृतिक सांध्य-संकोच का प्रभाव रुक्मिणी के हृदय को प्रभावित किए बिना न रहा। पथिक वधू की प्रतीक्षा, अन्धकार के कारण उसकी दृष्टि का संकोच आदि का मनोरम वर्णन विस्तार से समझन योग्य है। रुक्मिणी के हृदय का संकोच उनकी लज्जा है, मलिन होकर सिकुड़ जाना नहीं।

(२) ढूँढाड़ी टीका ने 'वञ्छित' पाठ दिया है जिसके अनुसार निम्न अर्थ होगा :—रुक्मिणी-रमण श्रीकृष्ण के हृदय में रतिकाल को निकट आया समझकर रति की इच्छा हो रही है।

अलंकार—दीपक।

(१६३) चन्द्र-किरणें, व्यभिचारिणी, अभिसारिका नारियाँ तथा निशाचरों की दृष्टि दौड़ने लगीं, अर्थात् विस्तृत प्रदेश तक पहुँचने लगीं। स्त्री (रुक्मिणी) का

मुख देखने के हेतु अत्यन्त व्याकुल श्रीकृष्ण ने बड़ी कठिनाई से रात्रि का मुख देखा अर्थात् उन्हें बड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी।

टि०—चन्द्र-ज्योत्स्ना के विकास के साथ-साथ कृष्ण का हृदय भी विकसित हो गया। चाँदनी रात में जहाँ अन्य प्राणी अपने-अपने काम में लगे, वहाँ कृष्ण का मन भी रति-भाव से विकसित हो गया। प्रिया से मिलनोत्सुक कृष्ण आतुर हो उठे जिससे उन्हें वियोग का क्षण-क्षण भारी और दीर्घ प्रतीत हो रहा है। वाह्य तथा मानव-प्रकृति का सुन्दर सम्मिलन, दर्शनीय है।

अलंकार—दीपक।

(१६४) दिवस तथा रात्रि का संयोग ऐसा हुआ कि उस निशासन्धि में अन्य पक्षी तो जोड़ों में संयुक्त हो गए, किन्तु चक्रवाक का वियोग हो गया। जलाए हुए दीपक ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो उनके बहाने से कामिनी स्त्रियों तथा कामी पुरुषों के मन में कामाग्नि प्रज्ज्वलित की गई हो।

अलंकार—पर्याय, कैतवापह्नुति।

(१६५) सब सखियों द्वारा प्रशंसित रुक्मिणीजी प्रियतम से मिलने के हेतु खड़ी (तैयार) की गई। (दूसरी ओर) श्रीकृष्णजी (उत्सुकतावश) शय्या तथा द्वार के मध्य घूम रहे हैं। पदचाप सुनने के लिए कान देकर पुनः शयनागार में चले जाते हैं।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

(१६६) बधाईदारों के सदृश चलते हुए सुगन्धित वस्तुओं की सुगन्धि तथा नूपुरों की झंकार ने आगे पहुँचकर व्याकुल श्रीकृष्ण को हंस के सदृश मन्द गतिवाली रुक्मिणीजी के आगमन की सूचना दी।

अलंकार—उपमा तथा पर्याय।

(१६७) सखि के हाथ का सहारा लेकर पग-पग पर खड़ी होती हुई, यौवनमद को बहाती हुई रमणी रुक्मिणीजी लज्जा-रूपी शृंखला में बँधे हुए मदमत्त हाथी के सदृश लाई गईं।

अलंकार—रूपकगर्भित उपमा।

(१६८) ज्योंही श्रीकृष्णजी ने रुक्मिणीजी को देहली में प्रवेश करते देखा,

त्योंही ऐसा असीम आनन्द उत्पन्न हुआ कि उसी ने आप ही आप रोम खड़े करके उनके द्वारा स्वागत कराया। अर्थात् रुक्मिणी को देखकर श्रीकृष्ण हर्षोत्फुल्ल तथा रोमांचित हो उठे।

अलंकार-अतिशयोक्ति, पर्यायोक्ति।

टि०—(१) डा० टैसीटरी ने संस्कृत टीकाकार द्वारा 'जेहड़ि' के अर्थ 'चरणा-भरण' को स्वीकार किया है। (२) प्रेमोत्सुक्य की सुन्दर व्यंजना है।

(१६९) जिस लग्न की बड़ी इच्छा थी, वह दीर्घकाल के पश्चात् घर में ही प्राप्त हो गया। श्री हरि ने स्वयं अपने अंक में लेकर प्रिया को शय्या पर बैठाया।

अलंकार—प्रहर्षण।

(१७०) यद्यपि माधव तृप्तमन हैं तथापि अत्यन्त रूपवती रुक्मिणी के रूपसौन्दर्य से चंचल हरि के नेत्र अतृप्त ही हैं। श्रीकृष्ण प्रियामुख को बार-बार इस प्रकार देख रहे हैं जैसे दरिद्र धन को तृषित नेत्रों से देखता है।

अलंकार—विरोधाभास, उपमा।

टि०—माधव को तृप्तमन कहकर उनके निष्काम अथवा पूर्णकाम होने की ओर संकेत किया गया है। उन्हें अतृप्त बताकर रुक्मिणी के अतुल सौन्दर्य की ओर संकेत किया गया है। दरिद्र का धन को देखना कहकर अतृप्ति की अतिशयता प्रकट की गई है।

(१७१) रुक्मिणीजी के नेत्रकटाक्ष रूपी-दूती अथवा नत्रकटाक्ष रूपी सूत्र बुननेवाली नली दम्पति के अभी तक पृथक् रहनेवाले मन को मिलाने के लिए घूंघट-रूपी-वस्त्र के अन्दर इधर-उधर आती-जाती है।

अलंकार—रूपक।

टि०—लोहार के कार्य के समान ही जुलाहे के कार्य का निरीक्षण करके कविने उपयुक्त समय पर उसका कुशलतापूर्वक उपयोग किया है। मौलिकता तथा कल्पना दर्शनीय हैं।

(१७२) जब सखियों ने वर और वधू के नेत्रों और मुख के हाव-भाव से उनके हृदय के भावों को समझ लिया तो वे भौंहों से हँसती हुई एक-एक करके शयनगृह से बाहर चली गईं।

अलंकार—सूक्ष्म।

(१७३) तब एकान्तोचित क्रीड़ा का आरम्भ हुआ, जिसे किसी देवता अथवा ऋषि-मुनि ने नहीं देखा है। अनदेखी तथा अश्रुत का किस प्रकार वर्णन किया जाय। उस सुखको वे (भोग करनेवाले) ही जानते हैं।

(१७४) पति द्वारा पवन डुलाने की प्रार्थना की गई (अर्थात् रुक्मिणी की हवा करने के लिए कृष्ण ने प्रार्थना की)। रुक्मिणीजी रत्यन्त म वहाँ (शय्या पर) थककर शिथिल पड़ी हुई किस प्रकार शोभित होती हैं, मानो सरोवर में क्रीड़ा करते हुए हाथी द्वारा तोड़कर डाली हुई म्लान कमलिनी हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(१७५) रुक्मिणीजी के ललाट पर कुंकुम का विन्दु पसीने की बूंदों के साथ मिलकर शोभा पा रहा है। इसकी शोभा ऐसी है मानो कामदेव-रूपी-कारीगर ने सुवर्ण में हीरे मिलाकर माणिक्य बीच में जड़ दिया हो।

अलंकार—रूपकगर्भित उत्प्रेक्षा।

(१७६) रुक्मिणीजी का मुख पीला पड़ गया, चित्त व्याकुल हो गया, हृदय धक़-धक करने लगा और उन्हे अत्यधिक कष्ट हुआ। उन्होंने अपने नत्रों में लज्जा धारण करके पदों के नूपुरों की झंकार तथा कण्ठ में कोकिल का मधुर स्वर बन्द कर दिया। (अर्थात् लज्जा के कारण वे न हिलती थीं न बोलती ही थीं। वे अवगुण्ठन खींचकर बैठ गईं।)

टि०—मारवाड़ी टीकाकार ने 'कुहू स्वर' को 'मधुर स्वर' के अर्थ में न मानकर निम्न अर्थ किया है :—कुहू-कुहू अेहवउ कूजित सबद सुरत माँहि हूँतउ ते निवारण करे क° निवारयउ।

अलंकार—समुच्चय, देहरी दीपक।

(१७७) जिस प्रकार कोई लता भ्रमरों के भार से पृथ्वी पर गिर पड़ी हो, किन्तु कदली का सहारा लेकर अनेक बल डालकर (टेढ़ी-मेढ़ी होकर) पुनः खड़ी हो गई हो, उसी प्रकार रुक्मिणीजी भी सखी के गले का सहारा लेकर (शय्यारूपी धरा से) उठ खड़ी हुईं।

अलंकार—उपमा।

टि०—'घणा घाति वल' का अर्थ संस्कृत आदि टीकाओं के टीकाकारों ने निम्न प्रकार से किया है:—अँगुली का आँकड़ा बनाकर अँगुलियों में अँगुलियाँ डालकर

भली प्रकार पकड़कर सखी के गले लगी। अथवा अँगुलियों को बल देकर कसकर कण्ठ में डाला।

(१७८) जिन रुक्मिणी के बाल खुल गए थे, मोतियों की माला छिन्न-भिन्न हो गई थी, कंचुकी के बन्धन और करधनी खुल गई थी, उन लज्जा, भय तथा प्रीति से पूर्ण रुक्मिणी को सखियों ने पुनः प्राणपति श्रीकृष्ण के पास पहुँचाया।

(१७९) श्रीकृष्णजी के रुक्मिणी के साथ रति-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त करने पर उनकी मन रखनेवाली सखियों के समूह में, अजिर अजिर में बनी हुई चित्रशालाओं के मध्य में (प्रसन्नता तथा हँसी के कारण) खिलखिलाहट मची हुई है।

(१८०) इस अर्द्ध-रात्रि में योगी तत्त्व की चिन्ता में तल्लीन होकर पर्वतों की गुफाओं में तथा कामीजन रति-चिन्ता मे लीन होकर घरों में, जाग रहे हैं। यही दो प्रकार के व्यक्ति इस अर्द्धरात्रि में भी जाग रहे हैं, शेष संसार निद्रा में लीन है।

अलंकार—यमक, यथासंख्य।

टि०—'कामिए', 'जामिए', शब्दों का प्रयोग करके योगी तथा कामी के विषय में कहकर कवि ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गों की ओर संकेत कर दिया है और दोनों की समानता स्थापित की है। उन्होंने दोनों मार्गों को समान महत्त्व दिया है। योगी के जागरण का संकेत गीता की 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' पंक्ति की ओर संकेत करता है।

(१८१) जिस प्रकार कामी व्यक्ति को मुर्गे का (प्रातःकालीन) शब्द और जोवन-प्रिय व्यक्ति को घड़ियाल का शब्द अप्रिय लगता है, उसी प्रकार उल्लास से पूर्ण लक्ष्मीपति श्रीकृष्णजी को व्यतीत होती हुई रात्रि अप्रिय लगी।

अलंकार—उपमा।

टि०—दूसरा अर्थ हिन्दुस्तानी एकेडेमी से प्रकाशित वेलि में इस प्रकार किया गया है :—रतिक्रीड़ा-प्रिय आनन्द के समूह में निमग्न लक्ष्मीपति (श्री-कृष्ण) को रात्रि के अवसान में कुक्कुट की पुकार इस प्रकार लगी जिस प्रकार

जीवित प्रियपुरुष को व्यतीत होती हुई जिन्दगी (के समय) में घटिका (का शब्द लगता है)।

(१८२) रात्रि के समाप्त होने पर चन्द्रमा इस प्रकार शोभा रहित हो गया, जैसे पति के अस्वस्थ होने पर पत्नी का मुख उदास दिखाई देता है, (दिन में) दीपक जलता हुआ भी प्रकाश नहीं देता और जैसे आज्ञा का उल्लंघन होने पर नरश्रेष्ठ राजा की दशा होती है।

अलंकार—उपमा, विरोधाभास।

टि०—संस्कृत टीकाकार ने 'नासफरिम' का अर्थ 'अदातृत्वेन' या कंजूसी बताया है।

(१८३) प्रभात होने पर (एक ओर) चक्रवाक के मन की रतिवाञ्छा पूर्ण हुई, परन्तु (दूसरी ओर) कोक-शास्त्रानुसार रमण करनेवाले व्यक्तियों की रति-इच्छा निवृत्त हो गई। प्रफुल्लित पुष्पों ने सुगन्धि छोड़ी, अर्थात् कली के विकसित हो जान से सुगन्धि फूट निकली तथा स्त्रियों के आभूषणों ने शीतलता ग्रहण की।

अलंकार—व्याघात।

टि०—कवि ने प्रातःकालीन प्रभाव का सांकेतिक वर्णन किया है। आभूषणों की शीतलता का उल्लेख करके कवि ने रात्रिभर पतिपत्नी के संयोग के पश्चात् प्रातःकालीन पृथकत्व का संकेत किया है। किन्तु वर्णन की विशेषता यह है कि श्रृङ्गार अश्लीलता की सीमा में नहीं पहुँच गया है। शील और संकोच से लिपटे हुए इस वर्णन में विशेष व्यंजना और माधुर्य है।

(१८४) सूर्योदय-रूपी-योगाभ्यास हुआ। शंख तथा भेरी का शब्द-रूपी-अनहदनाद सुनाई पड़ा। रात्रि-रूपी-मायावरण को हटाकर प्राणायाम में (सूर्य के प्रकाश-रूपी) परम ब्रह्म की ज्योति का प्रकाश हुआ।

अलंकार—रूपक।

टि०—प्रभात का समय ही योगाभ्यास का उचित समय है। तभी योगी प्राणायाम करते हैं। योगाभ्यास की सिद्धि में योगी को अनहदनाद सुनाई पड़ने पर मायावरण चीरकर ज्ञान-प्रकाश विकीर्ण हो जाता है। प्रस्तुत पद में उसी के आधार पर कवि ने प्रातःकालीन सुषमा का महत्त्व बताया है।

(१८५) दिनकर ने उदित होकर संयोगिनी नारियों के वस्त्रों, मंथन-दण्ड तथा कुमुदिनी की शोभा आदि मुक्त वस्तुओं को बन्धन दे दिया तथा बन्द गृह, बाजार, ताले तथा गोशालाओं को मुक्त कर दिया।

अलंकार—व्याघात, क्रम।

टि०—प्रातःकाल में कुछ वस्तुएँ जो रात्रि भर मुक्त या खिली तथा खुली रहीं हैं वे बन्द और बन्धनमय हो जाती हैं। इसी प्रकार बन्द या बन्धनयुक्त वस्तुएँ भी मुक्त हो जाती हैं। कवि ने इसी का स्वाभाविक वर्णन किया है। आगामी दोहले में भी वियोग और संयोग की दशा का ऐसा ही वर्णन किया गया है।

(१८६) सूर्य ने उदित होकर रात्रि भर के संयुक्त या संयोगी वणिकों को उनकी पत्नियों से, गौओं को उनके बछड़ों से तथा कुलटा स्त्रियों को लम्पटों से वियुक्त कर दिया। चोरों, चक्रवाकों तथा द्विजों को (क्रमशः चौरपत्नी, चकवी तथा तीर्थ से) मिला दिया। इस प्रकार उन्हें संयोग-सुख दिया।

अलंकार—व्याघात तथा यथासंख्य।

(१८७) (ग्रीष्म के आने पर) नदी तथा दिन बढ़ने लगे, जलाशयों के जल तथा रात्रि घटने लगी। पृथ्वी में कठोरता हो चली तथा हिमालय द्रवित हो गया। सघन वृक्षों ने संसार के सिर पर छाया की एवं सूर्य संसार के सिर पर से मार्ग बनाकर चलने लगा।

अलंकार—व्याघात।

टि०—संस्कृत टीकाकार ने 'राहु' पाठ लेकर सूर्य को राहु के समान महादुःखावह बताया है। साथ ही उपर्युक्त 'राह' पाठ के अनुसार भी अर्थ स्वीकार किया है।

कवि ने सिर पर से मार्ग बनाने की बात के द्वारा सबसे अधिक ताप की सूचना दी है। साथ ही सूर्य की उद्दण्डता भी व्यंजित की है।

(१८८) स्वयं सूर्य ने हिम-दिशा की शरण ली है (उत्तरायण हो गया है)। सूर्य भी वृक्ष (वृषराशि) के आश्रित है (फिर यदि) व्याकुल व्यक्ति छाया की इच्छा करते हैं तो यह ठीक ही है, इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है?

अलंकार—श्लेष, परिकर।

टि०—(१) ज्योतिषानुसार ग्रीष्म में सूर्य के वृषराशि पर आने से ताप अत्यधिक कष्टकर हो जाता है तथा ग्रीष्मारम्भ में सूर्य उत्तरायण रहते हैं।

(२) 'के वि हुइ अचिरज' पाठ लेते हुए टीकाकारों ने, 'कुछ लोगों को यह आश्चर्य हुआ कि सूर्य कैसा तापकर है', अर्थ भी किया है।

(१८९) अंगों पर धारण किए हुए मोतियों के आभूषणों की कान्तिवाले जगत्पति कृष्ण ज्येष्ठ मास में चन्दन-रूपी-कीचड़ और गुलाबजल-रूपी-जल-वाले सरोवर में इस प्रकार क्रीड़ा करने लगे।

अलंकार—उदात्त।

टि०—भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने 'दलि मुगता आहरण दुति' का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। यथा, ढूंढाड़ी टीका का अर्थ है :—'गहने सभी मोतियों के ही धारण किए हैं।' संस्कृत टीकाकार ने भिन्न ही अर्थ लेते हुए कहा है कि 'कान्ति उत्पन्न करने के लिए पीठिकामध्य में मोतियों को दलकर चूर्ण करके पिण्ड बनाया या एकत्र किया है, क्योंकि उसको पीठिका पर मर्दन करने से शरीर को तेजस्विता तथा शैत्य दोनों मिलते हैं। "द्युतेः कान्त्याः आहरणे आनयनार्थं पीठिकामध्य मौक्तिकानि दलयित्वा संचूर्ण्य पिंडीकृतानि तत्पीठिका मर्दनेनांगस्य तेजस्विता शैत्यमपि।" मारवाड़ी टीका का कथन है कि: "शरीरदुतइ शरीरकान्तइ करिवा पीठी ऊतारिवा भणी मुगता मोती दळ करि आटउ करी दुति क्रान्ति आहरण आणवा।"

(१९०) माघ-मास के मेघों से घिरी हुई कृष्णवर्ण अर्द्धरात्रि की अपेक्षा आषाढ़ मास के सूर्य से तप्त मध्याह्न में लोगों को निर्जनता अधिक ज्ञात हुई। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार माघ मास में अत्यन्त शीत के कारण हिम गर्म होकर मेघाच्छादित आकाश कृष्णवर्ण हो जाता है और भयंकर अर्द्धरात्रि में कोई एकाध ही व्यक्ति कहीं चलता दीखता है, उसी प्रकार आषाढ़ के मध्याह्न के सूर्य के ताप से भयभीत कोई एकाध ही व्यक्ति कहीं जाता दीखता था, अन्यथा शून्यता-सी ही छाई थी।

अलंकार—व्यतिरेक।

(१९१) नैऋत्य कोण से चली हुई झोले की वायु ने वृक्षों को झंझाड़

कर दिया है। लू की लहरों ने लताओं को दग्ध कर दिया है। ऐसी दशा म पति अपनी प्रिया के पयोधरों का सेवन कर रहे हैं तथा पत्नीहीन पुरुष पर्वतीय झरनों का आश्रय ले रहे हैं।

टि०—'नैरन्ति प्रसरि निरधण गिरि नीझर' का अर्थ संस्कृत टीका में इस प्रकार किया गया है :—"इस मास में निर्धन गिरि निर्झरों से बहते पानी का सुख अनुभव करते हैं।" यथा, "तत्र मासि निर्धना गिरि निर्झर प्रसरे वहति पानीये नैरन्तीति सुखमनुभवन्ति।" 'निरधण' का यही 'निर्धन' अर्थ ढूँढाड़ी टीका में भी किया गया है, किन्तु यह प्रसंगोपयुक्त नहीं है।

(१९२) कमल आदि पुष्पों की मालाओं से विभूषित श्रीकृष्णजी, कस्तूरी की गारा तथा कपूर की ईटों से बनाए हुए प्रासाद में, प्रत्येक नए प्रभात में नई-नई भाँति से क्रीड़ा करते हैं।

टि०—ढूँढाड़ी टीका के अनुसार 'नवै विहाणै नवीपरि' तथा 'कुसुम कमल-दल माल अलंक्रित' का अर्थ निम्न प्रकार किया गया है :—"नित नित नवा महल सवारिजै। फूल्याँ की माला सों चौगरद आच्छादित किया छै। इसा महल माहें श्रीकृष्णजी क्रीड़ा करै छै।" संस्कृत टीकाकार तृतीय पंक्ति के दोनों प्रकार के अर्थों से सहमत है।

अलंकार—उदात्त।

(१९३) मृगशिरा नक्षत्र के योग से चलनेवाली प्रचण्ड वायु (मृगवात) ने चलकर मृगों को व्याकुल कर दिया है तथा रेत उड़कर आकाश में सूर्य तक पहुँच गया है। आर्द्रा नक्षत्र के योग से पानी ने बरसकर पृथ्वी को गीला कर दिया है और गड्ढे जल से भर गए हैं। (यह देखकर) कृषक अपने कृषि के उद्यम में लग गए हैं।

अलंकार—यमक।

टि०—(१) मृगशिरा २७ नक्षत्रों में पाँचवाँ है। इसके पूर्वार्ध में वृषराशि और अपरार्ध में मिथुन होती है। इस नक्षत्र में चलनेवाली हवा को 'मृगवात' कहते हैं। हि० एकेडेमी के टीकाकार ने लिखा है कि :—"जब यह चलने लगती है तब सब कोई घबराकर कहने लगते हैं 'मिरग बाजै छइ"। मिरगों के बाजने

को अवधि सात दिन समझी जाती है और उस बीच में वह जितनी ही प्रचण्ड रूप में चलेगी उतनी ही भावी वर्षा के शकुन प्रबल समझें जायँगे।"

आर्द्रा नक्षत्र छठा है और आषाढ़ के आरम्भ में लगता है। इसी से वर्षा-योग आरंभ होता है। कृषकों का विश्वास है कि इस नक्षत्र में बोया गया धान्य श्रेष्ठ होता है। यथा, "अर्द्रा धान पुनरवसु पैया, गा किसान जब बोवा चिरैया।"

(२) 'भरिया खाद्र' का अर्थ 'खेत में खाद भरना' भी किया जा सकता है।

(३) संस्कृत टीकाकार ने 'किंकर' का अर्थ 'दुर्बलीकृता विह्वलतया इतस्ततो भ्रमणशीलाः' किया है।

(१९४) पावस ऋतु में बगुले, ऋषीश्वर तथा राजा बैठ गए हैं। देवता सो गए हैं। मोरों का शब्द होने लगा है, अर्थात् मोर बोलने लगे हैं। चातक ने (स्वातिबिंदु की) रट लगाना आरंभ कर दिया है और इन्द्र आकाश को चंचल मेघों से सजाने लगे हैं।

टि०—'हरि सिणगारै अम्बहर' का अर्थ इस प्रकार भी किया गया है :—"हरि क° इन्द्र तथा हरि मेघ इन्द्र धनुखादि कइँ करी तथा भिन्नभिन्नवर्णइँ करी अम्बहर क° आकाश नइँ सिणगारइ।" ढूँढ़ाड़ी टीका में 'बलाहकि चंचल' तथा अन्तिम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया गया है :—"बुगली फिरण लागी। उद्यम कीयो चाही जै। अनेक रंग रंग का जु सिहर उठै छै। सु ये मेघ मानुं आपणा घर सँवारै छै। भाँति भाँति की विचित्र रचना करै छै।"

(१९५) काले-काले वर्त्तुलाकार मेघों तथा उनके आगे किनारे पर स्थित (पवन के झकोरों से बहाए हुए) सफेद मेघों की कोरवाली घटाओं के साथ श्रावण मास मूसलाधार वर्षा के रूप में धड़धड़ करके बरसने लगा। दिशा-दिशाओं में बादल पिघल चले जो थमते ही नहीं हैं। इस प्रकार पिघलकर बरसनेवाले यह मेघ विरहिणी नारी के नेत्र हो गए हैं (जिनसे निरन्तर अश्रुरूपी जलवर्षा हो रही है)।

अलंकार—रूपक।

टि०—'धरहरिया' का अर्थ संस्कृत आदि टीकाकारों ने 'भूमि-सिञ्चन' किया है। शब्द की ध्वनि के आधार पर 'धड़-धड़ करके बरसने लगा' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(१९६) सघन मेघ गंभीर शब्द से गरजने लगा। बहुत जोर के साथ बरसने के कारण पर्वतों के (नीचे गिरते हुए) नाले तीव्रनाद करने लगे। विद्युत् मेघमण्डल में नहीं समा रही है (बार-बार चमक उठती है) तथा समुद्र में भी जल नहीं समा रहा है।

अलंकार—अधिक।

(१९७) मेघ गरजता हुआ बरसा। पृथ्वी पर हरियाली-रहित स्थानों पर जल भरा पड़ा है। मानो प्रथम समागम के समय स्त्री के वस्त्र उतार लेने पर उसके आभूषण शोभित हो रहे हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(१९८) वृक्ष तथा लताएँ अब पल्लवित हो गई हैं, तृणों के अंकुर फूट निकले हैं। पृथ्वी ऐसी हरी हो गई है, जैसे किसी नायिका ने हरी साड़ी पहिन रखी हो। उसने नदी-रूपी हार धारण किया है तथा पगों में दादुर-रूपी-नूपुर धारण किए हैं। मेढकों की ध्वनि ही नूपुरों की झंकार है।

अलंकार—रूपक।

(१९९) वर्षा से सिक्त काले-काले पर्वतों की श्रेणी ही पृथिवी-रूपी-नायिका के नेत्रों को कज्जलरेखा है। समुद्र ही पृथिवी-रूपी-नायिका की कटि में पड़ी हुई कटिमेखला है। पृथ्वी ने अपने ललाटपट्ट पर वीरबहूटी-रूपी कुंकुम की बेंदी लगा रखी है।

अलंकार—रूपक।

(२००) पृथ्वी-रूपी-पत्नी तथा मेघरूपी पति के मिलने पर उमड़कर तटों को मिलाती हुई गंगा तथा यमुना का संगम-स्थल ही मानो फूलों से गुथी तथा बिखरी हुई (पृथ्वीरूपी नायिका की) वेणी के रूप में सुशोभित है।

अलंकार—उत्प्रेक्षायुक्त रूपक।

टि०—कवि ने समागम समय के उपरान्त का मनोरम दृश्य तथा त्रिवेणी का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। नायिका का श्यामल केश-कलाप यमुना के श्यामल जल के सदृश है। उसके बीच गुँथे हुए श्वेत तथा रक्त पुष्प गंगा तथा सरस्वती के श्वेत तथा लाल जल के समान प्रतीत होते हैं। वेणी इसी

कारण त्रिवेणी के समान प्रतीत होती है। पृथिवी संयोगिनी नायिका के समान है जिसकी वेणी समागम के उपरान्त अव्यवस्थित हो गई है। इधर-उधर बिखरे हुए पुष्प ही मानो पृथ्वी-रूपिणी-नायिका की वेणी के स्रस्त पुष्प हैं।

(२०१) पृथ्वी रुक्मिणी के समान तथा जलधर श्याम (कृष्ण) के समान एक दूसरे की गलबाँही डालकर एक हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में अन्धकार के कारण दिन-रात का भेद नहीं जान पड़ता जिसके फलस्वरूप ऋषि-मुनि भ्रम में पड़कर सन्ध्या-वन्दन करना भूल गए है।

अलंकार—भ्रान्तिमान्, उपमा।

(२०२) पृथ्वी तथा जलधर के आलिंगन को देखकर, मनुष्य जन्म पाने का यही लाभ है ऐसा विचार करते हुए, रूठे हुए (पति पत्नियों को तथा पत्नियाँ पति) को पैर पड़कर, मनाकर दम्पति आलिंगन करते हुए रसभोग (केलि) कर रहे हैं।

अलंकार—हेतु।

(२०३) श्यामल तथा श्वेत मेघों से जल बरस रहा है। (सूर्य तथा विद्युत् की चमक के कारण) पीले तथा लाल (बने हुए) मेघ जिस महल के छज्जों से दोनों ओर रगड़ खा रहे हैं उसमें श्रीकृष्ण महाराज शोभित हैं।

टि०—(१) 'पहल' शब्द के समस्त टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। ढूंढाड़ी टीका के अनुसार उसका अर्थ 'दोनों ओर' होना चाहिए। दूसरी टीका उसका अर्थ 'अन्तरइ अन्तरइ जुजुआ' कहकर 'पृथक्' का बोध कराती है। संस्कृत टीका के अनुसार 'दोनों पक्ष' अर्थ होता है।

(२) हिन्दुस्तानी एकेडमी के संस्करण में इस दोहले का अर्थ निम्न प्रकार दिया गया है :—".....(और जिनके) छज्जों पर मेघ रगड़ते हुए चलते हैं (ऐसे) कई पीले और दूसरे लाल महलों में महाराज शोभायमान हैं।" किन्तु हमारे विचार से महलों के रंग-बिरंगेपन की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। महल को भी एक वचन ही रखना चाहिए।

(३) संस्कृत टीकाकार 'अर्धमार्ग' का अर्थ 'गगनमध्य' करते हैं। 'जल-जाल' को 'जलयन्त्र' के अर्थ में प्रयोग करते हुए महलों की जलयंत्र के समान

जल बहाते हुए कल्पना की गई है। संस्कृत टीकाकार ने इस दोहले का निम्न अर्थ किया है :—

"अधुना मेघाभ्रवर्णान् व्याख्याति। अथ च अर्धमार्गे गगनमध्ये उत्पतिताः मेघाभ्राः शुशुभिरे। उत्प्रेक्ष्यते। महाराजस्य परमेश्वरस्य राजे महल इति क्रीड़ा योग्यानि मुख्यगृहाणीव तेषां वर्णना। कीदृशानि गृहाणि। जलजालैर्जल-यंत्रैरिव जलानि स्रवंतीव इति द्वयोः पक्षे कानिचित् कज्जलवत् श्यामानि कोर णान्युज्ज्वलानि तान्यव सुधाधवलत्वं। कानिचित् पीतान्यभ्राणि हरितालितानि गृहाणीव। कानिचित् रक्तानि हिंगलूकरं गितानीवेति गृहमेघाभ्रयोः सादृश्यं पहलपर्यायैः अन्तरे अन्तरे पृथक् पृथक् स्थितान्यभ्राणीति ज्ञेयं।"

(२०४) नीलमणि की ईटों और स्वर्ण के गारा से निर्मित लाल मणियों के सुदृढ़ खम्भे तथा पाँच प्रकार के रत्नों के छत के सुदृढ़ पाटवाले, पद्म-रागमणि के झरोखोंवाले महलों के शिखर-शिखर पर मयूर क्रीड़ा कर रहे हैं।

अलंकार—उदात्त।

टि०—डा० टैसीटरी ने अन्तिम पंक्ति का पाठ 'सिखर सिखरमै मंदिर सिर' दिया है और उसका अर्थ संस्कृत टीका के अनुसार करना चाहते हैं कि :—

"ऊपर स्थित शिखरमय गृहशीर्षों को हीरकों से बनाया गया है।"

(२०५) सुगन्धित गुलाबजल से धोये गये वस्त्रों को शरीर पर धारण करके सुगन्धित द्रव्यों से धुले हुए महलों में श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी पूरे श्रावण तथा भाद्रपद महीनों में इस प्रकार सुखोपभोग कर रहे हैं।

(२०६) जिस शरद् ऋतु का अनेक प्रकार के कथनों से बखान किया है, ऐसी शरद् ऋतु के आते ही वर्षा ऋतु चली गई। जिस प्रकार रतिकाल में लज्जा स्त्रियों के नेत्रों में चली जाती है उसी प्रकार निर्मल जल नीचा ढलाऊ भूमि में जा रहा है।

अलंकार—दीपक।

टि०—ढूँढाड़ी टीका में तृतीय पंक्ति का अर्थ भिन्न प्रकार से दिया गया है :—"पृथी समस्त जलमई होय रही थी। सुं पाँणी छोड़ि कै तलाव माहे जाय रह्यो। नीषरि कहताँ धरती निर्मल हुई।"

'निवाणे' का ढूँढाड़ी तथा संस्कृत टीकाओं ने 'जलाश्रय' अर्थ लिया है।

संस्कृत टीकाकार की कल्पना है कि 'जल ऐसे ही निर्मल हो गया है जैसे सुरतांत में लज्जा के कारण नारी के नेत्र श्वेत हो जाते हैं।'

(२०७) वनस्पतियों के पक जान पर धरा पीली हो गई है। उसका कोकिल-रूपी-कण्ठ शब्दहीन हो गया है। ओसकण ही उसका पसीना है। सुरतान्त में शब्दहीन, स्वेदहीन, सुन्दरी स्त्री के पीले मुख के समान ही शरद ऋतु की शोभा है।

अलंकार—उपमा।

टि०—कवि ने सुरतांत के समस्त सात्विकों को प्रकृति नारी के रम्य शरीर पर लक्षित किया है। इस प्रकार के चित्र हिन्दी साहित्य में विरल ही हैं।

(२०८) आश्विन के व्यतीत होते ही आकाश में मेघ, पृथ्वी में पंक और जल में गँदलापन ऐसे विलीन हो गए, जैसे उत्तम गुरु के ज्ञानालोक के प्रकट होने पर मनुष्य के कलियुग के पाप नष्ट हो जाते हैं।

अलंकार—उपमा।

(२०९) शरद् ऋतु के आने पर गायें दूध झरने लगीं, धरा रस उगलने लगी तथा सरोवरों में कमलों की शोभा प्रकट हुई। स्वर्गलोक में निवास करनेवाले पितरों को भी मर्त्यलोक प्रिय लगने लगा।

अलंकार—समासोक्ति।

टि०—कहा जाता है कि शरत्काल में पितर पिण्डदान ग्रहण करने के लिए मर्त्य-लोक में आते हैं।

(२१०) शरद् की रात्रि इस प्रकार शुक्लवर्णा है कि पास होकर भी हंस तथा हंसिनी अपने निकट स्थित एक दूसरे को न जानकर विरह-दुःख के कारण अपने को भूलकर बारम्बार पुकार मचा रहे हैं।

अलंकार—मीलित।

टि०—ढूँढ़ाड़ी टीका में 'गमै' का अर्थ 'दुःख दूर करते हैं' लिया गया है। टीकाकार का कथन है कि यों तो उज्ज्वलता के कारण एक दूसरे को न जानकर दुःखी होते हैं, किन्तु बोलकर उन्हें एक दूसरे का समीप होने का बोध होने पर उनका दुःख दूर हो जाता है। संस्कृत टीकाकार ने भी इसी अर्थ को स्वीकृत किया है।

(२११) रात्रि की सघन ज्योत्स्ना में उज्ज्वल वस्तुएँ अदृश्य हो गई हैं। इसका अधिक वर्णन ही क्या किया जाय? (यहाँ तक हुआ है कि) सोलह कलाओंवाला चन्द्रमा भी अपनी ही उज्ज्वलता में लुप्त हो गया प्रतीत होता है।

अलंकार—मीलित।

(२१२) सूर्य तुलाराशि पर स्थित हो गया। राजा भी (तुलासंक्रान्ति पर्व पर) स्वर्ण के बराबर तुलते हुए धरा पर शोभित होने लगे हैं। प्रकाश तथा अन्धकार भी बराबर तुल गए हैं। अतएव एक-एक दिन लघुता प्राप्त करने लगा है तथा प्रत्येक रात्रि इसी कारण गौरव को प्राप्त करने लगी है (बढ़ने लगी है)।

अलंकार—श्लेष, हेतु तथा व्याघात।

टि० (१) १२ राशियों में से ७वीं राशि तुला है। तुला में स्वाति तथा विशाखा के ४५-४५ तथा चित्रा के ३० दण्ड रहते हैं। इसका आकार तराजू लिए मनुष्य के सदृश बताया गया है। इस राशि में मनुष्य तुलादान द्वारा ग्रहों को तृप्त करते हैं। कवि का ज्योतिष का ज्ञान सराहनीय है।

(२) दिन को लघुता प्राप्त होने में यह व्यंजना छिपी है कि अन्धकार जैसे तुच्छ पदार्थ के बराबर अपने को तुलता देख दिन को क्रोध और खेद हुआ जिसके कारण वह क्षीण होता गया। इसी प्रकार अन्धकार को गर्वानुभव होने के कारण रात्रि बढ़ती गई।

(२१३) कार्त्तिक मास में मन्दिरों में मणिदीपक जलाए गए जो भीतर प्रकाशित होते हुए भी बाहर समान अवस्थावाली सखियों के बीच लज्जानुभव करती हुई सुन्दरी के मन में निवास करने पर भी उसके मुख पर चमकने-वाले सुहाग-सुख के समान प्रकाशित हो रहे हैं।

अलंकार—उपमा।

(२१४) जिस कार्त्तिक महीने में नवीन-नवीन शोभा से मण्डित नवीन महोत्सव किए जाते हैं, उस मास में आनन्दमयी कुमारिकाएँ घर-घर के द्वार पर स्थिर चित्र चित्रित करती हुई स्वयं चित्र के समान शोभा पाने लगीं।

(२१५) सांसारिक सुखों के बहाने से द्वारिकावासी नए-नए प्रकार के सभी नए सुखों का सेवन करते हैं। शरद् ऋतु में उनकी रात्रि तथा दिन क्रमशः रासक्रीड़ा तथा रुक्मिणीरमण कृष्ण की भक्ति करने में ही व्यतीत होते हैं। अथवा शरद् की रात को श्रीकृष्ण रासक्रीड़ा में तथा दिन को भक्ति करके व्यतीत करते हैं।

टि०—(१) हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी की प्रति में 'रुक्मिणीरमण' का संयोग नवीन सुखों से किया गया है जिसके अनुसार अर्थ इस प्रकार दिया गया है:—"रुक्मिणी-रमण श्रीकृष्ण के नवीन प्रकार के जो सभी नए सुख हैं"। हमें वह विशेष ग्राह्य प्रतीत नहीं होता।

(२) संस्कृत टीकाकार ने 'नवा' का अर्थ 'जन' करते हुए कहा है:—"द्वारिकावासी नररूप में भी देवताओं के समान त्रिभुवन के समस्त नवीन अर्थात् अभुक्त सुखों का सेवन करते हैं। शरद्ऋतु में रुक्मिणीरमण की सेवा प्रदर्शित करने के लिए दीपमालिका के अनन्तर भुक्तराशि अर्थात् नवीन पक्वान्न द्वारा तथा सुगन्धित द्रव्य तथा वस्त्रादि से निशिदिन भक्ति करते हैं।" कहा भी है:—

"ताम्बूलमन्नं युवतीकटाक्षं गवां रसो बालक चेष्टितानि।
इक्षोर्विकारा मतयः कवीनां सप्तप्रकारा न भवन्ति स्वर्गे॥"

(२१६) जिस प्रकार (महाभारत के आरम्भ में) धनंजय तथा दुर्योधन आवश्यकता पड़ने पर साहाय्य के लिए (कृष्ण के पास) गए, उसी प्रकार नींद से जागने पर भगवान् विष्णु के सम्मुख जो मार्गशीर्ष मास मिला वही भला (सर्वश्रेष्ठ) माना गया।

टि०—देवप्रबोधिनी या 'देव उठान' एकादशी को देवताओं के जागने की ओर संकेत है। चातुर्मास के पश्चात् जागने पर मार्गशीर्ष ही पहले आता है। गीता में भी कहा गया है:—'मासानां मार्गशीर्षोऽहं।'

(२१७) (हेमन्त के आरंभ होने पर) पश्चिम दिशा से चलनेवाली वायु उत्तर दिशा से चलने लगी। सब (पतियों) को अपनी स्त्रियों के वक्षस्थल स्वर्ग हो गए। भुजंग तथा धनाढ्य दोनों ही पृथ्वी की तह फोड़कर विवर (तहखाना) बनाकर रहने लगे।

अलंकार—परिकरांकुर।

टि०—तृतीय पंपंक्ति द्वारा पत-पत्नी के भोग का संकेत किया गया है। धनी तथा भुजंग की तुलना के द्वारा दोनों की विषमयता आदि पर व्यंग किया गया है।

(२१८) नदियाँ घटने लगीं; हिमालय पर हिम की निर्मल चोटियाँ इस प्रकार बढ़ने लगीं, जैसे यौवनागम पर (नायिका की) कटि क्षीण हो गई हो तथा नितम्ब एवं पयोधर स्थूल हो गए हों।

अलंकार—उपमा तथा व्याघात।

(२१९) हेमन्तकालीन शीत के भय के कारण रात्रि होने पर कोई भी मार्ग में नहीं चलता, बल्कि सभी अपने घरों में ही रहते हैं। कोई कोमल वस्त्र, कोई कम्बल के भार से लदा हुआ अर्थात् रजाई या कम्बल आदि लपेटे हुए रहता है।

टि० (१) डा० टैसीटरी ने द्वितीय पंक्ति का 'मलिन सुतनु केइ वहै मग' पाठान्तर दिया है। संस्कृत टीकाकार को भी यही पाठान्तर स्वीकार है जिसका अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है कि:—"अपने शरीर से मलिन कोई-कोई मार्ग में चलते हैं। क्योंकि आलस्यवश धीरे-धीरे मार्ग में चलने से शरीर मलिन हो जाता है।" (२) 'जिणि' का संस्कृत टीका में 'येन कारणेन' अर्थ किया गया है। यह पाठ चतुर्थपंक्ति के 'जण' पाठ के स्थान पर किया गया है।

(२२०) जिस प्रकार कोई ऋणी ऋणदाता को देखकर संकुचित हो जाता है उसी प्रकार दिन भी (शीत को देखकर) धीरे-धीरे संकुचित होने लगे। जिस प्रकार प्रगल्भा नायिका पति द्वारा आकृष्ट वस्त्र को कठिनाई से ही छोड़ती है, वैसे ही पौषमास की रात्रि आकाश को (नीलाम्बर को) बड़ी कठिनाई से छोड़ रही है।

अलंकार—उपमा।

(२२१) वाणी तथा अर्थ, शक्ति तथा शक्तिमान्, पुष्प तथा सुगन्धि एवं गुण तथा गुणी जिस प्रकार एक दूसरे से मिले अथवा अविभाज्य होकर रहते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणीजी ने शीत को दूर करने अथवा व्यतीत करने के हेतु परस्पर मन को उलझाया।

अलंकार—मालोपमा।

टि०—तुलना कीजिये :—"वाणि अरथ जिम" तथा कालिदास की पंक्ति "वागर्थाविव संपृक्तौ।"

(२२२) सूर्य कामदेव के वाहन मकर—मकर राशि—पर स्थित हुआ तथा उत्तरी पवन ने बहकर कमलों को जलाकर वियोगिनी नारी के मुख जैसा मलिन तथा आम के वृक्षों का पालन करके संयोगिनी नारियों के हृदय के समान प्रफुल्ल बना दिया।

अलंकार—रूपक तथा व्याघात।

टि०—मकर राशि १० वीं राशि है। इसमें उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के तीन पाद, सम्पूर्ण श्रवण नक्षत्र तथा धनिष्ठा के आरम्भ के दो पाद आते हैं।

(२२३) माघ मास के आरंभ होते ही लोगों को जल दाहक तथा अग्नि शीतल लगने लगी। प्रार्थना अथवा याचना करने पर कृपण के वचनों—उत्तर—वाली पवन ने आम्र वृक्षों को त्यागकर शेष वन को जला दिया।

अलंकार—चित्र तथा विरोधाभास।

टि०—कवि का वाक्चातुर्य सराहनीय है।

(२२४) यद्यपि इसका नाम शीत है, किन्तु यह अपन नाम के अनुसार शीतलता न देकर हरे-भरे वनों तथा जलस्थित कमलिनी को भी जला देता है। इसी पाप के कारण मन के कालुष्य का मार्जन किये बिना यह द्वारिका में प्रवेश नहीं करता।

अलंकार—विभावना तथा हेतूत्प्रेक्षा।

टि०—समुद्र-तट स्थित द्वारिका की जलवायु मध्यस्थिति की रहती है और शीत की अधिकता वहाँ नहीं व्यापती, इस सत्य को व्यंजित करने के साथ-साथ कवि ने यह भी संकेत कर दिया है कि द्वारिका में कोई पापी नहीं घुस पाता है।

(२२५) सूर्य अपने प्रताप को प्रहरी बनाकर दशों दिशाओं में शीत को रोकता है। अर्थात् सूर्य की प्रचंड किरणें दशों दिशाओं में फैलकर शीत भगाती हैं। धूप तथा आरती की अग्नि के बहाने वह अपना शरीर दम्पति के ऊपर दिन-रात न्योछावर करता है।

अलंकार—कैतवापह्नुति तथा रूपक।

टि०—ढूँढाड़ी टीका ने इसका विचित्र अर्थ इस प्रकार किया है:—"ठाकुर को प्रताप ज हुऔ तिणिही तौ सीत पाल्यों आघौ आवण न दीयौ। रुपमणी अर श्रीकृष्ण ऊपरि दसौ दिसा आपणो सरीर उवारें छै। और अगनि अर सूरज ए आपणो सरीर उवारें छै। अगनि धूप कै मिस सरीर उवारें छै। सूर्य दीपक कै मिसि सरीर उवारेछै। रात्रि दिन उवारें छै।

संस्कृत टीका के अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार है कि—"ऊपर चढ़ता हुआ सूर्य अग्निरूप हो सन्ध्या कालों में श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी पर पहले धूप करके पुनः आरती के बहाने अपने शरीर को ही वार देता है। वह दशों दिशाओं का भ्रमण करके शीत का निवारण करते हुए अपने प्रताप को प्रतिहारी बनाकर स्वयं श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी की सेवा में अपने को वारता है।" अथवा संस्कृत टीका के अनुसार दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि:—"लोग सूर्य के प्रत्युपकार के लिए आरती के बहाने अपने शरीरों को उसके आधीन करते हैं।"

(२२६) सूर्य के कुम्भ-राशि में स्थित हो जाने पर ऋतु में परिवर्तन होने लगा। हेमन्त को शीत से ठिठुरे अथवा ठूँठ बने हुए वृक्ष शिशिरागमन के साथ हरे-भरे और पल्लवित हो गये। भ्रमर उड़ने के लिए अपने पंखों को तथा कोकिल कूकने के लिए अपने कण्ठों को सँवारने लगीं।

टि०—(१) धनिष्ठा नक्षत्र के उत्तरार्ध में तथा शतभिष और पूर्वभाद्र के तृतीय चरण तक रहनेवाली ग्यारहवीं राशि कुम्भ कही जाती है। प्रति बारहवें वर्ष सूर्य के कुम्भ राशि पर आने पर हरिद्वार में कुम्भ मेला लगता है। (२) डा० टैसीटरी ने—ठरे जु द्रह कियौ हेम ठण्ठ—पाठ देकर संस्कृत टीका का अनुसरण किया है, जिसके अनुसार अर्थ यह होगा कि:—"हिम अर्थात् ठरित में कमी होकर द्रहा अर्थात् ह्रद अकम्पन कर दिये गये।" तथा ढूँढ़ाड़ी टीका के अनुसार अर्थ होगा:—"हेम पिण ठरचउ पाणी का द्रह निवाण ठण्ठ कहता जामी नइ पालउ थयउ।"

ऋतु के विचार से यह दोनों अर्थ संगत नहीं प्रतीत होते। कवि ने यहाँ ऋतु-परिवर्तन का बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया है।

(२२७) वीणा, डफ, अलगूँजा, वंशी बजाते हुए, हाथों में गुलाल और मुख में पंचम-रागसहित युवक-युवतियाँ घर-घर फाग खेल रहे हैं, किन्तु ऐसा फाल्गुन मास विरही जनों को अत्यन्त दुःखद है।

टि०—डा० टैसीटरी ने 'रीरी' पाठ रखते हुए संस्कृत टीका के अनुसार उसका अर्थ 'बाढ़स्वरेण' लिया है। 'रीरी' पाठ मानते हुए 'आलाप' अर्थ भी संभव है।

(२२८) तरुओं में पल्लव, पुष्प तथा नवीन अंकुर अभी प्रादुर्भूत नहीं हुए हैं। फिर भी, शाखाएँ कुछ-कुछ मंजरियों से ऐसी हरी-भरी हो गई हैं, जैसे प्रिया पति का आगमन जानकर शृङ्गार न करने पर भी शोभित होती है। अर्थात् उसके हृदय के उत्साह तथा हर्ष का भाव उसके मुख पर चमकने लगता है। उसी प्रकार वृक्षों पर पल्लव, पुष्प तथा अंकुररूपी आभूषण तो नहीं दिखाई देते, किन्तु मंजरी से उसका उछाह प्रकट हो रहा है।

अलंकार—उपमा तथा विभावना।

टि०—कहीं-कहीं 'थुड़' पाठ देकर 'शाखा-प्रशाखा' के अर्थ में उसका प्रयोग किया गया है।

(२२९) ऋतुसमय से गर्भ के दश मास समाप्त होने पर वनस्पतिरूपा वधू ने वसंत-रूपी-पुत्र का प्रसव किया है—अन्य नारियों के अनुभव के समान ही प्रसवितृ वनस्पति को भी अनुभव हो रहे हैं। यथा—भ्रमर के गुंजार के रूप में उसके मन की व्याकुलता तथा कोकिल की कूक के रूप में उसके पीड़ामय वचन निकल रहे हैं।

अलंकार—समासोक्ति।

टि०—प्रसववेदना से व्याकुल चिल्लाती हुई नारी का बड़ा ही सच्चा तथा चित्रमय वर्णन है। शब्द-प्रयोग भावानुकूल है।

(२३०) वनस्पति-रूपी-जच्चा की प्रसव वेदना समाप्त हो जाने पर पक्वान्नों, फलों, पत्रों, सुन्दर पुष्पों, सुन्दर रंगीन वस्त्रों एवं समस्त प्रकार के द्रव्यों से होलिकोत्सव पूजा जाता है।

टि०—होलिकोत्सव के कारण की कल्पना कवि की सूझ मात्र है, फिर भी स्वाभाविक-सी जान पड़ती है। वसन्तोत्सव अथवा मदनोत्सव तो इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

(२३१) वसन्त-रूपी-पुत्र के किशलय-रूपी-अंगों को त्रिगुणात्मक—शीतल, मन्द, सुगन्ध—मलयानिल-रूपी त्रिगुणात्मक—सत्व, रज तथा तमस् युक्त—कलि-पवन का स्पर्श करते ही भूख तथा प्यास लगी। इसी से वह भौंरों की गुँजार के बहाने रोता है तथा वनस्पति-रूपी माता मधु के बहाने दूध झर रही है।

अलंकार—कैतवापह्नुति तथा रूपक।

टि०—कुछ टीकाओं में तृतीय पंक्ति में 'मधुप' के स्थान पर 'मधूक' पाठ दिया गया है और अर्थ इस प्रकार किया गया है :—मधूक वृक्ष के गिरते हुए पुष्पों के बहाने वसन्त-रूपी शिशु रोता है। क्योंकि दलों में मलयानिल के द्वारा कल नामक रोग-विशेष उत्पन्न हो गया है।

(२३२) वसन्त-जन्म के लिए बधाईदार सुगन्धि पवन-रूपी रथ पर चढ़-कर वन, नगर, घर-घर, तरु-तरु तथा प्रति सरोवर और सभी नर-नारियों के नासिका-पथ में बधाई देता घूम रहा है। अर्थात् वसन्त में सुगन्धि सभी स्थानों पर वितरित हो रही है। (विचित्रता देखिये कि यह बधाई श्रवण-मार्ग से नहीं, नासिका-मार्ग से दी जा रही है।)

अलंकार—अनुप्रास तथा रूपक।

(२३३) सघन आम्र-मौर ही तोरण है तथा कमल की कलियाँ ही मानो मंगल-कलश हैं। एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक फैली लताएँ ही मानो बन्दनवार बाँधी गई हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षायुत् रूपक।

टि०—राजस्थान में तोरण विशेषतः गृहद्वार पर लटकाई जानेवाली लकड़ी की बनी हुई उस सजावट को कहते हैं जिस पर मयूर चित्रित रहते है।

(२३४) वानरों द्वारा फोड़े हुए कच्चे नारियल फलों का गूदा ही मांग-लिक दही है। केसर ही कुंकुम तथा पद्म-पराग ही अक्षत हैं। अत्यन्त प्रसन्न होकर कोकिल गा रही हैं। वही मानो कलकण्ठी नारियाँ हैं जो मंगल-गान गा रही हैं।

अलंकार—रूपक।

टि०—मंगल-कार्य में दधिदर्शन मंगल-सूचक होता है, अतएव उसका वर्णन किया गया।

(२३५) धरा पर वसन्त के आ जाने से कमलिनी के पत्ते पर पड़ी हुई जल की बूँदें ऐसी शोभा पाती हैं मानो काँच से निर्मित आँगन में उल्लसित सुन्दरी नारियाँ मोतियों से थाल भरकर बधाई के लिए आई हों।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

(२३६) पुत्रवती वनस्पति कनेर तथा टेसू के पीले पुष्पों-रूपी-वस्त्र पहने है तथा मन में प्रसन्न हो रही है। वह कामधेनु के सदृश कामनाएँ बरसाती है, अर्थात् कामनाएँ पूर्ण करती है।—जिसको जिस प्रकार के पुष्पों की इच्छा होती है वह इस ऋतु में उसे उपलब्ध हो जाते हैं।

अलंकार—उपमा।

टि०—राजस्थान में प्रसवोपरान्त पीले कपड़े पहनाने की प्रथा है। यह मंगल-लक्षण समझा जाता है।

(२३७) जहाँ वनों में कनेर के तरु में कर्णिकार पुष्प एवं सेवती, कूजा, मालती, सोहनी तथा गुल्लाला इत्यादि के पुष्प पुष्पित हैं, वहाँ मानो इस वनस्पति ने समस्त परिवार को विविध रंग के वस्त्र पहनाये हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

(२३८) इस प्रकार वसन्त को बधाईदारों ने बधाई दी। दैनन्दिन उसकी कान्ति बढ़ती गई और शरीर पुष्ट होता गया। फाल्गुन मास के फाग-गीत के द्वारा उसे हुलराया अथवा लोरी दी। तरुओं के सघन अथवा हरे-भरे होने के रूप में ही वसन्त तरुण हो गया।

अलंकार—परिकर।

टि०—द्वितीय पंक्ति का अर्थ ढूँढाड़ी टीका में इस प्रकार दिया गया है:—"दिन-दिन भलाई का समूह बढ़ता गया।"

(२३९) वहाँ वन में ऋतुराज वसन्त ही राजा है, मदन उसके मन्त्री हैं तथा पर्वतों की शिलाएँ ही उनके सिंहासन हैं। शिर पर आम्र-तरुओं-रूपी-छत्र शोभा पा रहे हैं, वायु द्वारा संचालित मंजरी-रूपी-चँवर डुलाए जा रहे हैं।

अलंकार—सांगरूपक।

(२४०) उस वसन्त-रूपी-राजा के स्वागत में बिखरे हुए अनार के दानें रूपी-रत्न न्योछावर रूप में डाले गये जान पड़ रहे हैं। खगों के चरणों से

नोचे गये तथा चोंच से कुतरे हुए फलों से टपकते हुए रस-रूपी-जल से मार्ग सींचा जा रहा है।

अलंकार—रूपक।

टि०—डिंगल-काव्य में लुंचित, चुम्बित, मुंचन्ति तथा सिंचन्ति जैसे-शुद्ध संस्कृत प्रयोग लेखकों ने आपत्तिजनक माने हैं। नग—फारसी प्रयोग भी साथ ही हुआ है।

(२४१) वसन्त की सेना का वर्णन करते हुए कवि रूपक बाँधता हुआ कहता है—हरिण-रूपी-पैदल सैनिक, कुंज-रूपी-रथ, हंस-पंक्ति-रूपी बँधे हुए घोड़ों की पंक्ति तथा सजे हुए पर्वतरूपी हाथियों की पीठ पर खजूरों-रूपी ढालें लटकती शोभा पा रही हैं।

अलंकार—सांगरूपक।

(२४२) आकाश तक प्रसारित ऊँचे ताड़ के वृक्षों की सीधी पेंड़ियों अथवा तनों पर चंचल पत्ते ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वसन्त ने राजसिंहासन पर बैठने पर संसार के ऊपर अपनी दिग्विजय के घोषणा-पत्र बाँधे हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा तथा सम्बन्धातिशयोक्ति।

टि०—डूँढ़ाड़ी तथा संस्कृत टीकाएँ इसका अर्थ भिन्न मानती हैं। उनके अनुसार अर्थ यह होगा :—"राजसिंहासनासीन वसन्त ने अपना हाथ संसार के ऊपर उठा रखा है, मानो कहता हो कि संसार में कोई भी मेरी बराबरी नहीं कर सकता।" संस्कृत टीका का अर्थ है कि :—"जिस प्रकार ऊपर पत्ते एक दूसरे से जुड़े हैं वह ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वसन्त राजा ने सिंहासनासीन होकर जगत के हाथों को एक साथ बाँध दिया है और इस प्रकार यह घोषणा कर दी है कि जो हमें विजय करना चाहे वह यह जान ले कि उसकी क्या दशा होगी। अर्थात् उसने गर्वपूर्वक शत्रुओं में भयोत्पादन करना चाहा है।"

(२४३) ऋतुराज के सम्मुख महफिल अथवा नाट्यारम्भ हो रहा है। वन ही मण्डप है, निर्झर ही मृदंग है, पंचवाण—कामदेव ही उत्सव का नायक है, कोकिल ही गायिका है तथा वनरूपी उस रंगस्थली में एकत्र पक्षी ही दर्शक हैं।

अलंकार—सांगरूपक।

(२४४) वहाँ राजहंस ही कला-पारखी हैं, मोर ही नर्तक हैं, वायु ताल देनेवाला है, पत्ते ही करताल हैं, झिल्ली की झनकार ही तार के वाद्यों

का स्वर है। भ्रमर ही नसतरंग बजानेवाला तथा चकोर त्रिवट ताल देनेवाला है।

अलंकार—सांगरूपक।

(२४५) शुक—नृत्य तथा गान की शास्त्र-विधि बतानेवाला है, सारस रसज्ञ है, चतुर खंजन पक्षी गतें लेनेवाला है। कबूतर नट के समान लागदाटादि भावों के बताने में प्रवीण है तथा चक्रवाक की क्रीड़ा ही विदूषक का अभिनय है।

अलंकार—सांगरूपक।

(२४६) वन के आँगन अथवा खुले स्थानों में घूम-घूमकर भौरे जल पीते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे हैं जैसे त्रिसम ताल पर उड़प नामक विशेष नृत्य हो रहा हो। मरुत् चक्राकार घूमती है, मानो मूर्च्छना ले रही है। रामसरी तथा खुमरी नामक चिड़ियाँ रट—धुन—लगा रही हैं, मानो मधुर ध्रुवा तथा चन्द्रक ध्रुपद नामक रागिनियाँ अलापी जा रही हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षायुत रूपक।

टि०—ढूँढ़ाड़ी टीका का अर्थ इस प्रकार है:—"आँगण माहें जल छै। सु पवन कौ प्रेरयो चालै छै। इहै तिरप उरप हुई। मरुत चक्र कहतां वाउ कौ चक्र वधूलियौ। इहै मुरू हुऔ। रामसरी बोलै इहै मानौ धूवा माठा हुआ। षूमरी बोलै छै। इहै मानो चन्द धुरू संगीत का सवद हुआ।"

(२४७) वन में सघन तरु-समूह की छाया-रूपी-रात्रि हो रही है। पुष्पित पलाश के वृक्ष-रूपी-दीपयुक्त दीवटें हैं। आम्र-मंजरी ही वसन्त का रीझकर रोमांचित हो जाना है। कमलों का विकास ही हर्षोद्गत हास्य है।

अलंकार—सांगरूपक।

(२४८) मधुमास के प्रकट होते ही कोक संगीत प्रकट हुआ, अर्थात् रस, अलंकार, शृङ्गार, तथा भावादि सहित संगीत उत्पन्न हुआ। शिशिर ऋतु की श्री अर्थात् शोभारूपी यवनिका को दूर करके अभिनेताओं ने आशीर्वचनादि मन्त्र पढ़कर ऋतुराज वसन्त पर पुष्पांजलि वारी।

अलंकार—रूपक।

टि०—नाट्यारम्भ में सूत्रधार तथा मुख्य अभिनेता आए हुए राजा के स्वागत में पुष्पांजलि भेंट करते थे। यह प्राचीन नियम था, इसी की ओर यहाँ संकेत किया गया है। ऐसा उल्लेख हि० ए० के संस्करण के सम्पादकों ने

किया है। किन्तु संस्कृत टीका 'रितु' के स्थान पर 'रति' पाठ स्वीकार करती है। और इस प्रकार वसन्त ऋतु के स्थान पर रति की पूजा की ओर संकेत करती है। इस संकेत को एक टीकाकार ने इस प्रकार प्रकट किया है :—"नृत्य अवसरइ मन्त्र पढि देवता रइ सिरि पुफांजलि नाँखीयइ।" (२) ढूँढ़ाड़ी टीका ने भिन्न ही अर्थ दिया है, जो इस प्रकार है :—"ससिर रिति थी जवनिका सु तो दूर कीधी। या रिति ही पात्र हुई, तिणि मन्त्र पढ़ि अर पुहपांजली वनसपती उपरि नाँषी छै।" इसके अनुसार वसन्त पर नहीं, वनस्पति पर पुष्पांजलि वारी जा रही है तथा वसन्त ही पुष्पांजलि वारनेवाला पात्र है। संस्कृत टीका भी इसी से मिलती-जुलती है। किन्तु वसन्त का वर्णन करते हुए उनके स्वागत में पुष्पांजलि वारना अधिक स्वाभाविक तथा उचित ज्ञात होता है।

(२४९) शिशिर-रूपी-दुष्ट राजा उद्भिज्-रूपी-प्रजा को पीड़ा देता था। राजा वसन्त ने शिशिर के अन्याय-रूपी-दुर्जन उत्तरी वायु को हटाकर वनरूपी-नगर-नगर में प्रसन्न करनेवाली वायु के बहाने न्याय का प्रवर्तन किया।

अलंकार—रूपक तथा कैतवापह्नुति।

टि० १ दोहला २२३ के 'उत्तर' शब्द के आधार पर कुछ टीकाकारों ने 'उत्तर दिशा' तथा 'अस्वीकारात्मक उत्तर' दोनों अर्थ किये हैं। यथा, (१) उत्तरेणानंगीकारेणासद्दुर्जन इवोत्थापितो दूरीकृत:। (२) ऊतरदिशि वायुरूप ऊतर नाकारइ करी असन्त दुर्जन नी परइ ऊथापियउ दूरइ कीयउ।—आदि। २, कहीं-कहीं 'उद्भिज्' के स्थान पर 'अम्बुज' पाठ भी किया गया है। यथा, संस्कृत टीका में।

(२५०) जिस धन को शिशिर-रूपी-दुष्ट राजा के भय के कारण वनस्पति-रूपी-धनपति ने अब तक छिपा रखा था, उसी गड़े हुए धन को वसन्त-रूपी-सुराजा के आगमन पर निर्भय होकर एक वृक्ष ने पुष्पों के बहाने तथा दूसरे ने पत्तों के बहाने खोदकर प्रकट कर दिया है। चम्पक वृक्ष-रूपी-लखपती ने—लाखों के धन पर पुष्प-रूपी-दीपक जलाये हैं तथा केलि-रूपी-करोड़पति ने करोड़ों के द्रव्य पर पत्तोंरूपी पताका फहरायी हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति तथा कै० अपह्नुति।

टि०—लखपतियों द्वारा अपने धन पर दीपक जलाने तथा करोड़पतियों द्वारा अपने घर पर ध्वजा फहराने का प्राचीन काल में नियम था। उसी का

वर्णन किया गया है। कवि का निरीक्षण सराहनीय है कि उसने चम्पक के पुष्पों की कान्ति की समानता प्रज्ज्वलित दीपक से तथा ध्वजा की समानता कदली के पत्तों से बड़ी सफलतापूर्वक की है।

२५१—मलयानिल के चलने से सुराज्य-सा स्थापित हो गया, अर्थात् सुराज्य का-सा सुख प्रतीत हुआ। तब पुष्पभार-रूपी-आभूषण धारण करके लताएँ निश्चिन्त भाव से अंक भरकर तरुओं के गले लगीं।

अलंकार—रूपक तथा समासोक्ति।

टि०—निश्शंक भाव से आभूषण पहनने में यह व्यंजना छिपी है कि शिशिर के कुराज्य में किसी को अपने आभूषण तथा धन के बचने की आशा न होने से, अरक्षा की शंका से, सबन अपने गहने छिपा दिये थे, जिन्हें वसन्त के सुराज्य के स्थापनानन्तर पहना है।

(२५२) कष्ट देते हुए हेमन्त तथा शिशिर के पूर्वकाल के दुःख को ऋतु-राज वसन्त ने हित करके दूर कर दिया। तरुवरों की शाखाओं पर फैली हुई लताओं ने वशाख मास को जन्म दिया।

टि०—वसन्त का सुराज्य पाकर सुखी प्रजारूपी वनस्पति की लतारूपी नारी तथा वृक्षरूपी पुरुष ने एक दूसरे के साथ समागम किया, जिसका वर्णन पूर्व दोहले में कर दिया गया है। उसी समागम के फलस्वरूप वैशाखरूपी पुत्र का जन्म हुआ। चैत्र के पश्चात् वैशाख के आने की यह रमणीय कल्पना है। व—शाख नाम के आधार पर कवि की यह कल्पना साहित्य में अनुपम ही है।

अलंकार—परिकरांकुर।

(२५३) भ्रमर-रूपी कर वसूल करनेवाले इधर-उधर घूमते हैं और गुँजार-रूपी-शब्द (शोर) कर रहे हैं। यह वृक्षों-रूपी-प्रजा से मंजरी, सुगन्धि तथा मधु-रूपी-राज्यकर लेते हुए इसी प्रकार डंक नहीं मारते जिस प्रकार सुराज्य में दण्ड नहीं दिया जाता।

अलंकार—उपमायुत रूपक।

टि०—(१) संस्कृत टीकाकार ने 'डंकनं' एक शब्द मानकर उसका यह अर्थ किया है कि 'थोड़ा स्वाद मात्र ही दण्ड दिया जाता है।' यथा—'डंकनं स्तोकं स्वादुमात्रं दीयते दण्डः, सर्वथा लुण्टनरूप न दीयते।'

(२) कवि ने यहाँ यह रूपक बाँधा है कि जैसे लगान उगाहनेवाले कृषक की खेती से उत्पन्न धान्य को कर-रूप में ले लेते हैं, उसी प्रकार भ्रमर-रूपी करग्राहक वनस्पति-रूपी-कृषक की पुष्पादि-रूप-खेती से कर-रूप में सुगन्धि आदि ग्रहण कर रहे हैं।

(२५४) ऋतुराज वसन्त के प्रसाद से तरु पुष्पों से लद गये हैं। उनके हिलने से पुष्पभार झड़ रहा है। मानो कामदेव ने पुष्पबाणों को अपने कराग्र म पकड़ रखा है। जागतिक जन अग्नि तापने से बच गये हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा तथा पर्यायोक्ति।

टि०—(१) हि० ए० के वेलि संस्करण में 'वलि—जगि', पंक्ति का अर्थ श्लेष के आधार पर निम्न प्रकार से भी किया गया है :—"वसन्त में ऋतुराज की कृपा से लोगों ने शीतकाल की तरह अग्नि से तापना छोड़ दिया है, परन्तु अब वे एक दूसरी प्रकार की अग्नि तापते हैं। वह है कामाग्नि।" यहाँ वेसन्नर का अर्थ 'कामाग्नि' लिया जायगा। (२) 'भुरड़ीतौ रहे'—पाठ के आधार पर 'अग्नि तापते हैं,' अर्थ भी किया गया है।

(२५५) जिस प्रकार वर्षा होने पर भी चातक उसके जल से वंचित ही रह जाता है—प्यास नहीं बुझा पाता—उस प्रकार वसन्त के राज्य में कोई भी वंचित नहीं रहता। जिस प्रकार राजा की प्रशंसा में वन्दीजन गान करते तथा धन प्राप्त करते हैं, वैसे ही पक्षी-रूपी-वन्दी बोलकर यशगान कोलाहल कर रहे हैं। उन पक्षियों ने अपने पंखों को ऐसे प्रसन्नतापूर्वक फैला रखा है, मानो अपनी सेवा का फल-रूपी-फल प्राप्त कर रहे हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा तथा व्यतिरेक।

टि०—डा० टैसीटरी ने तृतीय पंक्ति में 'पंखि' पाठ रखकर अगली पंक्ति में आए हुए 'खग' शब्द में उसकी पुनरुक्ति मानी है, किन्तु ढूँढ़ाड़ी टीका के अनुसार 'पंख' पाठ मान लेने पर यह आपत्ति उपस्थित नहीं होती। तब संस्कृत टीका की सी 'बड़े पक्षी' तथा 'छोटे पक्षी' आदि अर्थ की कष्ट-कल्पना भी न होगी।

(२५६) कुसुमायुध के आश्रय-स्थान कुसुमित किंशुक को देखकर रति-क्रीड़ा की इच्छा करती हुई संयोगिनी तथा वियोगिनी नारियों की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हुईं। पति-संयोगिनी ने उसे पुष्पित देखकर कहा कि यह 'किं सुख'

अर्थात् कैसा सुखद है। किन्तु वियोगिनी उसे देखकर भय से कृशकाय हो गई और उसने कहा कि यह वन में पलाश अर्थात् राक्षस है।

अलंकार—उल्लेख तथा श्लेष।

टि०—(१) पाठान्तर 'ओटि' के स्थान पर ढूँढाड़ी टीका में 'उदै, उदौ' पाठ मानकर यह अर्थ किया गया है—"कुसुमायुध कहतां कामदेव तें कै उदै करि केलि विलास खेल।" किन्तु संस्कृत टीकाकार ने पूर्णतया दूसरा ही पाठ प्रस्तुत किया है। यथा "पेखे अेक रूँख पंति परिफूलित, वदै नारि अनि अनि वचन॥" उनका अर्थ है :—"एक वृक्ष को समकाल में दो नारियों ने पुष्पित देखकर भिन्न-भिन्न रूप में कहा।" इस अर्थ में पूर्व-पाठ का-सा शब्द-सौन्दर्य नहीं है। कामदेव के कुसुमायुध नाम के आधार पर उसके आश्रय-स्थान के रूप में वसन्त में फूले हुए किंशुक की कल्पना अधिक स्वाभाविक है। संस्कृत टीकाकार ने दूसरा अर्थ भी स्वीकार किया है। (२) हि० ए० के संस्करण के सम्पादकों ने प्रथम पंक्ति का अर्थ—"पुष्पधन्वा कामदेव की कल्पना करके रति-क्रीड़ा की इच्छा करती हुई" आदि किया है। इस अर्थ में कवि द्वारा उक्त भाव की व्यंजना नहीं आती जान पड़ती। कुसुमायुध के स्थान पर कामदेव कहना और 'ओटि' का अर्थ 'कल्पना' बताना उचित नहीं जान पड़ता। 'कुसुमित' किंशुक का विशेषण होना चाहिये। (३) तोते की नाक के समान आगे से टढ़े होने के कारण पलाश के फूल को किंशुक कहा जाता है। किन्तु कवि ने 'किं सुख' कहकर दूसरे अर्थ की मौलिक कल्पना द्वारा काव्य-चमत्कार प्रदर्शन में सफलता प्राप्त की है। इसी प्रकार 'पलाश' शब्द की 'पलं मासं अश्नाति इति पलाशः' व्युत्पत्ति का सहारा लेकर भी उक्ति-चातुर्य दिखाया गया है। किंशुक का लाल मुख देखकर उसे सरलता से मांसाहारी कहा जा सकता है। (४) संयोगिनी तथा वियोगिनी नारियों के एक ही पुष्प के विषय में एक ही काल में भिन्न-भिन्न भावों की सुखद कल्पना की गई है, जो स्वाभाविक भी है।

(२५७) वन-वन में मालिनियाँ केसर बीन रही हैं। केसर के रंग तथा सुगन्धि के समान ही उनके तन का रंग तथा सुगन्धि है। उनके कर-पल्लव कोमल कुसुमों के सदृश हैं। वे मालिनियाँ अपने नखों में अपने ऐसे शरीर के प्रति-बिम्ब को देखकर भ्रम में पड़ गईं—और उन्होंने केसर बीनना छोड़ दिया।

अलंकार—उपमा, भ्रान्तिमान् तथा रूपक।

टि०—संभव है, काबुल के आक्रमण के लिए जाते हुए काश्मीर में कवि को यह मनोरम दृश्य देखने का अवसर मिला हो। कवि का शब्द-चयन प्रशंसनीय है।

(२५८) कामदेव का मलयानिल रूपी दूत मलयाचल से हिमालय पर्वत के लिए चला। महादेव को प्रसन्न करने के लिए जल से भीगकर पहले बलवान अथवा स्वस्थ बना, तदनन्तर उनके क्रोध के भय से डगमग पैर रखता हुआ, वह कामदूत सुगन्धि-रूपी भेंट सजाकर चला।

अलंकार—समुच्चय तथा परिकर।

टि०—जल-सिक्त कहकर शीतल, सुगन्धि की भेंट सजाये हुए कहकर सुगन्धित तथा डगमगाते बताकर मन्द वायु का संकेत किया गया है। इस प्रकार चतुराई से कवि ने शीतल, मन्द, सुगन्ध मलयानिल का वर्णन किया है। उक्ति-चातुर्य तथा कवि-कल्पना सराहनीय है।

(२५९) प्रत्येक नदी को तैरते तथा तरु-तरु को लाँघते हुए, प्रत्येक लता के गले लगते हुए, दक्षिण से उत्तर की ओर आते हुए उस पवन के पग आगे नहीं पड़ते। तात्पर्य यह कि नदी के स्पर्श से वह शीतल, वृक्ष तथा लता के स्पर्श से सुगन्धित होकर श्रम के कारण मन्द-मन्द चला आ रहा है।

अलंकार—समासोक्ति।

टि०—हि० ए० संस्करण के सम्पादकों ने इसे शठ-नायक का चित्र माना है। पवन-रूपी शठ नायक अन्यत्र विहार करने के कारण अपनी प्रेयसी से मिलने में लज्जित होता है। यह कल्पना अच्छी है, किन्तु दोहले का वर्णन पवन के उतार-चढ़ाव जनित श्रम का ही अधिक संकेत करता है। सीधे-सीधे यदि श्रम की सूचना मान ली जाय तो बिहारी की पंक्ति—'आवत दक्खिन देस तें थक्यो बटोही बाय—'के समान यहाँ भी पवन-बटोही का चित्र माना जा सकता है। आग का दोहला इसका प्रमाण है।

(२६०) केवड़ा, कुन्द तथा केतकी के पुष्पों की सुगन्धि का भारी भार कंधों पर उठाये चलने के कारण ही गन्धवाह पवन की गति मन्द हो गई है। वह निर्झर के जलकणों के रूप में श्रमकण ही गिरा रहा है।

अलंकार—रूपक तथा हेतु।

(२६१) उन लताओं की शरीर सुगन्धि को लिए हुए रस-लोभी मलयानिल रति के अन्त में किये जानेवाले स्नान के समान रेवा के जल में स्नान करके उत्तर दिशा की ओर सापराध पति (धृष्ट नायक) के समान चल रहा है। अर्थात् जिस प्रकार कोई नायक अन्यत्र रतिक्रीड़ा करके अपनी पत्नी के सम्मुख जाने में संकुचित होता है, उसी प्रकार पवन भी मन्द-मन्द चल रहा है, मानो संकुचित हो रहा है। वह शीतल तथा सुगन्धित भी है, क्योंकि सुगन्धि का स्पर्श तथा जल-स्नान करके आ रहा है।

अलंकार—उपमा।

(२६२) पुष्पवती लता रजस्वला नारी के सदृश हैं। उनसे पवन स्पर्श करता है, उन्हें आलिंगन दान देता है। मधुपान-रूपी-मदिरापान करके मतवाला बना हुआ वायु-रूपी-नायक अपने पैर ठीक स्थान पर नहीं रखता।

अलंकार—समासोक्ति तथा श्लेष।

टि०—(१) रजस्वला-नायिका का स्पर्श निषिद्ध होने पर भी जो नायक उसे स्पर्श करता हो उसकी उन्मत्तता में शंका ही क्या हो सकती है। कवि ने यहाँ उस उन्मत्तता का प्राकृतिक कारण भी खोज लिया है। (२) मधुपान का चित्र कुमारसम्भव से देखिये :—"मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियायामनुवर्तमानः।" (३) संस्कृत टीकाकार ने प्रथम पंक्ति में 'न परस पमूंके' के स्थान पर 'परसपर मूंके' पाठ देकर उसका अर्थ यह किया है कि "परस्पर पुष्पवती लताओं में एक को छोड़कर दूसरी को आलिंगन दान करता है।" किन्तु यह अर्थ उतना सारगर्भ नहीं। दूसरे, इससे वयणसगाई के नियम का भी उल्लंघन होता है।

(२६३) निर्झरों के जल के छींटे उड़ाता हुआ, चन्दनतरुओं से शरीर-घर्षण करता हुआ, पराग-रूपी-रज से अत्यन्त धूसरित अंगवाला, मधु-रूपी-मद झरता हुआ, उन्मत्त मारुत-रूपी-मातंग मस्ती से मन्द-मन्द चल रहा है।

अलंकार—रूपक तथा अनुप्रास।

टि०—कवि ने मदमत्त हाथी का रूप उपस्थित करने के लिए यहाँ उसके 'मातंग' नाम का अत्यन्त उचित प्रयोग किया है। अन्तिम पंक्ति का प्रत्येक

शब्द भी मस्त चाल से एक-एक पग सम्हालकर उठाता जान पड़ता है। मातंग के धूसरित अंग का वर्णन करके मनोरम रूप की सृष्टि की गई है। साथ ही पूरे दोहले से शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु का भी परिचय दिया है।

(२६४) वियोगिनी तथा संयोगिनी दोनों की ओर से पवन के विषय में ही यह वाद-विवाद हो रहा है। वियोगिनी कहती है कि यह पवन सर्प का निगलकर उगला हुआ भक्ष्य विष है। संयोगिनी कहती है कि चन्दन वृक्षों—के पर्वत के संयोग से उसके गुण ग्रहण किये हुए यह शीतल तथा सुगन्धित पवन है।

अलंकार—उल्लेख तथा वृत्यनुप्रास।

(२६५) सुकवि किसी ऋतु के दिनों का, किसी की रात्रि का तथा किसी की सन्ध्या का सरस वर्णन करते हैं, किन्तु वसन्त अपने दोनों दिन तथा रात्रि को, दोनों शुक्ल तथा कृष्ण पक्षों को, दोनों मास को शुद्ध करता हुआ समान अवस्था में चलता रहता है। अर्थात् सब कालों में सुखद है।

अलंकार—व्यतिरेक।

(२६६) वसन्त में पति श्रीकृष्ण तथा कान्ता रुक्मिणी परस्पर एक दूसरे के गुणों के वशीभूत हो रहे हैं। कान्ता कान्त के गुणों के तथा कान्त कान्ता के गुणों के वशीभूत है। उन्हें वसन्त की रात्रि तथा दिन, निमेष तथा पल सब समान भाव से सुखदायी हैं और वे एक दूसरे को अपने प्रेम का अन्त नहीं देते, अर्थात् दोनों में से एक भी प्रेम का अन्त नहीं होने देता।

अलंकार—अन्योन्य।

टि०—ढूँढ़ाड़ी टीका ने इसका अर्थ निम्न प्रकार से किया है :—"निमिष पल वसन्त रै विषै रात्रि अर दिन सरीषा निरवहै छै। एकै थै एक कहुँ वात जणावै नहीं छै।" आदि।

(२६७) उनके पुष्पों से सजे महल हैं, पुष्पों के ही आभूषण हैं, पुष्पों के ही ओढ़ने और बिछाने के वस्त्र हैं। वे प्रसन्नता-पूवक पुष्पों के हिंडोले में झूलते हैं और उनकी सभी सखियाँ भी पुष्पों पर आश्रित हैं।

अलंकार—उदात्त।

टि०—अन्तिम पंक्ति का भावार्थ हि० ए० संस्करण में इस प्रकार दिया गया है :—"अर्थात् उनकी जीविका पुष्पों के आभूषण गूँथने और सजाने पर निर्भर है।" किन्तु संस्कृत टीकाकार के अनुसार इसका तात्पर्य यह होना चाहिये कि "कामीजनों को किसी न किसी विधि से पुष्पों का बाहुल्य ही प्रिय है।"

(२६८) कामदेव के सदृश रुक्मिणी-पति श्रीकृष्ण वसन्त ऋतु का इस प्रकार भोग करते हैं कि उन्हें रात्रि में गानवाद्यादि का नाद सुलाता है, प्रातः काल वेदपाठ उन्हें जगाता है और वे रात-दिन, वन-वाटिका, उद्यानादि में विहार करते हैं।

टि०—हि० ए० संस्करण के सम्पादकों ने 'नाद' का अर्थ अनाहत नाद, 'वेद' के लिए स्वयं वेद भगवान् तथा 'वाग' के लिए वाणी-सरस्वती का प्रयोग किया है। उनका तर्क है कि—"जहाँ भगवान् को नाद पौढ़ाड़ै और वेद परबोधै वहाँ वाग-सरस्वती देवी का नित्य विलास होता है। सरस्वती देवी भी भगवान् का गुणानुवाद करने को रात-दिन मौजूद रहती है।"—किन्तु प्रत्येक बात को अनावश्यक रूप से नये अर्थों में प्रयोग न करके यदि सरल अर्थ को ही सप्रसंग तथा उपयुक्त समझा जाय तो हानि नहीं। संस्कृत टीकाकार ने उक्त सरल अर्थ लेते हुए भोग की सामग्री का निम्न श्लोक दिया है :—

सुगन्धं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजने।
सुख शैयामलस्नानमष्टौ भोगाः प्रकीर्तिताः॥

(२६९) उस अवसर पर रुक्मिणी के मन में प्रीति का प्रसार हुआ और उन्होंने हाव-भावों से कृष्ण के मन को मोह लिया। अनंग ने रुक्मिणीजी के उदर में आकर निवास किया जिसके फलस्वरूप महादेवजी के क्रोध से छिन्न-भिन्न उसके समस्त अंग उसे पुनः प्राप्त हो गये।

टि०—'प्रीति पसरि मन अवसरि' का अर्थ यह भी किया जा सकता है कि 'परस्पर श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी के मन में प्रीति का विकास हुआ।'

(२७०) पिता वसुदेव के वासुदेव पुत्र हुए, तथा जगत्पति श्रीकृष्ण पिता के प्रद्युम्न पुत्र हुए। सास देवकी की पुत्रवधू लक्ष्मीजी हुई। तथा सास रुक्मिणी की पुत्रवधू रति हुई।

(२७१) लीलामय भगवान् ने मनुष्यलीला ग्रहण की। संसार को बसाने-वाले प्रभु ही जग में बसने लगे। जगत्पति श्रीकृष्ण पितामह बने, प्रद्युम्न पिता हुए तथा उषा-पति अनिरुद्ध पौत्र बने।

(२७२) जिस निर्गुण, निर्लेप नारायण श्रीकृष्णजी का गुणगान करते हुए शेषनाग भी थक गया, उसी कृष्ण का क्या वर्णन किया जाय या मैं क्या कह सकता हूँ। किन्तु, सखियों सहित रुक्मिणी, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के नाम संक्षेप से कहता हूँ।

टि०—संस्कृत टीकाकार ने 'सहचरिये' का अर्थ 'सहचरीभिः स्वस्व-पत्नीभिः'—किया है। जो उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

(२७३) रुक्मिणी के नाम गिनाये गये हैं। अर्थ सरल है।

(२७४) प्रद्युम्न के नाम दिये गये हैं। अर्थ सरल है।

(२७५) अनिरुद्ध के नाम दिये गये गये हैं। अर्थ सरल है।

(२७६) रुक्मिणी की सहचरियों के नाम हैं। अर्थ सरल है। पुराणों में इनका उल्लेख नहीं है।

(२७७) संसार के सुन्दर अथवा श्रेष्ठ प्रभु ने गृहस्थ धारण करते हुए अथवा लोकसंग्रह करते हुए मदिरा, क्रोध, हिंसा, निन्दा, इन चारों के साथ गाली को भी चाण्डाल अर्थात् अग्राह्य मानकर छोड़ दिया।

टि०—संस्कृत टीकाकार ने 'गृहसंग्रह' का अर्थ 'द्वारकां कुर्वता रचितवता' किया है। उससे वह सौन्दर्य उपस्थित नहीं होता जो उक्त अर्थ से होता है। हि० ए० सं० में उक्त अर्थ ही स्वीकार किया गया है।

अलंकार—रूपक।

(२७८) हे प्राणी, यदि हरिभक्ति, हरिणाक्षी के प्रेम को समझने, रण-क्षेत्र में आक्रमण करके खल शत्रुओं को तलवार से काटने, और अन्यजनों की सभा में बैठकर बोलने की कामना है तो वेलि का पाठ कर।

टि०—'चात्रण' का अर्थ टीकाकारों ने 'खण्ड करना' बताया है। हि० ए० सं० में उसे 'अग्निमन्थन-यन्त्र' कहकर शब्दार्थ के साथ यह अर्थ किया गया

है :—"जिस प्रकार चात्र-यन्त्र से अग्नि मथी जाती है, उसी प्रकार शत्रुदल का मन्थन करना।"

(२७९) इस युक्तिपूर्वक जो व्यक्ति वेलि का पाठ करते हैं उनके कण्ठ में सरस्वती, घर में लक्ष्मी, तथा मुख में शोभा विराजने लगती है। भविष्य में मुक्ति तथा भोग प्राप्त होते हैं। हृदय में ज्ञान तथा आत्मा में हरिभक्ति प्रकट होती है।

(२८०) छः मास तक पृथ्वी पर शयन करके, प्रातःकाल स्नान करके, स्वयं शुद्ध रहकर, जितेन्द्रिय रहते हुए वेलि का नित्य पाठ करनेवाले वर को वांछित पत्नी तथा स्त्री को वांछित वर की प्राप्ति होती है।

टि०—इस दोहले से कवि के वैष्णव-विश्वास का पता लगता है।

(२८१) वेलि का पाठ करने के फलस्वरूप कन्या वर को, परिणीता स्त्री पुत्र तथा पति के सुहाग को प्राप्त करती है। इसका पाठ करनेवाले पति-पत्नी में श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी जैसा ही पारस्परिक प्रेम रात-दिन उत्पन्न होता है।

अलंकार—अन्योन्य तथा दीपक।

(२८२) रुक्मिणी तथा हरि की इस वेलि का पाठ करते हुए व्यक्ति के परिवार में पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, गज, अश्व तथा रथादि—साहण—साधनों का भाण्डार अथवा साधन तथा भाण्डार इस प्रकार भर जाते हैं जैसे संसार के तल अर्थात् पृथ्वी पर बेल बढ़ती है।

अलंकार—उपमा।

(२८३) विमल मंगलाचार को एक ही घर में एकत्र देखकर एक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से कहता है कि संसार में इसने कौन-से शुभ आचरण करके यह फल प्राप्त किया है। ज्ञात होता है कि इसने वेलि का पाठ किया है।

टि०—ढूंढ़ाड़ी टीका के अनुसार किसी की समृद्धि को देखकर एक व्यक्ति पहले यह पूछता कि उसने कौनसा शुभ कर्म किया है तब अन्य व्यक्ति उत्तर देता है। इस प्रसंग के स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

(२८४) शरीर का उपचार करने के लिए वेदोक्त चार प्रकार की शस्त्र, औषधि, तन्त्र तथा मन्त्र की जो चिकित्सा बताई गई हैं वे वेलि-पाठ मात्र से ही हो जाती हैं।

(२८५) जो व्यक्ति नित्य वेलि का पाठ करता है उसे आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा वात, पित्त एवं कफ ये शरीरताप तथा विकारों-युक्त रोग नहीं होते। अर्थात् वह व्यक्ति भगवत्कृपा से सदा नीरोग रहता है।

(२८६) शुद्ध मन से रुक्मिणी-मंगल वेलि का जाप करने से नित्य ही कोष में धन तथा कुशल मंगल रहता है। दुःखद दिन, खोटे ग्रह, दुःसह दुर्दशा, दुःस्वप्न तथा अपशकुन नष्ट होते हैं।

अलंकार—अनुप्रास।

(२८७) वेलि के पाठ करने से जल, थल अथवा आकाश कहीं भी मणि, मन्त्र, तन्त्र तथा यन्त्र आदि के सहारे किया गया कोई अमंगल नही छल सकता अर्थात् कोई अनिष्ट कहीं नहीं होता। डाकिनी, शाकिनी, भूत, प्रेतादि के द्वारा किये गये उपद्रव भी भयाकुल होकर भाग जाते हैं।

(२८८) मुक्ति प्राप्त करने के लिए संन्यासी, योगी तथा तपस्वी हठयोग, साधन तथा इन्द्रिय-निग्रह करते हैं किन्तु उनके ऐसे हठ तथा निग्रह करने से क्या लाभ अथवा उनकी क्या आवश्यकता, जबकि वेलि पढ़ने से ही व्यक्ति भवसागर से पार हो गये हैं। निश्चय ही वेलि के पाठक मुक्त हो गये हैं। इसमें सन्देह नहीं है।

अलंकार—प्रतीप।

(२८९) हे कृपण मन, क्यों कलपता—दुःख उठाता—है। योग, यज्ञ, जप, तप से क्या लाभ ? तीर्थ से क्या ? व्रत करने, दान देने, अथवा वर्णाश्रम धर्म पालन करने से भी क्या लाभ ? अर्थात् उनके द्वारा होनेवाला लाभ भी वेलि के पाठ के द्वारा होनेवाले लाभ के सम्मुख नगण्य है। अतएव मुख से रुक्मिणी मंगल कह, उसका पाठ कर। उसी से मुक्ति होगी।

अलंकार—प्रतीप।

टि०—संस्कृत टीका के अनुसार अन्तिम पंक्ति का अर्थ—"कृपण से क्यों माँगता है"—होगा।

(२९०) हे भागीरथी ! तू गर्व न कर, क्योंकि तू विष्णु तथा शिव दोनों का आश्रय लेती है, तैरना न जाननेवाले को डुबा देती है तथा एक

देशीय होकर बहनेवाली है, अन्यत्र नहीं बहती। वेलि से भला गंगा की समानता ही क्या? अर्थात् वेलि गंगा से श्रेष्ठ है।

अलंकार—प्रतीप।

टि०—'दो का आश्रय लेनेवाली' कहकर यह व्यंग किया है कि गंगा पतिव्रता नहीं है। 'तैरना न जाननेवाले को डुबा देती है' के द्वारा यह कहा गया है कि वेलि भवसागर से पार करती है, डुबाती नहीं। 'एक-देशीय' कहने का तात्पर्य यह है कि गंगा संकुचित क्षेत्रवाली है, वेलि का क्षेत्र विस्तृत है। ढूँढ़ाड़ी टीकाकार ने इसे गंगा की निन्दा समझकर टीका न करते हुए कहा है :—"गंगाजी की निन्दा करी छै ता के लियाँ या दुवाला कौ अर्थ में नहीं लिख्यौ छै।"

(२९१) इस वेलि का बीज भागवत है जो पृथ्वीदास अथवा भक्त पृथ्वीराज के मुख-रूपी-पृथ्वी के थाँवले में बोया गया है। अर्थात् जिस प्रकार बीज ही आगे लता का रूप धारण करता है उसे पृथ्वी में बोकर थाँवला बाँधकर उसकी रक्षा की जाती है उसी प्रकार इस वेलि ग्रंथ को लता के समान समझना चाहिये। इसका बीज भागवत है जहाँ से कथा ली गई है। पृथ्वीराज कवि का मुखरूपी थाँवला ही वह स्थल है जहाँ यह अंकुरित हो गया है। इसकी मूलपाठ तथा ताल-रूपी-जड़ें हैं तथा अर्थरूपी दृढ़ मण्डप पर सुखद छाया करने के हेतु ही यह फैली है।

अलंकार—रूपक।

टि०—(१) अन्तिम पंक्ति का अर्थ संस्कृत टीकाकार ने 'करणि' शब्द को 'कर्ण' मानकर यह किया है :—"सुस्थिरे कर्णरूपे मण्डपे चटिता छायारूपं श्रुतिसुखम्।" (२) 'मूल, ताल, जड़, अरथ' का अर्थ भी इस प्रकार किया गया है :—"गान समये तालो मूलरूपो। अर्थाः जटाः पृथग्भूताः।" इस अर्थ के अनुसार 'अर्थरूपी दृढ़ मण्डप' अर्थ के स्थान पर 'कर्णरूपी मण्डप' मानना होगा।

(२९२) इस वेलि-रूपी-लता में अक्षर समूह-रूपी-पत्ते हैं। दोहलों में वर्णन किया गया यश-रूपी-परिमल है। इसके नव-रस-रूपी तन्तुओं की अहोरात्रि बृद्धि होती रहती है। रसज्ञ ही इसके मधुकर हैं। भक्ति ही मौर है। सांसारिक सुख साधन-रूपी फूल हैं और मुक्ति ही फल है।

अलंकार—रूपक।

टि०—अन्तिम पंक्ति का जो अर्थ हमने दिया है वह ज्यों का त्यों हि० ए० संस्करण से लिया गया है। किन्तु इस अर्थ के द्वारा 'मिसि' शब्द का कोई अर्थ नहीं बैठता तथा क्रम भी भंग होता दीखता है। संस्कृत टीकाकार ने इसका अर्थ यह माना है :—"मुक्ति-प्राप्ति ही फूल है तथा वैकुण्ठ में अनन्त सुखानुभव ही फल है।" हमारे विचार से इस पाठ को स्वीकार करना अधिक उचित है। और यदि निम्न अर्थ भी स्वीकार कर लिया जाय तो कोई हानि नहीं प्रतीत होती। मैं इसका अर्थ यह करना चाहूँगा :—"कृष्ण की सांसारिक भुक्ति वर्णन के बहाने मुक्ति-रूपी-फल-फूल की प्राप्ति होती है अर्थात् मुक्ति ही इसका परिणाम है।" इसके अतिरिक्त यदि 'भुगति' के स्थान में 'भगति'—भक्ति—पाठ स्वीकार कर लिया जाय तब भी भक्ति के बहाने मुक्ति-रूपी-परिणाम की प्राप्तिवाली बात उचित प्रकार से समझी जा सकती है।

(२९३) कलियुग में कल्पलता, कामधेनु, चिन्तामणि तथा सोमलता जैसे चारों अलभ्य पदार्थ पृथ्वीराज के मुखकमल में एकत्र अक्षरावलि के बहाने एक साथ ही पृथ्वी में प्रकट हुए हैं। अर्थात् वेलि का माहात्म्य ऐसा है कि अलभ्य और असंभव वस्तुएँ भी प्राप्त हो जाती हैं।

अलंकार—कै० अपह्नुति।

(२९४) पृथ्वीराज रचित वेलि क्या है, पाँच प्रकार के शास्त्र, वेद तथा अखण्ड कार्य-सिद्धि आदि की प्रसिद्ध प्रणाली है, साधन-मार्ग है। यह पृथ्वी से स्वर्ग ले जाने की सीढ़ी है। मुक्ति-प्राप्ति की सुशोभित या बनी हुई नसैनी है।

अलंकार—रूपक।

टि०—एक टीका में इसका अर्थ यह किया गया है :—"अेह किस्यूं वेलि छइ किना पंचविध क° पाँच प्रकार ना आगम शास्त्र नउ रस निरगम क° नीकलवा वहिवा भणी प्रसिद्ध क° प्रगट अखिल क° अखण्ड परनाळी क° प्रणालि छइ जेह कारणइ रसादि परनालियइ वही चालइ।"

(२९५) एक से एक बढ़कर अनुपम मोतियों को खरीदने के लिए चलनी अथवा सूप लेकर यह नहीं खोजा जाता कि किसे लेना चाहिये अथवा किसे

नहीं। मेरे मुख से कहे हुए वचनों-रूपी-मोती-कणों के विषय में निश्चय ही सुकवि अथवा कुकवि-रूपी-चलनी अथवा सूप द्वारा यहाँ निश्चय नहीं किया जा सकता कि किसे ग्रहण किया जाय, किसे नहीं। अर्थात् यहाँ एक से एक बढ़कर वचन एकत्र हैं वह मुक्ताकणों के समान अनुपम तथा सर्वथा ग्राह्य हैं।

अलंकार—दृष्टान्त तथा क्रम।

टि०—संस्कृत टीकाकार ने इसका अर्थ इस प्रकार दिया है :—"मोतियों के व्यापार में एक से एक अनुपम मोती देखकर एक मोती भी छोड़ देने में कौन समर्थ है। जिस प्रकार उन्हें सभी ग्रहण करते हैं उसी प्रकार यह सच है कि मेरे वचन-कणों को शोधन करने में केवल मेरा मुख ही समर्थ है अथवा मैंने जो कुछ कहा है वह न्याय्य ही है।"

(२९६) पृथ्वी पर वेलि रूपी मेरी यह कविता अपने शरीर पर नख से शिख तक आभूषण—अलंकार—पहने है। यह वास्तविक नारी के समान ही जगत् के गले से लिपटी रहती है। तथा जिस प्रकार सती स्त्री दोष सहन नहीं करती वैसे ही इसमें भी दोष नहीं है।

अलंकार—उपमा।

(२९७) मेरी कविता का यही मर्म है कि काव्य-रचना करते हुए डिंगल, ब्रज आदि भाषा, संस्कृत तथा प्राकृत आदि उसके लिए उसी प्रकार साधन मात्र हैं जैसे आनन्ददात्री सुन्दरी के साथ रमण करते हुए शैया के ऊपर अथवा भूमि सभी साधन एक ही समान हैं। अर्थात् रमण करने में वास्तविक महत्व रमण का है, न कि शैया आदि का। व्यक्ति कहीं भी रमण कर रहा हो इसका कोई अन्तर नहीं पड़ता, केवल रमण होना चाहिये।

अलंकार—उदाहरण।

टि०—कवि ने भाव को प्रधानता देते हुए अपने को रस-मार्गी सिद्ध किया है। तुलना के लिए देखिये—१, "यवनी नवनीत कोमलांगी शयनीये यदि नीयते कदाचित् अवनीतलमपि साधुमन्ये"—पण्डितराज। २, "भाव अनूठो चाहिये, भाषा कोऊ होय।" ३, "वाणी मेरी चाहिये तुम्हें क्या अलंकार। तुम वहन कर सको जनमन में मेरे विचारा"—सुमित्रानन्दन पन्त।

(२९८) हे रसिक जन! यदि वेलि-गत रस की कामना है तो मेरा कहना करो। सब व्यक्ति यदि इतने पूरे अर्थात् इतने ज्ञानवान् होंगे—जितना आगे के दोहले में बताया है—तो वेलि का पूरा अर्थ प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा इतने से कम होने पर अधूरा अर्थ प्राप्त होगा। अथवा—आगे बताये गये—यदि सब व्यक्ति एकत्र होंगे तो वेलि का पूरा अर्थ का ज्ञान होगा और इनसे जितने कम होंगे उतना ही कम अर्थ का ज्ञान होगा। तात्पर्य यह कि विद्वान् ही इसका अर्थ—गाम्भीर्य थाह सकेंगे।

(२९९) ज्योतिषी, वैद्य, पौराणिक, योगी, संगीतज्ञ, तार्किक, चारण, भाट, सुकवि जो भाषा-चित्र बनाने अथवा भाषा में शब्द, रस भावादि का चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हों, उन सबको एकत्र किया जाय तो वेलि का पूरा अथवा ठीक अर्थ कहा जा सकता है।

(३००) गुरुजनों अथवा महापुरुषों के मुख से ग्रहण करके, उनके मुख से निःसृत वचनों का मनन करके मैंने वेलि में उन्हें उगल दिया है। मेरे अक्षरों का यही रहस्य है। संसार में सज्जन इसे गुरुजन विद्वानों आदि महापुरुषों का प्रसाद कहेंगे, किन्तु अधम व्यक्ति अपने समान इसे जूठा—जूठन—कहेंगे।

अलंकार—उल्लेख।

(३०१) मेरी पण्डितों से विनम्र प्राथना है कि भगवान् के यशगान के रस के कारण साहस करके चले या निकले हुए मेरे सदोष वचन आपके श्रवण-रूपी-तीर्थ तक आये हैं, अतएव उन्हें आप मुक्त करें, मोक्ष दें।

अलंकार—समासोक्ति तथा रूपक।

टि० (१) तीर्थ पर आ जाने से अथवा हरिभक्ति करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, अतएव कवि की कामना है कि यदि कोई काव्य-दोष वेलि में हो भी तो पण्डितजन उसे शुद्ध कर लें, उसे दोषमुक्त कर दें। साथ ही उसे विश्वास है कि हरिभक्ति के कारण उसकी वेलि सज्जनों द्वारा सदोष होने पर भी ऐसे ही ग्रहण कर ली जायगी, जैसे हरिभक्ति के कारण पापी भी तर जाते हैं। कहा भी है :—

"हरिर्हरति पपानि दुष्टचित्तेरपि स्मृतः। अनिच्छयाऽपि लोकानां स्पृष्टो दहति

पावक : ॥" (२) 'मोख' का अर्थ एक टीका में 'अंगीकार' करना भी बताया गया है :—'अे माहरी वीनती कथन मोख क° अवधारउ अंगीकार करउ ।'

(३०२) रुक्मिणीजी की सहचरी सरस्वती ने जैसा मुझसे कहा, मैंने वैसा ही कहा है, अतएव रमण करते हुए जगत्-स्वामी श्रीकृष्ण की एकान्त कामकेलि के वर्णन में कोई भी झूठा कथन नहीं है।

(३०३) हे केशव ! आपके तथा आपकी प्रिया रुक्मिणी के लीला-कर्मों का वर्णन कौन कर सकता है। इस वेलि में जो कुछ अच्छा अंश है वह सरस्वती की कृपा के कारण है तथा जो कुछ भौड़ा या भद्दा है वह सब मेरी ही बुद्धि का भ्रम या प्रमाद है।—अतएव तुम्हें धन्यवाद है।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति ।

(३०४) रुक्मिणीजी के सौन्दर्य, शुभलक्षण तथा गुणों का वर्णन करने में कौन समर्थ है। उनका पूर्ण वर्णन कोई नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण की महिषी रुक्मिणी के जितने गुणों को मैं जानता था उनका ही वर्णन मैंने किया है।

(३०५) पर्वत—७, गुण—३, वेदांग—६, तथा शशि—१, वाले संवत् वर्ष में मैंने श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणीजी का यशगान किया—जिसके फलस्वरूप यह वेलि प्रस्तुत की। इसे सदा सुनने तथा कण्ठस्थ करनेवाले व्यक्ति अपार लक्ष्मी—धनसम्पत्ति—तथा अतुल भक्ति-रूपी-फल प्राप्त करते हैं।

टि० (१) नियमानुसार संख्या क्रम को उलट देने से वेलि का रचनाकाल इस दोहले के अनुसार संवत् १६३७ हुआ। (२) लेखक ने ग्रंथांत में स्वामी तथा स्वामिनी का नाम लिया है। यह प्रथा का अनुसरण है।

——:००:——